संस्करण वाराणसी, १९७४

मूल्य : रु० २०.००

परम मानववादी

पितृकल्प

श्रद्धेय देवेन्द्र प्रसाद सिंह

कुलपति, भागलपुर विश्वविद्यालय

को

सादर, सभक्ति

—रामचन्द्र

निवेदन

प्रस्तुत ग्रंथ भगवान श्री रजनीश की नव्यतम कृति है। इसमें महावीर वाणी के नए-नए अर्थों का पाण्डित्यमंडित विश्लेषण हुआ है और पुरातनपंथी टीकाकारों की तद्विषयक भ्रांत धारणाएँ ध्वस्त कर दी गई हैं।

इसमें पूर्ववर्ती टीकाओं की भाव-क्षीणता की जगह मंत्रपूत व्याख्या और नव्यता एवं मौलिकता का चमत्कार है।

भगवान् श्री रजनीश की व्याख्याशैली जितनी ही सरल एवं अकृत्रिम है, उतनी ही उदात्त एवं हृदयहारिणी भी। इसमें यत्रतत्र उपनिबद्ध बोधकथाएँ विषय को अत्यधिक स्पष्ट और रोचक बनाने में समर्थ हुई हैं।

भगवान्श्री सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थों के भी प्रकाशक हैं—"तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।" विश्वेतिहास में पहली बार उनके द्वारा महावीरवाणी को वह अर्थ-गौरव मिला है जो स्वयं भगवान् श्री महावीर का अर्थ था। अपने योगबल से तथा जन्म-जन्मांतर की तपस्या-साधना के पुण्यप्रताप से भगवान श्री रजनीश ने महावीर के स्वरूप में झाँककर उनके मंतव्यों को प्रकट किया है और महावीरमय होकर महावीर की व्याख्या प्रस्तुत की है।

अंत में इतना ही कहना अलम् होगा कि इस कृति के दो आयाम हैं—जहाँ एक ओर तो यह भगवान श्री महावीर का परिचय देती है, ऐसा परिचय जो सूक्ष्मता, रोचकता और वैदुष्य के त्रिविध तत्त्वों से उपेत है वहीं दूसरी ओर यह भगवान श्री रजनीश के रजनीशत्व पर भी प्रचुर प्रकाश डालती है और उनके दिव्य व्यक्तित्व को शब्दों की परिसीमित रेखाओं में मूर्त करने का असफल प्रयास करती है।

आप इस व्याख्या की रसात्मकता पर मुग्ध हो उठेंगे, रसाभिभूत हो जाएँगे।

मुझे विश्वास है कि यह कृति रजनीश-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में परिगणित होगी और शास्त्रीय बुद्धिवालों को झकझोर देगी। "ये बातें शास्त्रों में हों या न हों, स्वयं में खोजनेवाले इन्हें अवश्य पा लेंगे और स्वयं से बड़ा न कोई शास्त्र है और न कोई दूसरी आप्तता।"

मैं स्वामी चैतन्य वेदान्त (राजेन्द्र रजा) का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ के सम्पादन में मेरी यथाशक्य सहायता की है।

स्वामी आनन्द वीतराग

अन्तर्वस्तु

प्रास्ताविक

१

मैं महावीर का अनुयायी नहीं हूँ, प्रेमी हूँ, वैसे ही जैसे क्राइस्ट का, कृष्ण का, बुद्ध का, लाओत्से का और मेरी दृष्टि में अनुयायी कभी भी उसे समझ नहीं पाता जिसका वह अनुगमन करता है।

दुनिया में दो ही तरह के लोग हैं। साधारणतया या तो वे अनुयायी होते हैं या विरोधी। न तो अनुयायी समझ पाता है और न विरोधी। अनुयायी उससे बँध जाता है जिसका वह अनुसरण करता है और विरोधी उससे जिसका वह विरोध करता है। केवल प्रेमी नहीं बँधता। वह प्रेम जो बाँधता है प्रेम नहीं होता। महावीर से प्रेम करने में महावीर से बँधना नहीं होता। उनसे प्रेम करते हुए ही बुद्ध, कृष्ण और क्राइस्ट से प्रेम किया जा सकता है। महावीर में जो चीज प्रकट हुई और जिससे हम प्रेम करते हैं वह हजार हजार लोगों में भी उसी तरह प्रकट हुई है। सच पूछिए तो हम महावीर से भी प्रेम नहीं करते। वह जो शरीर है वर्धमान का वह जो जन्मतिथि में बँधा हुआ शरीर है उनका, वह तो इतिहास की एक रेखा मात्र है। एक दिन पैदा होना और एक दिन मर जाना! प्रेम करते हैं हम उस ज्योति से जो उस मिट्टी के दीए में प्रकट हुई थी। जो ज्योति से प्रेम करेगा वह दीए में नहीं बँधेगा और जो दीए में बँधेगा, उसे ज्योति के महत्त्व का भान न होगा। निश्चित है कि जो दीए से बँध रहा है उसे ज्योति का पता नहीं। जिसे ज्योति का पता चल जाय उसे क्या दीए की याद भी रहेगी? उसे दीया फिर दिखाई भी पड़ेगा?

इसी संदर्भ में एक और बात कह देना चाहता हूँ। मैंने महावीर को ही चर्चा के लिए क्या चुना? यह तो बहाना है सिर्फ। वे तो बस ही हैं जैसे कोई खूँटी होती है। कपड़ा टाँगना प्रयोजन है मेरा। कोई भी खूँटी काम दे सकती है। महावीर भी काम दे सकते हैं ज्योति के स्मरण में, बुद्ध भी कृष्ण भी क्राइस्ट भी। किसी भी खूँटी से काम लिया जा सकता है। स्मरण प्रेम मांगता है, अनुसरण नहीं। और मैं कहता हूँ यह स्मरण महावीर का स्मरण नहीं है। स्मरण है उस तत्त्व का जो महावीर में प्रकट हुआ। इस तत्त्व का स्मरण तत्काल आत्मस्मरण बन जाता है। महावीर में प्रकट हुई ज्योति की यही सार्थकता है कि वह आत्मस्मरण की ओर ले जाय। लेकिन महावीर की पूजा से यह संभव नहीं। पूजा से आत्मस्मरण नहीं आता। पूजा आत्मविस्मरण का उपाय है। अनुयायी सदा आदि भी महावीर, बुद्ध, कृष्ण की खूँटियों का उपयोग कर रहे हैं आत्मविस्मरण के लिए। पूजा, प्रार्थना, अर्चना—

सब विस्मरण है। स्मरण का अर्थ है महावीर मे उस दिव्य नाद की खोजना जो उनमे अभिव्यक्त हुआ था, मनुष्य की सम्भावनाओं के प्रति सजग हो उठना और इस बात की प्रतीति करना कि जो एक मनुष्य मे सम्भव है, वह फिर मेरी भी सम्भावना बन सकती है। स्मरण करनेवाले पूजा मे न जाकर एक अन्तर्वेदना मे, 'इनर सफरिंग' मे उतर आते है। वे उस बुझे हुए दीए के समान होते हैं जो एक जलते हुए, ज्योतिर्मय दीए को देखकर व्यथित हो उठता है और सोचता है कि मै व्यर्थ हूँ, मै नाममात्र का दीया हूँ, क्योकि मुझमे वह ज्योति कहाँ, वह प्रकाश कहाँ ? मै सिर्फ अवसर हूँ जिसमे ज्योति प्रकट हो सकती है, लेकिन अभी हुई नही है। लेकिन बुझे हुए दीयो के बीच बुझा हुआ दीया रखा रहे तो उसे अपनी दशा का ख्याल भी नही आता, पता भी नही चलता। तो करोड बुझे हुए दीयो के बीच मे भी जो स्मरण नही आ सकता वह एक जले हुए दीए के निकट आ सकता है। महावीर या बुद्ध या कृष्ण का मेरे लिए इससे ज्यादा कोई प्रयोजन नही कि वे जले हुए दीए हैं। उनका खयाल, उनके जलते हुए दीए की लपट एक बार भी हमारी आँखो मे पहुँच जाय तो हम फिर वही आदमी नही रह सकते जो कल थे। हमारी सम्भावनाओ के नए गवाक्ष खुल जाते है, ऐसे अनेक द्वार खुल जाते है जिनका हमे पता तक न था। और तब उसकी प्यास भी जग जाती है जो हम हो सकते हैं। यह प्यास जग जाय तो कोई भी बहाना बनता हो, इससे कोई प्रयोजन नही।

तो मै महावीर को भी, क्राइस्ट को भी बहाना बनाऊँगा, कृष्ण, बुद्ध और लाओत्से को भी। फिर हममे तरह-तरह के लोग है, और कई बार ऐसा होता है कि जिसे लाओत्से मे ज्योति दिख सकती है, उसे बुद्ध मे न दिखे, और यह भी हो सकता है कि जिसे महावीर मे ज्योति दिख सकती है, उसे लाओत्से मे न दिखे। एक बार अपनी ही ज्योति दिख जाय तो लाओत्से और बुद्ध मे ही नही, साधारण-से-साधारण मनुष्यो मे भी वह ज्योति दिखने लगती है। पशु-पक्षी ही नही, पत्थर भी ज्योतिर्मय हो जाते है। लेकिन, जब तक स्वय मे यह ज्योति नही दिखती तब तक जरूरी नही कि सभी लोगो को महावीर मे ज्योति दिखे। इसके कारण है। व्यक्ति-व्यक्ति के देखने के ढग मे भेद है, व्यक्ति-व्यक्ति की ग्राहकता मे भेद है और व्यक्ति-व्यक्ति के रुझान और रुचि मे भेद है। जरूरी नही कि एक सुन्दर युवती सभी को सुन्दर मालूम पडे। मजनू की आँखो ने लैला के सौन्दर्य को जन्म दिया था—यानी लैला होने के लिए मजनू की आँखे चाहिए। एक-एक व्यक्ति मे बुनियादी भेद है। इसलिए दुनिया मे इतने तीर्थंकर, इतने अवतार, इतने गुरु हुए है। हो सकता है बुद्ध और महावीर जैसे व्यक्ति एक ही जगह मे एक ही दिन ठहरे और गुजरे हो, एक ही प्रदेश मे वर्ष-वर्ष घूमे हो। फिर भी, गाँव मे किसी ने बुद्ध को देखा हो, किसी ने महावीर को और किसी ने इनमे किसी को भी नही।

मेरे पास देखन की एक विशिष्ट दृष्टि है।

हो सकता है कि किसी को महावीर म कुछ भी दिखाई न पडे। महावीर म जो है उसे देखने के लिए विशिष्ट आख चाहिए। हा, पृथ्वी पर भिन्न भिन्न तरह के लोग हैं। इनकी जातियाँ बताना भी मुश्किल है। लेकिन एक बार दिख जाय साम्य तो सभी भिन्नताएँ खो जाती ह। सभी भिन्नताए दीए की भिन्नताएँ है—ज्योति की भिन्नता नही। दीए का अनुभव आकार का अनुभव है किन्तु ज्योतिमय का अनुभव आकार का अनुभव नहा। दीया जड है, पदाथ है—ठहरा हुआ, रुका हुआ, ज्योति चेतन है सत्य है—जीवन्त, भागती हुई। दीया रखा हुआ है ज्योति जा रही है भाग रही है ऊपर की ओर। ज्योति है ऊर्ध्वगमन का प्रतीक निराकार की अनुभूति। कितनी जल्दी ज्योति का आकार खो जाता है? पहचान भी नही पात कि उसका आकार खो जाता है। वह मिलन है आकार निराकार का। अभी थी, अब नही है। प्रतिपल आकार निराकार म खोता जा रहा है। आकार क पार निराकार म जो सक्रमण हो रहा है वही ज्योति है।

जात म दीया को पहचाननेवाले लोग ज्योतियो के सम्बन्ध म झगडा करते रहते ह दीया को पकडनेवाले ज्योतियो के नाम पर पथ और सम्प्रदाय बना लेते हैं। वे भूल जाते है कि दीया एक अवसर था ज्योति के घटने का और ज्योति का जो आकार लिया था वह भी सिफ एक अवसर था ज्योति के निराकार म खोने का। वधमान तो दीया है महावीर ज्योति, सिद्धाथ दीया है, बुद्ध ज्योति जीजस दीया है, क्राइस्ट ज्योति। लेकिन हम दीए को पकड लेत ह और महावीर के सम्बन्ध म सोचते-सोचत वधमान के सम्बन्ध म सोचन लगत है। वधमान को पकडनवाले लोग महावीर को पकड नही पात। सिद्धाथ को पकडनेवाले भिक्षु बुद्ध स और मरियम के बेटे जीजस को पहचाननेवाले पुजारी परमात्मा के बेटे क्राइस्ट स अनभिज्ञ रह जात हैं। हम सब दीया म ही लवलीन रहते हैं। हम दीया हैं सही पर ज्योति भी हो सकत हैं। ज्योति की चिन्ता करनी चाहिए, दीय की नहा। महावीर का निमित्त बनाकर ज्योति पर विचार करना होगा। जिन्ह महावीर की ओर से ज्योति पहचान म आ सकती है, अच्छा है वहा से पहचान में आ जाय। जिन्हें नही आ सकती, उनके लिए किसी और का निमित्त बनाया जा सकता है। सब निमित्त काम म आ सकत हैं।

बहुत विशिष्ट ह महावीर इसलिए सोचना बहुत जरूरी है उन पर, लेकिन वे विशिष्ट हैं किसी दूसरे की तुलना म नही। हम अविशिष्ट हैं साधारण लोग है। साधारण इस अथ म कि हम दीया हैं और हमारा साधारण असाधारण का अवसर है मौका है बीज है। विशिष्ट और असाधारण वह है जो ज्योति बन गया और गया वहाँ, उस पार की ओर जहाँ शाति है आनन्द ह जहाँ खोज का अत है, उपलब्धि है। महावीर किसी की तुलना म विशिष्ट नहा—किसी म विशिष्ट नही। मेरा

विशिष्ट असाधारण का पर्याय है। हम सब साधारण हैं, पर हम सब असाधारण हो सकते हैं। जब तक हम साधारण हैं, तब तक साधारण-असाधारण के बीच खड़ा किया गया हमारा भेद नासमझी का भेद है। साधारण बस साधारण ही है। वह चपरासी है कि राष्ट्रपति, इसमे कोई फर्क नही पड़ता। दोनो साधारण के ही दो रूप हैं। चपरासी पहली सीढ़ी पर और राष्ट्रपति आखिरी सीढ़ी पर। साधारण की सीढ़ी पर सभी साधारण हैं, चाहे वे किसी भी पायदान पर खड़े क्यो न हों। असाधारण की कोई सीढ़ी नही होती। इसलिए दो असाधारण व्यक्तियो मे कोई नीचे-ऊपर नही होता। लोग पूछते हैं कि बुद्ध ऊँचे कि महावीर, कृष्ण ऊँचे कि क्राइस्ट। वे भूल जाते हैं कि साधारण की सीढ़ी का गणित असाधारण लोगो पर घटित नही होता। फिर भी कई पागलो ने अपनी पुस्तको मे किसी को ऊँचा घोषित किया है, किसी को नीचा। उन्हे पता नही कि ऊँचे और नीचे का खयाल साधारण दुनिया का खयाल है। असाधारण ऊँचा और नीचा नही होता। असल मे जो इस ऊँच-नीच की दुनिया से बाहर चला जाता है, वही असाधारण है। जहाँ तक कोई दीया है, वहीं तक ऊँच-नीच का भेद है पार्थक्य है। ज्योति बड़ी और छोटी होती नही। निराकार मे खो जाने की क्षमता छोटी ज्योति की उतनी ही है जितनी बड़ी-से-बड़ी ज्योति की। और निराकार मे खो जाना ही असाधारण हो जाना है।

जिस प्रकार पृथ्वी मे एक कशिश है, नीचे खीचने का गुरुत्वाकर्षण है, उसी प्रकार परमात्मा मे भी एक कशिश है। वह जो निराकार है और फैला हुआ है ऊपर, वह चीजो को अपनी ओर ऊपर-खीचता है। इसी कशिश का नाम प्रभुप्रसाद या ग्रेस है। उसके लिए छोटी और बडी ज्योति मे कोई अन्तर नही। ज्योति होनी चाहिए। जिस तरह पृथ्वी की कशिश छोटे-बडे का भेद न मानकर बडे पत्थर को छोटे पत्थर के साथ ही गिरने को मजबूर करती है, उसी तरह परमात्मा की कशिश भी छोटी ज्योति को उतनी ही गति से खीचती है जितनी गति से बडी ज्योति को। लेकिन, अनुयायी का मन साधारण दीए का मन होता है। तोलता है, तुलना करता है। इसलिए वह कभी समझ नही पाता, समझ ही नही सकता। समझने के लिए बडा सरल चित्त चाहिए; अनुयायी के पास सरल चित्त नही। वह कुछ थोपता है अपनी तरफ से। विरोधी भी नही समझ पाता, क्योकि उसमे छोटा करने का आग्रह होता है, अपनी ओर से थोपने की जगह कम करने की जिद होती है। इसलिए जिसे समझना हो, उसे प्रेम करना है, और प्रेम सदा बेशर्त होता है। प्रेम यह नही कहता कि तुम मुझे कुछ देना, भवसागर से पार ले चलना, धन-धान्य से परिपूर्ण कर देना। प्रेम का माँग से कोई सम्बन्ध ही नही। इसलिए कोई अनुयायी प्रेम नही कर पाता। और विरोधी किसी और से सौदा कर लेता है, इसलिए वह विरोध मे खडा हो जाता है। वह विरोधी इसलिए हो गया है कि उसे लाभ का आश्वासन नही मिला।

महावीर को समझने के लिए पहली बात तो मैं यह कहना चाहूँगा कि हमारी कोई माँग न हो, सौदा करने की हममे कोई भावना न हो। न हम अनुकरण करें और न अनुयायी बनें। केवल सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखें कि उनमें क्या घटा—पहचानें कि क्या घटा, खोजें की क्या घटा। इसलिए जैन महावीर को समझ नहीं पाते। बौद्ध बुद्ध को नहीं समझते। इनका प्रेम वंशगत नहीं होता। प्रत्येक ज्योति के आसपास अनुयायियों का जो समूह इकट्ठा हो जाता है वह ज्योति को बुझाने में सहयोगी होता है उसे प्रदीप्त रखने में नहीं। महावीर का जैन होने से क्या सम्बन्ध? कुछ भी नहीं। महावीर को इसका पता भी न होगा कि मैं जैन हूँ। क्राइस्ट का पता ही न होगा कि मैं ईसाई हूँ। इसलिए मैं कहता हूँ कि किसी को समझना हो तो उसके पास खाली मन जाओ और याद रखो कि जो जैन नहीं है, बौद्ध नहीं है हिंदू या मुसलमान नहीं है, वह पूर्वाग्रहों से मुक्त रहने के कारण सहानुभूति से देख सकता है। उसकी दृष्टि प्रेमपूर्ण हो सकती है। और बड़े मजे की बात है कि हम जन्म से ही जैन हो जाते हैं, जन्म से ही बौद्ध हो जाते हैं। मतलब यह है कि जन्म से ही हमारे धार्मिक होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। अगर कभी भी मनुष्य को धार्मिक बनाना हो तो जन्म से धर्म का सम्बन्ध बिल्कुल ही तोड़ देना जरूरी है। जन्म से कोई धार्मिक कैसे हो सकता है? जन्म से ही जिसने पकड़ लिया धर्म को वह उसे समझेगा क्या? समझने का मौका कहाँ रहा? अब तो उसके आग्रह उसकी पूर्व धारणाएँ निर्मित हो गई। वह महावीर को समझ ही नहीं सकता क्योंकि महावीर को समझने के पहले उसने उन्हें तीर्थंकर बना लिया, परम गुरु समझ लिया, सर्वज्ञ मान लिया परमात्मा कह दिया। परमात्मा को पूजा जा सकता है समझा नहीं जा सकता। समझने के लिए तो अत्यन्त सरल दृष्टि चाहिए अत्यन्त पक्षपात रहित दृष्टि। मैं कह सकता हूँ कि मैंने महावीर को समझा है क्योंकि मेरा कोई पक्षपात नहीं, कोई आग्रह नहीं। हो सकता है कि जो मेरी समझ हो वह शास्त्रों से न मिले। मिलेगी भी नहीं क्योंकि शास्त्र उन्होंने लिखे हैं जो बंधे हैं अनुयायी हैं जैन हैं। शास्त्र उन्होंने लिखे हैं जिनके लिए महावीर तीर्थंकर हैं सर्वज्ञ हैं और जिन्होंने महावीर को समझने के पहले कुछ मान लिया है। समझ कभी भी शास्त्र से मेल नहीं खाती। समझ और शास्त्र में बुनियादी विरोध रहा है। शास्त्रों के रचयिता नासमझ, पक्षपातपूर्ण आग्रही होते हैं जो कुछ सिद्ध करने को आतुर हैं। उनमें समझने की उतनी उत्सुकता नहीं होती जितनी कुछ सिद्ध करने की। शास्त्रीय बुद्धि इसलिए अवैज्ञानिक हो जाती है कि वह कुछ सिद्ध करना चाहती है जो है उसे जानना नहीं चाहती। शास्त्रीय बुद्धि का आदमी परम्परा से बँधा होता है सम्प्रदाय से बँधा होता है और यह सोचकर कि सत्य पता नहीं कैसा है भयभीत होता है। तो मेरी बात न मालूम कितने तलों पर मेल नहीं खायगी। कभी मेल खा जाय तो यही आश्चर्य की बात होगी। मेल न खाना ही अधिक स्वाभाविक होगा।

२

महावीर को खोजने का एक ढग तो यह है कि उनके सम्बन्ध मे जो परम्परा है, जो शास्त्र है, जो शब्द सगृहीत है, हम उनमे जायें और उस सारी परम्परा के गहरे पहाड को तोडे, खोजे और महावीर को पकडे। महावीर को हुए ढाई हजार वर्ष हुए। इन ढाई हजार वर्षो मे महावीर के सम्बन्ध मे जो भी लिखा गया, हम उस सबसे गुजरे और महावीर तक जायें। यह शास्त्र के द्वारा जाने का रास्ता होगा। यद्यपि यही आम रास्ता है, फिर भी मैं मानता हूँ कि इस रास्ते से कभी जाया ही नही जा सकता। इस रास्ते पर चलनेवाले वहाँ पहुँचते हैं जहाँ महावीर से कोई सम्बन्ध नही होता। इसके कारण है। महावीर ने जो अनुभव किया है, किसी ने भी जो अनुभव किया है, उसे शब्दो की चारदीवारी मे बद करना कठिन है। जिसे भी कोई गहरी अनुभूति हुई है, उसे शब्द की असमर्थता का भी तत्काल ज्ञान हुआ है। परमात्मा का, सत्य का, मोक्ष का अनुभव बहुत गहरा अनुभव है। प्रेम का साधारण अनुभव भी मनुष्य को कुछ कह सकने मे असमर्थ बना देता है। प्रेम के सम्बन्ध मे अक्सर वे ही लोग मुखर पाए गए है जिन्होने प्रेम का अनुभव नही किया। यदि प्रेम के सम्बन्ध मे कोई बहुत आश्वासन से बाते करता हो तो समझ ही लो कि उसे प्रेम का अनुभव नही हुआ। प्रेम के अनुभव के बाद सकोच आता है, आश्वासन नहीं रह जाता। प्रेमी चिन्तित होता है कि कैसे कहूँ, क्या कहूँ ? जो बात कहना चाहता हूँ वह पीछे छूट जाती है, जिसे कभी सोचा भी न था वह बरबस निकल आती है। जितनी गहरी अनुभूति, उतने ही थोथे और व्यर्थ है शब्द ! शब्द है सतह पर निर्मित, उनके द्वारा निर्मित जो सतह पर जीते रहे है। इसी कारण अब तक सन्तो की कोई भाषा विकसित न हो सकी।

जब कोई व्यक्ति अतीन्द्रिय सत्य को जानता है तो उसकी सभी इन्द्रियाँ एकदम व्यर्थ हो जाती है, वह मौन हो जाता है। बोलना पडता है इन्द्रिय से और सत्य जाना गया है वहाँ से जहाँ कोई इन्द्रिय माध्यम नही। अगर इन्द्रिय माध्यम ही न हो अनुभव का, तो फिर इन्द्रिय कैसी रही ? इसलिए जो जानता है, मुश्किल मे पड जाता है। उसका मौन भी बडी पीडा देता है। चारो ओर रुग्ण, विक्षुब्ध मनुष्यो को देखकर उसे लगता है कि कहूँ और इन्हे भी अपनी अनुभूतियो का साझेदार बनाऊँ। वह अपने उस अन्तरतम मे झाँकता है जहाँ परम आनन्द घटित हो गया है और उसे लगता है कि वह व्यक्ति भी उसे देख सकता है जो निकट खडा है। कोई भी ऐसा नही जिसे ऐसी अनुभूति नही हो सकती। परन्तु उसके शब्द उसकी अनुभूतियो को दूसरो तक पहुँचाने मे एकदम असमर्थ होते है।

महावीर-जैसा व्यक्ति जो बोलता है वह एक प्रतिशत भी वह नही है जिसकी

उसे अनुभूति हुई है, जिसे उसने जाना है, फिर भी वह हिम्मत करता है, साहस जुटाकर बोलता है और सोचता है कि हजार किरण भले ही न पहुँचे, एक किरण तो पहुँचेगी ही। अगर महावीर की वाणी पकड़कर ही कोई महावीर की खोज करने जाय तो भी महावीर नहीं मिलेंगे। ठेठ महावीर को सुनकर ही कोई अगर उनकी वाणी पकड़कर खोजने जाय तो भी मार्ग बिल्कुल बदल जायगा और वह वहाँ जा पहुँचेगा जहाँ महावीर नहीं होंगे। क्योंकि शब्दों ने उसे नहीं जाना जिसे महावीर ने जाना है। उसे जाना है निःशब्द ने और हमने पकड़ा है शब्दों को। और फिर अनुमान है कि जिन्होंने महावीर के शब्द सुने उनमें वे लोग मौन में चले गए होंगे जिन्हें थोड़ी भी समझ आई होगी और निःशब्द की झलक या जरा भी इशारा मिला होगा। निश्चय ही वे निःशब्द में भाग गए होंगे। जिनकी समझ में नहीं आई होगी वे शब्द-संग्रह में लग गए होंगे। जिसने नहीं समझा होगा वह गणधर[1] बन गया होगा। आम तौर से हम सोचते हैं कि महावीर के पास जो गणधर हैं वे उनके सबसे अधिक समझने वाले लोग हैं। झूठ इससे बड़ा नहीं हो सकता। महावीर के पास जो सबसे ज्यादा समझनेवाला होगा वह मौन में चला गया होगा। जो सबसे कम समझनेवाला होगा वह महावीर के शब्दों को दूसरों तक पहुँचाने की व्यवस्था में लग गया होगा। तो गणधर वे नहीं हैं जिन्होंने महावीर को सर्वाधिक समझा है। गणधर वे हैं जो महावीर की वाणी का यथार्थ मर्म तो समझ न पाये, किन्तु उनके शब्दों को पकड़ बैठे और उनका संग्रह करने में लग गए।

जिस अनुभव से महावीर गुजरे हैं वह अपरिग्रह में घटा है। जो उनके शब्दों को इकट्ठा करने में लगा है वह परिग्रही वृत्ति का व्यक्ति है।

महावीर को उत्सुकता नहीं है शब्द-संग्रह की, न बुद्ध को है और न क्राइस्ट को। बस तो महावीर भी किताब लिख सकते थे लेकिन महावीर ने किताब नहीं लिखी। कृष्ण ने भी नहीं लिखी, बुद्ध और जीसस ने भी नहीं। इन असाधारण लोगों में सिर्फ लाओत्से ने किताब लिखी और वह भी जबरदस्ती में लिखी। जब वह अपनी अन्तिम उम्र में चीन की सीमा के पार जा रहा था तब चीन के सम्राट ने उसे अपनी चुंगी चौकी पर रुकवा लिया और कहा कि तुम्हें टैक्स देना पड़ेगा। लाओत्से ने कहा—कैसा टैक्स? हम न तो कोई सामान ले जाते हैं बाहर न कुछ लाते हैं। अकेले जा रहे हैं खाली। सच तो यह है कि जिन्दगी भर खाली रहे। सम्राट ने कहा कि—इतनी सम्पत्ति कभी कोई आदमी लेकर नहीं गया जितनी तुम लिये जा रहे हो। सब कुछ-न-कुछ दे ही जाते हैं। तुम जानते नहीं कि तुम्हारे भीतर क्या है। वह सब चुका दो। कम-से-कम टैक्स दे दो, सम्पत्ति मत लो। लाओत्से ने

---

१ जैन आचार्यों का एक वर्ग।—सम्पा०

होगा। उसने कुछ [illegible] लिखा [illegible] , पर [illegible]
[illegible] जाती है, [illegible] कहता है [illegible]
नहीं कहा जा सकता है। [illegible]
[illegible] नहीं जा सकता। [illegible] , [illegible]
सत्य बोला नहीं जा सकता, [illegible]
[illegible] नहीं [illegible]
[illegible]
समझेगा [illegible]
गई है। जो नहीं समझेगा, वह [illegible] । इसमें कोई [illegible] ।

बुद्ध और महावीर-जैसे लोगों ने कुछ नहीं लिखा। [illegible] लिखने का नहीं। इसका भी कारण है। [illegible] सामने। मैं गया, आप [illegible] ज्यादा है, [illegible] । न मैं [illegible] , न आप [illegible] — [illegible] रचना होकर रहेगा। कहने में भूल होती है, लेकिन फिर भी सामने है वह आदमी जिसने कहा गया है। अगर मैं कुछ गलत कह रहा हूँ तो आप मुझे देख रहे हैं, मेरी [illegible], मेरी पीड़ा को भी देख रहे हैं, मेरी मुश्किल भी देख रहे हैं कि कुछ है जो नहीं कहा जा सकता। लेकिन, किताब के सामने लिखनेवाला न आँख है, न हाथ है, न पीड़ा है। फिर, किताब बच जाती है। उस किताब पर किताबें बनने लगती हैं, टीकाएँ होती रहती हैं। और यह बताना भी महावीर के ठीक सामने नहीं हो सका। इसका कारण है कि शायद महावीर ने इनकार किया होगा। बुद्ध ने कहा होगा, तुम लिखना मत। अर्थात् जो भी लिखा गया है सुनकर नहीं लिखा गया है। किसी ने सुना है, फिर किसी ने किसी से कहा है। महावीर असमर्थ है कहने में। फिर उनसे सुनने वाले ने किसी से कहा है, उस तीसरे व्यक्ति ने किसी और से कहा है और तब दो-चार-पाँच पीढ़ियों के बाद वह लिखा गया है। उस पर टीकाएँ चलती रही है, विवाद होते रहे है। ये है हमारे शास्त्र। अगर किसी को महावीर से चूकना हो तो इन शास्त्रो को पकडे। इससे सुगम उपाय नही। तो मैं शास्त्रो से महावीर तक पहुँचने की सलाह नही देता और न मै स्वय ही उस रास्ते से उन तक गया हूँ। मैं बिलकुल ही अशास्त्रीय व्यक्ति हूँ, नही, कहना चाहिए कि मै एकदम शास्त्र-विरोधी हूँ।

अगर सारे शास्त्र खो जायँ तो साधु, सन्यासियो और पडितो के हिसाब से महावीर खो जायँगे। लेकिन क्या सत्य का अनुभव खो सकता है? क्या यह सम्भव है कि महावीर-जैसी अनुभूति घटे और अस्तित्व के किसी कोने मे सुरक्षित न रह जाय? क्या यह सम्भव है कि कृष्ण-जैसा आदमी पैदा हो और सिर्फ आदमी की

किसी किताबों में जीवित रहे और अगर किताबें खो जायें तो कृष्ण खो जाय? अगर ऐसा है तो न कृष्ण का कोई मूल्य है और न महावीर का। आदमी के रेकार्ड, शब्दों के रेकार्ड गणधरों के रेकार्ड ही अगर सब कुछ हैं तो ठीक है किताबें खो जायेंगी और ये आदमी भी खो जायेंगे। मगर इतना सस्ता नहीं है यह मामला कि इतनी बड़ी घटनाएँ घटें कोई परम सत्य को उपलब्ध हो और यह बात केवल कमजोर आदमियों की कमजोर भाषा में सुरक्षित रहे। मेरा कहना है कि जगत् में जो भी घटता है चाहे वह महत्त्वपूर्ण हो या अमहत्त्वपूर्ण वह कभी नष्ट नहीं होता और न उसे मनुष्य पर ही छोड़ दिया जाता है कि वह उसे सुरक्षित रखे। अंधे भला उस व्यक्ति के अनुभव को सुरक्षित रख सकते हैं जो कभी उनके समाज में था और जिसे जब आग मिल गई हो, प्रकाश के दर्शन हो गए हों? हम उस व्यक्ति की तुलना में अंधे हैं जिसे सत्य की उपलब्धि हुई है अथवा जिसने ज्ञान चक्षुओं से सत्य का साक्षात्कार किया है।

तो मैं कहना चाहता हूँ कि अस्तित्व में कुछ भी नहीं खोता। सच तो यह है कि मेरे ये शब्द भी बराबर मुखर रहेंगे। जो शब्द एक बार पैदा हो गया है वह कभी लुप्त न होगा। कृष्ण ने अगर कभी भी कुछ कहा है तो आज भी उसकी ध्वनि तरंगें किन्हीं तारों के निकट से गुजर रही हैं। ध्यान रहे कि लन्दन में जो बोला गया है हम उसे ठीक उसी वक्त नहीं सुन सकते, क्योंकि ध्वनि-तरंगों को आने में समय लगता है। जो कभी भी बोला गया है उसकी ध्वनि-तरंगें आज भी वर्तमान हैं किन्हीं तारों के पास से गुजर रही हैं। यानी किसी तारे पर महावीर के वचन आज भी सुने जा रहे होंगे। इसका क्या मतलब हुआ? इसका मतलब यह हुआ कि इस अनन्त आकाश में—अनन्त है इसलिए इसमें कुछ नहीं खोता—जो भी पैदा होता है, वह यात्रा करता रहता है।

इसी प्रकार और भी सूक्ष्म तरंगें हैं जो ध्वनि की नहीं अनुभूति की तरंगें हैं। जब हम बोलते हैं तब ध्वनि की तरंगें पैदा होती हैं लेकिन जब अनुभव करते हैं तब अनुभूति की ऐसी तरंगें पैदा होती हैं जो और भी सूक्ष्म आकाश में यात्रा करती हैं। जिस प्रकार रेडियो से स्थूल आकाश में घूमती हुई ध्वनि-तरंगों को पकड़ा जाता है उसी प्रकार अगर कोई यांत्रिक व्यवस्था हो सके तो सूक्ष्म आकाश में हुए अनुभव की तरंगों को पुनः पकड़ा जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि अनुभूतियाँ भी कभी नष्ट नहीं होतीं और न यह आदमी पर ही छोड़ा गया है कि वह उन्हें किसी प्रकार सुरक्षित रखे। यदि हम विशिष्ट ध्यान रखकर अपने भीतर जाएँ तो, विशिष्ट इन्द्रियों की अनुभूति से हम उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क साध सकते हैं। लेकिन यदि हम किसी विशिष्ट व्यक्ति का ध्यान न रखकर उतरें तो हम अपनी ही अन्तर अनुभूतियों में उतर जाते हैं। अपने भीतर गहराइयों में उतरा हुआ व्यक्ति कभी स्वयं

कर सकता है कि वह महावीर, बुद्ध, जीसस या कृष्ण से संयुक्त हो जाय। संयुक्त होने का मतलब यह नही कि महावीर कही बैठे है जिनसे संयोग हो जायगा। वह दीया तो टूट गया और वह ज्योति भी खो गई। लेकिन उस ज्योति ने जो अनुभव किया था, उस अनुभव की सूक्ष्म तरंगे अस्तित्व की गहराइयो मे आज भी सुरक्षित है। महावीर का पूर्ण ध्यान लेकर अगर आप उन गहराइयो मे उतरे तो आप के लिए द्वार खुल सकते है, महावीर के अन्तरंग की सूक्ष्म तरंगे आपको उपलब्ध हो सकती है और आप को एहसास हो सकता है कि महावीर के अनुभवों से जुड़ने का बस यही रास्ता है। अस्तित्व की गहराइयो मे अनुभूतियाँ सुरक्षित रह जाती है, वहाँ से उन्हे वापस पकड़ा जा सकता है, वहाँ से उनसे पुन जीवन-सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते है।

यह मै इसलिए कह रहा हूँ कि मेरा मार्ग शास्त्र के मार्ग से बिलकुल भिन्न है। इसलिए मेरी चर्चा सुनकर शास्त्रो मे उसके तालमेल की खोज न करे। शास्त्रो से मेरी चर्चा का कोई सम्बन्ध ही नही। किसी और मार्ग से चलने की चेष्टा मे मुझे जो कुछ दिखाई पडेगा, वह मै आपसे कहता चलूँगा। किन्तु, जब तक कुछ और लोग मेरे साथ इस प्रयोग को करने के लिए राजी न होगे, तब तक यह निर्णय नही हो सकेगा कि मेरी बात प्रामाणिक है या नही।

२

महावीर के बाह्य जीवन की घटनाओ को जानना एक बात है और उनके अन्तर्जीवन को जानना दूसरी बात। महावीर के बाह्य जीवन से मुझे न तो प्रयोजन है और न उसे जानने की उत्सुकता ही। लेकिन उनके अन्तर्जीवन मे क्या घटा, उससे मेरा प्रयोजन है, उत्सुकता है और उस ओर दृष्टि भी। सच बात तो यह है कि जिसे हम बाहर का जीवन कहते है, वह एक स्वप्न से ज्यादा मूल्य नही रखता।

मेरे लिए इसका कोई अर्थ ही नही कि महावीर कब पैदा हुए, कब मरे; उन्होने शादी की या नही, बेटी पैदा हुई या नही। हुई हो तो ठीक, न हुई हो तो ठीक। मै तो यहाँ तक कहना चाहता हूँ कि महावीर भी हुए हो तो ठीक, न हुए हो तो ठीक। महत्त्वपूर्ण है अन्तर की गति, चेतना का विकास, उसका रूपान्तरण। जिसने महावीर के बहिर्जीवन को पकड लिया है, वह बुद्ध के जीवन को समझने मे असमर्थ हो जायगा। वह सोचता है कि जो महावीर के बहिर्जीवन मे है, वह उनके अन्तर्जीवन से अनिवार्य रूप से बँधा हुआ है। जब वह देखता है कि महावीर नग्न खडे है तब उसके मन मे यह बात जम जाती है कि परम ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति नग्न खडा होता है। और वह पूछता

है, यदि बुद्ध ने वस्त्र पहन रखा है तो वे परम ज्ञान को कैसे उपलब्ध हुए? बहिर्जीवन की पकड़ के कारण ही अंतर्जीवन के सम्बन्ध में इतनी भ्रांतियाँ खड़ी हो गई हैं।

महावीर के सम्बन्ध में मैं ठीक कह रहा हूँ या नहीं, इस बात की जाँच का भी कोई अर्थ नहीं है। मैं कुछ सिद्ध करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, बल्कि कह इसलिए रहा हूँ कि तुम जहाँ हो वहाँ से सरक सको और किसी दूसरी दिशा में गति कर सको। इसलिए यदि यह बातचीत तुम्हें अनन्त में गति देनेवाली बन जाती है तो मैं मान लूँगा कि काफी प्रमाण मिल गए। यानी मेरे लिए सार्थकता इसमें है कि महावीर के जीवन के सम्बन्ध में मैं जो कहूँ वह किसी रूप में तुम्हारे जीवन को रूपांतरित करनेवाला बने।

यही वजह है कि जो लोग जानते रहे हैं उन्होंने इतिहास लिखने पर जोर नहीं दिया। इतिहास की जगह उन्होंने पुराण पर—'मिथ' पर—जोर दिया। इतिहास का आग्रह है कि बाहर घटी घटनाएँ तथ्य (फैक्ट्स) की तरह संगृहीत की जायें। पुराण इस बात पर बल देता है कि बाहर की घटनाएँ इस भाँति संगृहीत हों कि जब कोई उनसे गुजरे तो उसके भीतर कुछ घटित हो जाय। पौराणिक घटनाएँ किसी दृष्टि से अप्रामाणिक मालूम पड़ सकती हैं। ऐतिहासिक तथ्य की तरह क्राइस्ट का सूली पर चढ़ना और फिर तीन दिन बाद जीवित हो उठना प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक तथ्य की तरह इसे भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि कोई ऐसी कुमारी लड़की से पैदा हो सकता है जिसका पुरुष का सम्पर्क न हुआ हो। किंतु पुराण की दृष्टि बड़ी गहरी है। उसका कहना है कि जीजस जैसा बेटा अत्यंत कुंवारी आत्मा में ही जन्म ले सकता है। यदि किसी माँ को जीजस-जैसे बेटे को जन्म देना हो तो उसके चित्त का अत्यंत कुंआरा होना जरूरी है और कुंआरेपन का कोई सम्बन्ध शरीर में है ही नहीं। शरीर तो यंत्र है, कुंआरापन आंतरिक मनोदशा है। हो सकता है कि शरीर कुंआरा न हो और चित्त बिल्कुल कुंआरा हो।

अब एक और उदाहरण लें। महावीर के पैर को सांप काट लेता है और दूध बहता है। इसे ऐतिहासिक तथ्य की तरह कोई सिद्ध नहीं कर सकता। करने वाले करते हों पर गलत करते हैं। वे महावीर का व्यर्थ करते देंगे—जो मिथ है, गाथा है वह खो जायगी। इस घटना का एक गहरा अर्थ है। वह यह है कि यदि सांप भी काटे या कोई महावीर को जहर भी दे, मारने का यत्न भी करे तो भी महावीर के मन में उसके प्रति विष नहीं हो पाता। दूध निकलने का कुल अर्थ इतना ही है कि महावीर का रोम-रोम मातृत्व से भरपूर है। सांप उन्हें कुछ भी दे—जहर दे, उन्हें काटे, चाहे कुछ करे—महावीर के भीतर से प्रेम और करुणा ही प्रवाहित होगी। उनके मन में दूध की तरह पावनता सिद्ध होने पायगी ही ऐसे। यह सिद्ध करना,

निरर्थक है कि महावीर के पैर स्तन का काम कर रहे थे। एक मुनि ने यह सिद्ध करने की कोशिश भी की है। लेकिन उनके तर्कों को सुनने के बाद मैंने उनसे कहा कि यदि यह प्रमाणित भी हो जाय तो इसमे महावीर का मूल्य बढता नही, बिल्कुल खो जाता है। अगर किसी के भी पैर स्तन का काम कर रहे हो तो उनसे दूध निकल आयगा। यदि महावीर के चरणो मे इसी कारण दूध निकला कि वे स्तन का काम कर रहे थे तो इसमे महावीर का असाधारणत्व लुप्त हो गया।

पुराण की दृष्टि महावीर के मर्म पर है, तथ्य पर नही। तथ्य मे जाने पर यह भी जरूरी नही कि किसी सर्प ने उन्हे काटा ही हो। यह भी जरूरी नही कि उनके चरणो से दूध निकला ही हो। जरूरी केवल इतना है कि महावीर का हृदय करुणा से ओतप्रोत था, स्नेह से लबालब भरा था, उनसे प्रेम की अमृतधारा प्रवाहित होती थी—चरणो तक से मानो दूध निकलता था। यह न कहकर कि महावीर हिंसा का प्रत्युत्तर स्नेह से, विष का प्रत्युत्तर दूध से देते थे, पुराण ने इसे ही कविता मे कहा कि सर्प ने काटा महावीर को तो दूध ही निकला उनके चरणो से।

मेरी दृष्टि भी महावीर के अन्तर्जीवन पर, उनके महत्त्व पर, उनके जीवन की अर्थवत्ता पर है, न कि उनके बहिर्जीवन के तथ्यो पर। अगर मेरी बातचीत से तुममे बेचैनी पैदा हो जाय और यह जानने की उत्सुकता तुम्हें कचोटने लगे कि यह बात सच है या झूठ, तो तुम मुझसे प्रमाण मत पूछना। स्वयं प्रमाण की तलाश मे निकल जाना। अगर बात झूठी भी हुई तो तुम वहाँ पहुँच जाओगे जहाँ पहुँचना चाहिए। और यदि बात सही हुई तो लक्ष्य की प्राप्ति आप ही हो गई। जिस दिन तुम वहाँ पहुँच जाओगे उस दिन जरूरी नही कि तुम लौटकर मुझसे यह कहने ही आओ।

मैंने कहा है कि मेरी दृष्टि शास्त्रीय नही है। मै शास्त्रो की निंदा नही करता, क्योकि उन्हे मैं निंदा योग्य भी नही मानता। निंदा हम उसकी करते है जिससे कुछ मिलने की सम्भावना थी और वह चीज न मिली। शास्त्र से मिल ही नही सकती। शास्त्र की निंदा का कोई अर्थ नही, क्योकि शास्त्र से न मिलना शास्त्र का स्वभाव है। शास्त्र का स्वभाव है कि उससे सत्य नही मिल सकता। मिल जाय तो आश्चर्य हो जायगा, असम्भव घटना हो जायगी। शास्त्र का रास्ता प्रज्ञा को नही जाता, पाडित्य को जाता है, और पाडित्य प्रज्ञा से बिलकुल उल्टी चीज है। पाडित्य है उधार और प्रज्ञा है निजी। मेरे शब्दो को मानकर जो शास्त्र निर्मित होगे उनका स्वभाव भी ऐसा ही होगा। शास्त्रो का यही स्वभाव है। चाहे वे शास्त्र महावीर के हो, चाहे बुद्ध के, चाहे कृष्ण के, चाहे मेरे, चाहे तुम्हारे। इससे कोई फर्क नही पडता। हाँ, अगर किसी को सत्य दिखाई पड जाय पहले तो वह बाद मे शास्त्र मे भी दिखाई पड सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि शास्त्र किसी को दिखला

नहा सकता, लेकिन जिसे दीख पड़ा है उसे शास्त्र में भी दीख सकता है। उसे शास्त्र में ही नहीं, कंकड़, पत्थर, पहाड़, दीवार सब में दिखाई पड़ता है। यानी यह सवाल फिर शास्त्र का नहीं रह जाता। जिसे दिखाई पड़ गया उसे सब में दिखाई पड़ता है। शास्त्र में हम वही पढ़ते हैं जो हम पढ़ सकते हैं, वह हमारे ज्ञान की वृद्धि नहीं करता। अज्ञानी आदमी शास्त्र के सामने खड़ा होकर यह न सोचे कि उसे पढ़कर वह ज्ञानी हो जायगा। हां, जहां ज्ञानी को शास्त्र में ज्ञान मिलेगा वहीं अज्ञानी को अज्ञान ही दिखता रहेगा। और मजा यह है कि ज्ञानी शास्त्र में देखने नहीं जाता, पर अज्ञानी उसे अपना सहारा बना लेता है। अक्सर ऐसा होता है कि सुंदर आदमी दर्पण से मुक्त हो जाता है और कुरूप आदमी उसके आस पास घूमता रहता है।

हो सकता है किसी दिन मेरे भी शब्द संगृहीत हो जायें और लोग उन्हें पकड़कर शास्त्र बना लें। उसी दिन मेरे शब्दों की हत्या हो जायगी। फिर भी, ध्यान रहे कि मैं किताब का विरोधी नहीं शास्त्र का विरोधी हूं। किताब दावा नहीं करती सत्य देने का। उसका दावा है सिर्फ संग्राहक होने का। शास्त्र का दावा सिर्फ संग्राहक होने का नहीं सत्य देने का है। लाओत्से की किताब की तरह जो केवल विनम्र संग्रह है वह शास्त्र नहीं, मात्र किताब है। शास्त्र किसी के कुछ बोलने से नहीं बनता शास्त्र बनता है शब्दों को पकड़ने से। महावीर के बोलने से शास्त्र नहीं बना, गणधरों के पकड़ने से बना है। इसलिए वाणी ही ऐसी कांटा वाली हो, अंगारा में ऐसा भरी हो कि पकड़ना मुश्किल हो जाय। लेकिन अंगार भी बुझ जाते हैं, एक न एक दिन राख हो जाते हैं और पकड़नेवाले उन्हें भी मुट्ठी में पकड़ लेते हैं। इसी कारण ज्ञानी को पुराने ज्ञानियों की दुश्मनी में बार बार खड़ा होना पड़ता है। सच पूछो तो यह दुश्मनी नहीं है, मित्रता है। और इसमें बड़ी मित्रता हो नहीं सकती क्योंकि इस भांति जो राख पकड़ ली गई है उससे ज्ञानियों द्वारा ही छुटकारा होना है। इसलिए जिस महावीर से प्रेम है वह जैनियों के खिलाफ खड़ा होगा ही। अगर महावीर भी लौट आयें तो उन्हें भी उनके खिलाफ खड़ा होना पड़ेगा क्योंकि उन्होंने जो दिया था वह जीवित अंगारा था वह पकड़ा नहीं जा सकता था सिर्फ जिया जा सकता था समझा जा सकता था। वह अब राख रह गई है। लोगों ने उसे पकड़ लिया है और वे उसे पकड़ बैठ गए हैं। न बुद्ध महावीर के खिलाफ हैं न महावीर कृष्ण के। खिलाफ हैं शास्त्र बन जाने से। और जहां भी शास्त्र बन जाता है वहां सत्य मर जाता है। इसलिए लड़ाई जारी रहती है। किसी ज्ञानी पर वह खत्म नहीं हो जाती। आनेवाले ज्ञानियों को अतीत के ज्ञानियों का खण्डन करना ही होगा। यह बड़ा कठोर कृत्य है लेकिन प्रेम इतना कठोर भी होता है।

जेन फकीर बुद्ध के अनुयायी होते हैं। फिर भी एक जेन फकीर ने अपने अनुयायियों से कहा है कि अगर बुद्ध भी तुम्हारे और सत्य के बीच आ जायें तो एक चांटा मारकर उन्हें अलग कर देना। एक दूसरे जेन फकीर का कहना है कि यदि बुद्ध का नाम भी मुंह में आ जाय तो पहले कुल्ला करके मुख साफ कर लेना। वह एक ओर तो अपने मन्दिर में बुद्ध की मूर्ति रखता है, फिर दूसरी ओर लोगों को समझाता है कि बुद्ध से बचना और कहता है कि इनके लिए मुझे बुद्ध का आशीर्वाद प्राप्त है। असल में जो सीढ़ी है वह मार्ग का पत्थर भी बन सकती है और जो पत्थर है उसे सीढ़ी बनाया जा सकता है। सब-कुछ बनानेवाले के ऊपर निर्भर है। जब पुरानी सीढ़ी पत्थर बन जाती है तब उसे मिटाने की बात करनी ही पड़ती है। यह लड़ाई निरन्तर जारी रहेगी। मैं जो आज कह रहा हूँ उसे कल गलत कहने की हिम्मत जुटानी ही पड़ेगी। मुझसे प्रेम करनेवाले किसी व्यक्ति को मेरे खिलाफ लड़ना ही पड़ेगा। जो व्यक्ति हमारे लिए मुक्तिदायी सिद्ध हो सकता है उसे ही हम बंधन बना लेते हैं और जब उसे बंधन बना लेते हैं तब उससे भी मुक्ति दिलानी पड़ती है।

४

ऐतिहासिक तथ्यों पर ध्यान केन्द्रित रखनेवाले पुराण और अध्यात्म की सांकेतिक भाषा समझ नहीं पाते। मिसाल के तौर पर तीर्थंकरों की मूर्तियों को ही लो। तुम कोई फर्क नहीं बता सकते उनमें, सिवाय चिह्नों के। अगर चिह्न अलग कर दिए जायँ तो मूर्तियाँ एक जैसी हैं। क्या ये चौबीसों तीर्थंकर एक-जैसे रहे होंगे? क्या यह ऐतिहासिक मामला हो सकता है कि इन चौबीस आदमियों की एक-जैसी आँख, एक जैसी नाक, एक जैसे चेहरे, एक जैसे बाल रहे हों? नहीं, यह ऐतिहासिक नहीं, आन्तरिक तथ्य है। जैसे ही व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होता है, सब भेद विलीन हो जाते हैं। हमारे भीतर एक ऐसी जगह है जहाँ नाक, चेहरे आदि मिल जाते हैं। जो लोग एक-जैसे हो गए, उन्हें कैसे बताएँ? तो हमने मूर्तियाँ एक जैसी बना दीं। महावीर का चेहरा कैसा था, यह सवाल ही नहीं रहा। मूर्तियों में तीर्थंकरों के भीतरी साम्य को प्रकाशित किया गया। जैसे ही चेतना एक तल पर पहुँच गई, सब एक हो गए—उनके चेहरे एक हो गए, अलग-अलग आँखों से झाँकनेवाले चौबीस तीर्थंकर एकरूप हो गए। होंठ अलग-अलग, लेकिन जो वाणी निकलने लगी, वह एक हो गई, भीतर भिन्नताएँ लुप्त हो गईं। मूर्तियाँ सब शान्त हैं, स्थिर हैं। उनमें कोई गति नहीं, कोई कम्पन नहीं। पत्थर की मूर्तियाँ चुनी गईं, क्योंकि पत्थर सबसे ज्यादा ठहरा हुआ तत्त्व है और उस ठहराव में भी हमने जो रूपरेखा चुनी, वह बिलकुल ठहरी हुई है। हाथ जुड़े हुए हैं, पैर जुड़े हुए हैं, पद्मासन लगा है, आँखें आधी बंद हैं। ध्यान रहे, आँखें अगर पूरी बंद हों तो खोलनी पड़ेंगी, अगर पूरी खुली हों तो बन्द करनी पड़ेंगी, क्योंकि अति से लौटना ही पड़ता है—अति पर कोई ठहर नहीं

सकता। इसलिए आँखें आधी खुली हैं, आधी बन्द हैं। आँखों का मध्य में होना ठहराव का सूचक है। अब यहाँ कोई गति नहीं, कहीं आना जाना नहीं। न पीछे लौटना है, न आगे जाना।

अब विचारणीय है कि जहाँ चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ एक जैसी हैं वहाँ बुद्ध और महावीर की एक जैसी नहीं, यद्यपि दोनों समकालीन थे। इन दोनों की मूर्तियाँ एक जैसी हो सकती थीं। लेकिन नहीं हुईं, इसका भी कारण है। ध्यान रहे कि चौबीस तीर्थंकरों की एक विशिष्ट धारा है। इस धारा ने साधना का एक ढंग निर्मित किया है, अभिव्यक्ति की एक सांकेतिक भाषा—कोड लैंग्वेज—निर्मित की है। एक भाषा, एक ढंग, एक प्रतीक की व्यवस्था हुई है, शब्दों की परिभाषा और उनके प्रयोग का ढंग निर्मित हुआ है। परन्तु यह सब कोई तीर्थंकर निर्मित नहीं करता, उसके होने से इसका निर्माण होता है, उसकी मौजूदगी में निर्माण होता है। महावीर पर आकर यह धारा खत्म हो जाती है।

बुद्ध एक नई धारा के लिए प्रारम्भ हैं। इस कारण उन्हें जोर देकर कहना पड़ा कि वे महावीरवाली धारा से भिन्न हैं। उन्हें लगा कि कहीं वे पुरानी धारा से जुड़ न जायें इसलिए उन्हें बहुत सजग होना पड़ा। और इसी कारण जहाँ महावीर ने बुद्ध के खिलाफ एक शब्द भी नहीं कहा वहीं बुद्ध ने कई बार महावीर का खण्डन किया और बहुत कठोर शब्द कहे। वस्तुतः महावीर वृद्ध थे, बुद्ध जवान, महावीर विदा हो रहे थे और बुद्ध का आगमन हो रहा था। उनके लिए यह जतलाना एकदम जरूरी था। इसलिए उन्होंने साफ-साफ कहा कि महावीर की व्यवस्था में हम कुछ लेना-देना नहीं। यह बिल्कुल गलत है, लोग मान न लें विदा होती हुई व्यवस्था है, उससे सम्बन्ध जोड़ा तो नई व्यवस्था के आने में बाधा उपस्थित होगी।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना योग्य है कि महावीर के व्यक्तित्व की जो धारा प्रभावित करती है वह प्रेम वाली, शांति वाली, आभिजात्य वाली धारा है। इस व्यक्तित्व के निर्माण में अनन्त जन्म लगते हैं। इस पर लाख तरह की धारा भी प्रभावित कर सकती है। बुद्ध बिल्कुल भिन्न तरह के व्यक्ति हैं। उनके व्यक्तित्व की अपनी धारा है। उनकी शिक्षा न पहुँचा सकी जो महावीर में सामान्य न हो सकने से लाभ पहुँचाया। लेकिन बुद्ध और महावीर की एक धारा है, धारा का अपना निजता अपनी धारा। महावीर और गौतम का व्यक्तित्व बिल्कुल अलग है। अगर महावीर का निजत्व ... [illegible] ... के अन्तिम भाग तक पहुँच पायेंगे। धारा जिस ढंग का प्रतिनिधित्व करती है उस ढंग के लोग वंचित रह जायेंगे। चूंकि धारा प्रवाह के व्यक्ति हैं ... [illegible] ... और ... [illegible] ... होती है कि ... [illegible] ... साथ और ... [illegible] ... गये।

प्रथम खंड

प्रथम अध्याय

महावीर की जीवनधारा महावीर का मार्ग

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधइ ?[1]

—दश० अ० ४ गा० ७

१

महावीर की जो जीवनधारा है वह पुरुष की है। पुरुष और स्त्री के मानस में बुनियादी भेद है। स्त्री के पास जो मन है वह निष्क्रिय है, 'पसिव' है, पुरुष का मन आक्रामक—'ऐग्रेसिव'—है। स्त्री प्रेम भी करे तो आक्रमण नहीं करेगी—वह बैठकर अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करेगी। वह जा नहीं सकती उठकर उसके पास। वह प्रेम करती है सही पर विवाह का प्रस्ताव नहीं करती, प्रतीक्षा करती है कि कब उसका प्रेमी प्रस्ताव करे। हाँ वह प्रस्ताव के लिए योजनाएँ बनाती है, प्रयत्न करती है कि प्रस्ताव किया जाय। लेकिन प्रस्ताव किए जाने पर वह सीधे 'हाँ' नहीं भरती क्योंकि 'हाँ' भी आक्रामक है। 'ना' को वह धीरे धीरे 'हाँ' के करीब लाती है। निगेटिव है उसका मानस। उसकी शारीरिक रचना भी निगेटिव है, 'पाजिटिव' नहीं। इसलिए वह पुरुष पर बलात्कार नहीं करती, हमला नहीं करती। यदि पुरुष राजी नहीं है तो उसके साथ वह काम सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती। लेकिन यदि स्त्री राजी न भी हो तो पुरुष उसके साथ सम्भोग कर सकता है, व्यभिचार कर सकता है।

महावीर की जीवन चिन्तना पुरुष की जीवन चिन्तना है। इसलिए उनके मार्ग में स्त्री का मार्ग पाने का उपाय ना नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि स्त्री मार्ग की अधिकारिणी नहीं। इसका मतलब केवल इतना ही है कि स्त्री आकार में मोक्ष उसे नहीं मिल सकता। उसे एक बार पुरुष योनि में जन्म लेना ही होगा, तभी वह मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकती है।

महावीर की व्यवस्था मर्दाना की है, इच्छा और आक्रमण की है। इनका आधार बहुत गहरा आक्रमण है। उनका मार्ग उनके लिए उपयोगी है जो ताकत से सम्पन्न है, जो जिन हो सकता है। इसीलिए उन्हें 'महावीर' कहा गया। ... म

---

१ भन्ते! कैसे चले? कैसे खड़ा हो? कैसे बैठे? कैसे सोए? कैसे भोजन करे? कैसे बोले?—जिससे पाप-कर्मों का बन्धन न हो।

करने की जो चरम क्षमता है, उसके कारण ही वे महावीर कहलाए। उनकी व्यवस्था मे न तो भय की कोई गुजाइश है ओर न समर्पण की। इसीलिए वे परमात्मा को भी इनकार करते है। अगर भगवान है तो समर्पण करना पडेगा। महावीर मान नही सकते कि हमसे भी कोई ऊपर है। पुरुष-चित्त समर्पण नही करता। यह कोई दर्शन की बात नही है कि परमात्मा नही है। तुम ही परमात्मा हो, मै ही परमात्मा हूँ ! आत्मा ही शुद्ध होकर परमात्मा हो जाती है। आत्मा ही जब पूर्ण रूप से जीत लेती है तो परमात्मा होजाती है। ऐसा कोई परमात्मा नही जिसके पैरो मे तुम सिर झुकाओ और प्रार्थना करो।

अत महावीर का ढग है दृढ सकल्प का और वे कहते है कि अगर किसी भी चीज के लिए पूर्ण सकल्प हो गया हो तो उपलब्धि हो ही जायगी। बुद्ध की बाते और है, क्राइस्ट की कुछ और। क्राइस्ट बिना सूली पर चढे सार्थक ही नही होते। परन्तु अगर महावीर सूली पर चढे तो हमारे लिए व्यर्थ हो जायँगे। कृष्ण का व्यक्तित्व इन सबसे भिन्न है। कृष्ण और महावीर मे मेल बिठाना सम्भव नही, क्योकि इनमे कोई मेल ही नही। फिर भी इन सबका महत्त्व है, ये सब इस अर्थ मे सार्थक है कि पता नही, कौन-सा व्यक्तित्व ज्योति की अनुभूति कराए—किस व्यक्तित्व से आपको ज्योति दीखे। किन्तु याद रहे, आपको उसमे ही ज्योति दीखेगी जिसके व्यक्तित्व का प्रकार आपके व्यक्तित्व के किस्म के अनुकूल है।

जहाँ महावीर की व्यवस्था मे पूर्ण सकल्प का महत्त्व असदिग्ध है, वही बुद्ध के लिए सकल्प सघर्ष है। बुद्ध कहते है सघर्ष से सत्य कैसे मिलेगा ? इसलिए सकल्प छोडो, शान्त हो जाओ। सकल्प ही न करो तो उस शान्ति मे सत्य फलित हो सकता है। यह भी ठीक है, यह भी एक खिडकी है और ऐसे भी सत्य मिल सकता है। महावीर भी इसे ठीक बतलाते है। किन्तु, यदि आप महावीर से प्रेम करते है तो आप क्राइस्ट की मूर्ति महावीर-जैसी ढालेगे, क्राइस्ट से प्रेम करते है तो महावीर की मूर्ति क्राइस्ट-जैसी ढालेगे। तभी बात गडबड हो जाती है। क्राइस्ट से प्रेम करनेवाला व्यक्ति अगर महावीर की मूर्ति ढालेगा तो वह महावीर को सूली पर लटका देगा। इसका कारण है कि अभी वह साकेतिक भाषा—'कोड लैंग्वेज'—पैदा नही हो सकती जो सारी मूर्तियो मे काम आ सके। अगर हम झाँकना चाहे सबके भीतर समानता के लिए तो हमे मूर्ति मिटा देनी पडेगी। फिर हमे एक नया कोड विकसित करना होगा। आरम्भ मे बुद्ध की मूर्ति नही थी, परन्तु बुद्ध के मरने के बाद पाँच-छह सौ साल मे उनके अनुयायियो की हिम्मत टूट गई और मूर्ति आ गई। मुसलमानो ने बड़ी हिम्मत जाहिर की। चौदह सौ साल हो गए, किन्तु उन्होने मूर्ति को प्रवेश करने नही दिया। मन मूर्ति के लिए लालायित रहता है। उसकी इच्छा होती है कोई रूप बने। कुछ लोग है जिनके लिए सभी रूपो मे भूल दिखाई पडी है। उन्होने रूप हटाकर भी

देखा है—रूप नहीं रखा, मुहम्मद को विदा कर दिया, मस्जिद खाली रह गई। कुछ लोगों ने मन्दिर और मस्जिद को भी विदा करके देख लिया, तीर्थ भी त्याग दिए। सच पूछो तो जैसे-जैसे मनुष्यता विकसित होगी, वैसे वैसे व्यक्ति का आग्रह छोड़ना ही होगा, मूर्तियाँ त्यागनी ही पड़ेंगी। जैनों ने कुछ प्रतीक बचा रखे हैं। उनके चौबीस तीर्थंकर हैं। अच्छा तो यह होता कि ये प्रतीक भी न रहते किन्तु ऐसा न हो सका। थोड़े से चिह्न बच रहे, किन्तु उनमें भी भेद हो गया। पारस का मन्दिर अलग बना, महावीर का अलग। उनके चिह्न में भी भेद हो लिया। चिह्नों को भी विदा करने की जरूरत है। लेकिन यह तभी सम्भव है जब मनुष्य का मन [illegible] उससे पहले नहीं।

यह ठीक है कि जो अनुभव महावीर को हुआ, वही बुद्ध को भी, लेकिन उस अनुभव को कहा गया अलग-अलग शब्दों में। महावीर कहते हैं, आत्मा को पाना परम ज्ञान है। बुद्ध वहीं, उसी समय और उसी क्षेत्र में, कहते हैं, आत्मा को मानने से बड़ा अज्ञान नहीं है। दोनों ठीक कहते हैं और दोनों जानते हैं भलीभाँति कि उनमें कोई भेद नहीं। फिर भी दोनों राजी नहीं हो सकते इस पर, कहने के कारण। राजी हुए तो हमारे लिए व्यर्थ हैं। जितने बड़े व्यापक वर्ग को बुद्ध ने प्रभावित किया उतने बड़े व्यापक वर्ग को महावीर प्रभावित न कर सके। इसका कारण यह है कि महावीर के प्रतीक अतीत के थे और बुद्ध के प्रतीक भविष्य के। महावीर के पास जो प्रतीक थे, उनके पीछे तेईस तीर्थंकरों की धारा थी। प्रतीक मिट चुके थे, प्रचलित हो चुके थे, परिचित थे। इसलिए महावीर का बहुत क्रांतिकारी व्यक्तित्व भी क्रांतिकारी मालूम न हुआ, कारण उनके प्रतीक जिनका उन्होंने प्रयोग किया, अतीत से आए थे। बुद्ध का व्यक्तित्व उतना क्रांतिकारी न था जितना महावीर का, किन्तु वे ज्यादा क्रांतिकारी मालूम हो गए। उन्होंने जो भाषा चुनी वह भविष्य की थी। इसलिए उनका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा, व्यापक और गहरा होता गया, और अनुमान है व्यापक और गहरा होता रहेगा। [illegible] में बुद्ध के प्रभाव के निरन्तर बढ़ते जाने की अधिक संभावना की जा सकती है। पश्चिम पर यह प्रभाव हावी होता जा रहा है।

कहा जा चुका है कि महावीर ने आत्मा को स्वीकार किया है किन्तु बुद्ध ने आत्मा को इनकार कर दिया है। बुद्ध ने कहा, आत्मा नहीं है। महावीर ने इनकार किया परमात्मा को, कहा—परमात्मा नहीं है, मैं ही हूँ। बुद्ध ने परमात्मा की बात ही नहीं की। इनकार करके स्वीकार ही नहीं माना। यहाँ तक कि उन्होंने 'मैं हूँ' को भी इनकार कर दिया और कहा कि जो [illegible] पूर्ण इनकार को उपलब्ध हो जाता है, वही निर्वाण हो जाता है। [illegible] वहीं पहुँच रही है जहाँ व्यक्ति अनुभव कर रहा है कि व्यक्ति होना ही एक भ्रान्ति है। [illegible] भी विदा हो जाता

चाहिए, इसकी भी कोई आवश्यकता नही। अहकार—'इगो'—भी एक चीज है, फिर भी महावीर ने जो व्यवस्था की उसमे मोक्ष पाने का खयाल है, ऐसा मालूम पड़ता है कि उसमे एक उद्देश्य, एक लक्ष्य है। महावीर ने जो प्रतीक चुने है, उनकी वजह से ऐसा मालूम पडता है कि मोक्ष एक लक्ष्य है। उनके लिए भावना करो, तपस्या करो तो मोक्ष मिलेगा। बुद्ध ने कहा कि जब तक लक्ष्य की भाषा है तब तक इच्छा है, वासना है, तृष्णा है। लक्ष्य की बातें न करो। उसका मतलब हुआ कि अभी जियो, इसी क्षण मे जियो—कल की बात मत करो। पुरानी दुनिया गरीब दुनिया थी और गरीब दुनिया कभी भी वर्तमान मे—इस क्षण मे—नही जी सकती। गरीब दुनिया को हमेशा भविष्य मे जीना पडता है। लेकिन दुनिया बदल रही है, समृद्ध दुनिया पैदा हो रही है। अमरिका मे धन इस बुरी तरह बरस पड़ा है कि अब कल का कोई सवाल नही। बुद्ध की यह बात कि 'आज, इसी क्षण जियो' सार्थक हो जायगी। गरीब दुनिया स्वर्ग बनाती है आगे। उस स्वर्ग मे ही तृप्तियाँ है। यहाँ तो सुख मिलता नही, इसलिए गरीब सोचता है कि मरने के बाद—स्वर्ग मे—सुख मिलेगा। समृद्ध दुनिया आगे स्वर्ग नही बनाती। वह आज ही बना लेती है, इसी वक्त बना लेती है। हिन्दुस्तान का स्वर्ग भविष्य मे होता है, अमरिका का स्वर्ग अभी और यही। इसी कारण हमे ईर्ष्या होती है, हम गालियाँ देते है, निन्दा करते है। उसका स्वर्ग अभी बना जा रहा है, हमारा मरने के बाद बनेगा। पक्का भरोसा नही कि वह बनेगा कि नही बनेगा। बुद्ध ने जो सदेश दिया वह तात्कालिक जीने का है, इसी क्षण जीने का है। महावीर का जो सदेश है, वह मन के संकल्प का है। संकल्प तनाव मे चलता है और इसकी प्रक्रिया तनाव की प्रक्रिया है, परम तनाव की। मजे की बात यह है कि सभी चीजे अगर अपनी पूर्णता तक ले जाई जायँ तो वे अपने से विपरीत मे बदल जाती है। यही नियम है। अगर आप तनाव को उसकी अति पर ले जाएँ तो विश्राम शुरू हो जाता है। दृष्टातरूप मे आप अपनी मुट्ठी बाँधे और पूरी ताकत लगा दे उसे बाँधने मे। जब आप के पास ताकत न बचेगी तो मुट्ठी खुल जायगी और आप मुट्ठी को खुलते देखेगे। तब आप बाँध भी नही सकेगे उसे, क्योकि सारी ताकत तो आप लगा चुके है। हाँ, धीरे से मुट्ठी बाँधें तो वह खुल नही सकती अपने आप, क्योकि ताकत आपके पास सदा शेष है जिससे आप उसे बाँध रखेगे।

महावीर कहते है कि सकल्प पूर्ण कर दो। इससे इतना तनाव पैदा होगा कि तनाव की आखिरी सीमा आ जायगी और फिर तनाव समाप्त हो जायगा, शिथिल हो जायगा। ले जाते है वे भी विश्राम की ओर, लेकिन उनका मार्ग है पूर्ण तनाव से भरा हुआ—पूर्ण तनाव, ताकि हम तनाव से बाहर निकल आएँ। बुद्ध कहते हैं, जितना भी तनाव है उससे पीछे लौट आओ, तनाव छोड दो, तभी विश्राम आता है।

हमारी सदी के लिए महावीर की भाषा दुर्बोध है। हम तनाव पसंद नहीं करते। तनाव वैसे ही बहुत ज्यादा है। इसलिए मैं कहता हूँ कि भविष्य की जो भाषा है वह बुद्ध के पास है। पश्चिम का महावीर की यह भाषा मान्य न होगी कि संकल्प करो तपश्चर्या करो। पश्चिमगामी कहेंगे, हम मरे जा रहे हैं वैसे ही, अब हम पर कृपा करो, विश्राम दो।

महावीर के पहले तेईस तीर्थंकरों के समय काल में आदमी प्रकृति के परम विश्राम में जा रहा था। उसके जीवन में न कोई तनाव था, न कोई चिन्ता थी। उस स्थिति में संकल्प का बढ़ाकर तनाव का पूर्ण करने की बात ही अपील कर सकती थी। तो वह चल पड़ी। फिर एक संक्रमण[1] आया। उस संक्रमण में महावीर बहुत प्रभावी न हो सके। यहाँ तक कि जो लोग उनके पीछे गए वे भी उनको मान न सके। वह नाम मात्र की यात्रा रही। नए लोग भी उस दिशा में जाने को राजी न हुए। राज राज मगठन क्षीण होता गया। यह सही है कि आज भी श्वेताम्बर जैन मुनियों की संख्या काफी है परन्तु ये जैन मुनि महावीर से बहुत दूर हैं। इन्होंने बहुत समझौते कर लिये हैं परन्तु जिन्होंने समझौते नहीं किए वे दिगम्बर जैनमुनि मुश्किल से बीस-तीस बच रहे हैं। पूरे मुल्क में धीरे धीरे इनकी संख्या और भी कम होती जा रही है। तीस पचीस वर्षों में ये जैन मुनि भी मर जायेंगे और सारे देश में एक भी दिगम्बर जैन मुनि नहीं रह जायगा। जो दिगम्बर मुनि आज जीवित हैं उनमें से कोई भी शिक्षित नहीं है। चूँकि एक अर्थ में ये पुरानी सदी के लोग हैं इसलिए राजी भी हैं। एक भी शिक्षित आदमी को, ठीक आधुनिक शिक्षा पाए हुए आदमी को, दिगम्बर जैन मुनि नहीं बनाया जा सका अब तक, बन नहीं सकता। उत्तर का एक भी जैन मुनि नहीं है दिगम्बरों के पास। जो हैं, वे अशिक्षित हैं बिल्कुल कम समझ के लोग हैं ग्रामीण हैं। सब पचास वर्ष से ऊपर उम्र के लोग हैं जो बीस पच्चीस वर्षों में विदा हो जायेंगे। श्वेताम्बर मुनि की संख्या बची है बढ़ती है क्योंकि वक्त के साथ वह भाषा को बदलता रहा है समझौते करता रहा है समझौते का तरकीबें निकालता रहा है। कल वह गाड़ी में बैठने लगेगा परसों वह हवाई जहाज में उड़ेगा। वह सब समझौते कर लेगा। वह समझौते करके ही बच रहा है।

महावीर की साधना सार्थक हो, इसके लिए एक ही उपाय है कि उसे भविष्य की भाषा में पूरा का पूरा रख दिया जाय। महावीर के ऊपर बहुत पुराना 'कवर' है अब उनपर नई जिल्द होनी चाहिए। महावीर की धारा का इतना अद्भुत अर्थ है कि वह खो जाय तो नुकसान होगा—सारी मानवजाति का अहित होगा। कवर बदलने

---

1 गमन, भ्रमण। दे० म० मे० द०, प० ६२।

से जैनियो को नुकसान होगा, महावीर की धारा का अर्थ खो जाने से मानव-जाति का नुकसान होगा। इसलिए हमे जैनियो के नुकसान की चिन्ता नही करनी चाहिए। मनुष्य-जाति की समृद्धि मे महावीर आगे भी सार्थक हो, यही मेरी कामना है।

मैंने कहा है कि महावीर की साधना पूर्ण संकल्प की साधना है। परन्तु जैन-परम्परा उसे दमन की साधना कहती है। दमन शब्द सार्थक नहीं, खतरनाक है। अब फ्रायड के बाद जिस साधनापद्धति ने दमन का प्रयोग किया, वह पद्धति उस शब्द के साथ ही दफना दी जायगी। महावीर की साधना दमन की साधना नही है। असल मे दमन का अर्थ ही और था तब। फ्रॉयड ने पहली बार दमन को नया अर्थ दिया। उन दिनो 'कायाक्लेश' शब्द का हम उपयोग करते थे। वह अब भी सार्थक है। अगर महावीर के शरीर को देखो तो तुम्हे पता चल जायगा कि तुम्हारी कायाक्लेश की बात नितान्त नासमझी की बात है। हाँ, अपने मुनियो को देखो तो पता चलता है कि कायाक्लेश सच है। महावीर की काया को देखकर लगता है कि अपनी काया को सँवारनेवाला ऐसा आदमी अन्यत्र हुआ ही नही। ऐसी सुन्दर काया न तो बुद्ध के पास थी और न क्राइस्ट के पास। इतना सुन्दर होने की वजह से ही वे नग्न खडे हो सके। असल मे नग्नता को छिपाना कुरूपता को छिपाना है। हम सिर्फ उन्ही अगो को छिपाते है जो कुरूप है।

महावीर कायाक्लेश किसी और ही बात को कहते है। जो सुबह घंटे भर व्यायाम करता है, वह आदमी भी कायाक्लेश ही करता है। वह पसीने-पसीने हो जाता है, शरीर को थका डालता है। और एक वह भी कायाक्लेश करता है जो एक कोने मे विना खाए-पिए, नहाए धोए पडा रहता है। लेकिन जहाँ पहला आदमी काया के स्वास्थ्य और सौन्दर्य के लिए ही कायाक्लेश करता है, दूसरा आदमी काया का दुश्मन है और उसका कायाक्लेश शरीर को कुरूप बना देता है। महावीर कहते है कि काया का श्रम काया के लिए ही है। काया को सुन्दर-स्वस्थ रखने के लिए श्रम उठाना ही पडेगा। इसी प्रकार 'उपवास' का अर्थ है, अपने पास रहना, आत्मा के पास रहना, जैसे 'उपनिषद्' का अर्थ है गुरु के पास बैठना। लेकिन अब उपवास का अर्थ अनशन—'न खाना'—हो गया है। न खाने पर जोर देना दमन पर जोर देना है। चार-चार महीने तक कोई आदमी विना खाए नही रह सकता, लेकिन उपवास मे रह सकता है। उपवास का मतलब है अपनी आत्मा में इतना लीन हो जाना कि शरीर का बोध ही न रहे। शरीर का पता हो तो भोजन की आवश्यकता होती है। लेकिन उपवास मे दिन बीत जाते हैं, राते बीत जाती है, परन्तु शरीर का बोध नही होता।

उपवास से अनशन बिलकुल उलटा है। दोनो मे भोजन नही किया जाता, लेकिन जहाँ अनशन मे आदमी शरीर के पास ही रहता है, उपवास मे उसे शरीर की सुधबुध

नहा रहती। अनशन करनेवाले लोग दिन भर, मन ही मन खाते रहते हैं उनके मन म भोजन चलता रहता है। अगर महावीर ने चार चार महीने के उपवास किए हैं तो यह इस बात का सबूत है कि उनके पास भारी बलिष्ठ शरीर था, साधारण नहीं। तभी तो ऐसे उपवास के बाद भी उनका शरीर बचा रहा। उपवास का मतलब है कि आत्मा और चेतना एकदम भीतर चली जाय और उपवास करनेवाले साधक को बाहर का खयाल ही न रहे। जब आप भीतर चले जाते हैं तो बाहर का स्मरण ही छूट जाता है। शरीर इतना अदभुत यन्त्र है कि जब आप भीतर रहते हैं आपका शरीर सावधान हो जाता है अपनी व्यवस्था आप ही पूरी कर लेता है। आपको कोई चिंता करने की जरूरत नहीं। शरीर की साधना का मतलब है कि जब आप भीतर चले जायें तो आपके शरीर को आपकी कोई जरूरत न रह वह अपनी व्यवस्था आप कर ले। कायाक्लेश का अर्थ है काया की ऐसी साधना कि वह बाधा न रह जाय, प्रत्युत साधन हो जाय, सीढ़ी बन जाय। लेकिन 'कायाक्लेश' शब्द खतरनाक है इसलिए ऐसी साधना को 'कायाक्लेश' मत कहो, इसे कायासाधना कहो। क्लेश' शब्द अनुपयुक्त है, उसमें ऐसा भासित होता है कि तुम शरीर को सता रहे हो। उपवास को न खाना मत कहो, अनशन मत कहो—उपवास को कहो आत्मा के निकट होना। अनशन करने से उपवास नहीं होता, उपवास करने से अनशन हो जाता है। यह बात खयाल म आ जाय तो महावीर की धारा के खो जाने का कोई कारण नहीं रहेगा। यह भी ध्यान रहे कि महावीर जैसा आदमी दुबारा नहीं होता। उस आदमी को पैदा होने के लिए जो पूरी हवा और वातावरण चाहिए वह दुबारा असम्भव है। जोरोस्टर कनफ्यूशियस, मिलरेपा-जैसे लोग नहीं खोने चाहिए। अलग अलग कोणों से पहुँच कर उन्होंने ऐसी चीज पाई है जो बचनी ही चाहिए। वे ही मनुष्य-जाति की असली सम्पत्ति हैं। लेकिन जो उनके रक्षक मालूम पड़ते हैं व ही उनको खोए दे रहे हैं।

२

महावीर के जन्म से लेकर उनकी साधना-काल के शुरू होने तक कोई स्पष्ट घटना का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। जीजस की जीवनी म भी पहले तीस वर्षों के जीवन का कोई तथ्यपूर्ण उल्लेख नहीं है। इसके पीछे बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण है। महावीर जसी आत्माएं अपने पिछले जन्म म ही अपनी यात्रा पूरी कर चुकी होती हैं, उनके लिए घटनाओं का जगत समाप्त हो चुका होता है। स्वयं की किसी वासना के कारण वे इस जन्म म नहीं आते। इस जन्म म आने की प्रेरणा म सिर्फ उनकी करुणा ही कारण होती है। जो उन्होंने जाना है जो उन्होंने पाया है उसे बाटने के अतिरिक्त इस जन्म म उनका और कोई काम नहीं होता। ठीक स समझें तो तीर्थंकर

होने का अर्थ ही है ऐसी आत्मा होना जो अब सिर्फ मार्ग दिखाने को पैदा हुई हो। और जो अभी स्वय ही मार्ग खोज रहा हो वह मार्ग नही दिखा सकता। मार्ग क्या है, इसका पता मार्ग पर चलने से नहीं, मजिल पर पहुँच जाने से लगता है। चलते समय तो सभी मार्ग ठीक ही मालूम होते हैं। उस समय यह जाँचने की कसौटी भी नही होती कि जिस मार्ग पर चल रहे है, वह ठीक है या नही। मार्ग के ठीक होने की एक ही पहचान है कि वह मजिल तक पहुँचा दे। लेकिन जो मजिल पर पहुँच जाता है, उसका मार्ग समाप्त हो जाता है। ध्यान रहे कि मजिल पर पहुँच जाना उतना कष्टसाध्य नही है जितना मजिल पर पहुँचकर मार्ग पर लौट आना। मुक्ति के मजिल पर पहुँचते ही मुक्तात्माएँ खो जाती है निराकार मे। लेकिन थोडी-सी आत्माएँ फिर अँधेरे पंथो पर वापस लौट आती हैं। ऐसी ही आत्माएँ तीर्थंकर कहलाती है। किसी-किसी परम्परा मे ये अवतार ईश्वरपुत्र या पैगम्बर के नाम से सम्बोधित होती हैं।

पैगम्बर, तीर्थंकर, अवतार का एक ही अर्थ है—ऐसी चेतना जिसका काम पूरा हो चुका और जिसके लिए लौटने का कोई कारण नहीं रह गया। फिर भी ऐसी चेतनाएँ परम विश्राम के क्षण मे भी मजिल पर न रुककर वापस लौट आती है। ऐसी ही आत्माएँ मार्गदर्शक होती है।

तीर्थ कहते है उस घाट को जहाँ से पार हुआ जा सके। अत तीर्थंकर है उस घाट का मल्लाह जो पार करने मे सहायता करे, रास्ता बताए।

इस जन्म मे महावीर का और कोई प्रयोजन नहीं है अब। इसलिए उनके बचपन का सारा जीवन घटनाओ से शून्य है। आम तौर से जिन्हे हम विशिष्ट पुरुष कहते है, उनके बचपन मे विशिष्ट घटनाएँ नही घटती। चारो ओर चुप्पी होती है। वे चुपचाप बडे हो जाते है और उस क्षण की प्रतीक्षा करते होते हैं जब वे उसे देने मे समर्थ हो सकेंगे जिसे देने के लिए उनका जन्म हुआ है। मेरी दृष्टि मे महावीर को वर्धमान का नाम इसलिए मिला। वे वर्धमान इसीलिए नही कहलाए कि पैदा होने से उनके घर मे सब चीजो की बढती होने लगी, धन बढने लगा, यश बढने लगा। उनके नाम की अर्थवत्ता इसमे है कि वे चुपचाप बढने लगे और उनके आसपास कोई घटना न घटी। उनका बढना उतना ही चुपचाप था जितना पौधो का बडा होना या कलियो का फूल बनना होता है। पौधे बडे होते है, कलियाँ खिलती है, पर इसके लिए कही कोई शोरगुल नहीं होता, आवाज नही होती। महावीर का चुपचाप बढना दिखाई पडने लगा होगा, क्योकि घटनाओ का न घटना बहुत बडी घटना है। ऐसा भी कोई व्यक्ति है जिसके जीवन मे कोई घटना न घटी हो, जो इतना चुपचाप बढने लगा हो कि चारो तरफ कोई वर्तुल पैदा न हुआ हो समय मे, क्षेत्र मे ? घटनाओ के न घटने से महावीर की विशिष्टता जाहिर हो गई होगी। शिक्षक उन्हे पढाने आए होंगे और

उन्होंने इनकार कर दिया होगा। उन्हें पढ़ने की जरूरत नहीं। शिक्षक जो पढ़ा सकते हैं, वे उसे पहले से ही जानते हैं। इसलिए कोई शिक्षा न हुई। शिक्षा ग्रहण करने का कोई कारण भी न था कोई अर्थ भी न था।

महावीर के जन्म के सम्बन्ध में एक अर्थपूर्ण गाथा है। कहा जाता है कि वे ब्राह्मणी के गर्भ में आए और देवताओं ने उन्हें एक क्षत्रिया के गर्भ में पहुँचा दिया। यद्यपि यह तथ्य नहीं कि देवताओं ने एक स्त्री का गर्भ निकाला और उसे दूसरी स्त्री में रख दिया, फिर भी बात बड़ी गहरी है। इससे पहली सूचना तो यह मिलती है कि महावीर का पथ पुरुष का, आक्रमण का, क्षत्रिय का पथ है। उनका जो व्यक्तित्व है उनकी खोज का जो पथ है वह क्षत्रिय का है। इस अर्थ में क्षत्रिय का है कि वह जीतनेवाले का है। इसी कारण महावीर जिन कहलाए। जिन का मतलब है जीतने वाला वह पुरुष जिसका और कोई पथ नहीं सिवा जीतने के। और इसीलिए उनकी पूरी परम्परा जैन हो गई।

गाथा कहती है कि महावीर ब्राह्मणी के गर्भ से निकाल कर एक क्षत्राणी के गर्भ में डाल दिए गए।[1] इस प्रकार वे ब्राह्मण होने से बचे। ब्राह्मण का मार्ग न तो परमात्मा से लड़ने का है और न समर्पण करने का। वह कहता है—परमात्मा से लड़ोगे? असंभव है। समर्पण करोगे? किसके प्रति? उसका अभी कोई पता नहीं। हम दीन हीन लोगों के पास समर्पण के लिए है क्या? और छीनेंगे कैसे? एक ही मार्ग है कि हम हाथ फैला दें विनम्रता से और उसकी भिक्षा स्वीकार करें।

अत ब्राह्मण की वृत्ति भिक्षुक की है और उसका मार्ग भीख मांगने का। महावीर जैसा व्यक्ति जीतेगा मांग नहीं सकता। इसलिए यदि ऐसा व्यक्ति ब्राह्मणी के गर्भ में आ भी जाय तो देवताओं को उसे हटाकर किसी क्षत्रिया के गर्भ में रख देना पड़ेगा। महावीर का व्यक्तित्व ही जन्मना क्षत्रिय का है। वे किसी के सामने हाथ नहीं फैला सकते परमात्मा के सामने भी नहीं वे जीतेंगे, इसी में उनके जीवन की साधना है। उन दिनों देश में जो सर्वाधिक प्रभावी परम्परा थी वह ब्राह्मणों की थी, असहाय बनकर मांगने वालों की थी। इसमें सन्देह नहीं कि असहाय होना बड़ी अद्भुत प्रतीति है। वह भी एक मार्ग है लेकिन वह मार्ग बुरी तरह पिट गया था। जो अनिवार्य घटना घट गई थी वह यह थी। यद्यपि मार्ग तो था असहाय होने का तो भी उसकी परम्परा इतनी गाढ़ी और मजबूत हो गई थी कि असहाय ब्राह्मण ही सबसे ज्यादा अहंकार गहरा पर था। ब्राह्मण होने का जो मौलिक धारणा थी

---

[1] देवानन्दा ब्राह्मणी का अवस्थापिनी निद्रा में सुलाकर हरिनैगमेषी ने महावीर का गर्भहरण किया था। कल्पसूत्र २ २० पृ० ८८ अ। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज (१९६), पृ० ३४६ (पादटिप्पणी)।

वह खंडित हो चुकी थी। ब्राह्मण गुरु हो गया था, वह अपने को ज्ञानी समझने लगा था, वह सबके ऊपर बैठ गया था। इस परम्परा को तोड़ देना जरूरी था। इसे ही एक प्रतीक के रूप मे कहा गया है कि ब्राह्मणी का गर्भ अब महावीर-जैसे व्यक्ति को पैदा करने मे असमर्थ हो गया था। ब्राह्मण की दिशा से महावीर-जैसे व्यक्ति के होने की सम्भावना न थी। अत उन दिनो जो सघर्ष हुआ, वह बहुत गहरे मे ब्राह्मण और क्षत्रिय के मार्ग का सघर्ष था।

यह भी सोचने की बात है कि जैनो के चौबीसो तीर्थंकर क्षत्रिय है। असल मे वह मार्ग ही क्षत्रिय का मार्ग है। लोग पूछते है कि क्या क्षत्रिय के अलावा और कोई तीर्थंकर नही हो सकता? नही हो सकता। चाहे वह बेटा ब्राह्मणी के ही गर्भ से क्यो न पैदा हो, वह होगा क्षत्रिय ही। तभी वह उस मार्ग पर जा सकता है। वह मार्ग आक्रमण का है, विजय का है और वहाँ भाषा आक्रमण और विजय की है।

दूसरी बात जो लोग निरतर पूछते है, यह है कि क्या गरीब का बेटा तीर्थंकर नही हो सकता? इस सम्बन्ध मे ध्यान रहे कि तीर्थंकरो मे सब के सब राजपुत्र थे—क्षत्रिय और राजकुल के थे। यह भी बहुत अर्थपूर्ण है कि जिसने अभी इस ससार को नही जीता, वह उस ससार को कैसे जीत सकता है? राजपुत्र इस अर्थ के सूचक है कि जीतनेवाला कुछ भी जीतेगा और जब वह इस (ससार) को जीत लेगा तब उसकी नजर उस ससार की तरफ उठेगी। जब वह इस लोक को जीत लेगा तब उस लोक को जीतेगा। जीत के मार्ग मे पहले यही लोक पडता है। ब्राह्मण इस लोक मे भी भिक्षा माँगेगा, उस लोक मे भी। वह मानता ही यह है कि जो मिलना है वह प्रभु की कृपा से ही मिलेगा। उसके लिए आक्रमण का प्रश्न ही नही उठता। वह है माँगनेवाला, क्षत्रिय है जीतनेवाला। एक दान और दया मे लेगा; दूसरा दुश्मन को समाप्त करके लेगा। इसलिए महावीर के जन्म की कथा बडी मीठी है। वह यह बताती है कि ब्राह्मण की जो कोख थी, वह बाँझ हो गई थी। उसमे महावीर-जैसा व्यक्ति पैदा नही हो सकता था। ब्राह्मण का मार्ग कुठित हो गया था, उसकी परम्परा क्षीण हो गई थी। उसके विरोध मे बगावत जरूरी थी। वह बगावत क्षत्रिय ही कर सकते थे, क्योकि बगावत हमेशा ठीक विपरीत से ही आती है। इसी प्रकार महावीर और बुद्ध द्वारा छोडी गई परम्परा भी काल-क्रम से—डेढ हजार वर्षो मे—सूख गई और जड हो गई। तब विपरीत ने फिर विद्रोह किया।

कहने की जरूरत नही कि गाथाओ ने जो प्रतीक चुने हैं वे बड़े अर्थपूर्ण है। इन प्रतीको को जो जडता से, तथ्यो की भाँति, पकड लेता है वह बिलकुल भटक जाता है।

महावीर के सम्बन्ध मे अनेक—अनेक गाथाएँ प्रचलित है। ये सब की सब प्रतीकात्मक हैं, सत्य है। और चूँकि ये सत्य है, इन्हे गाथाओ मे—'मिथ' मे—कहा गया है और इनकी भाषा प्रतीको से भरी है। याद रहे कि सत्य को तथ्य की भाषा

में नहीं कहा जा सकता। यदि सत्य को तथ्य की भांति रखें तो वह इतिहास बन जाता है। तथ्य के सभी द्वार सत्य में जाते हैं, लेकिन जो तथ्य को पकड़ लेता है वह वहीं अटककर रह जाता है। तथ्य सत्य की सबसे बाहरी परिधि है, सबसे बाहरी परकोटा है। तथ्य सत्य नहीं है, सिर्फ सत्य की सम्भावना है। जीवन बहुत जटिल है, इसलिए हम एक ही तथ्य को बहुत तरह से देख सकते हैं।

दिगम्बर कहते हैं कि महावीर अविवाहित रहे। श्वेताम्बरों की धारणा है कि वे न केवल विवाहित थे बल्कि उनके एक बेटी भी थी। मेरा मानना है कि महावीर का विवाह जरूर हुआ होगा, लेकिन वे बिल्कुल अविवाहित की भांति रहे होंगे। जिन्होंने इस तथ्य को देखा उन्होंने कहा कि महावीर का विवाह हुआ था और जिन्होंने सत्य को—केवल सत्य को—देखा, उन्होंने घोषणा की कि वह आत्मा अविवाहित था। महावीर का अविवाहित होना एक सत्य है और विवाहित होना एक तथ्य। कोई व्यक्ति विवाहित होकर भी अपने मन से, चित्त से, वासना से अविवाहित हो सकता है। विवाहित होने की वासना है कि मैं अकेला काफी नहीं, अपने में पर्याप्त नहीं। दूसरा भी चाहिए जो आए और मुझे पूरा करे। पुरुष के बिना स्त्री खाली और अधूरी है। पुरुष आए और उसे भरे। दिगम्बरों ने ठीक ही कहा कि महावीर अविवाहित थे। महावीर में किसी से पूरे होने की कोई कामना हो न सकी थी, कहीं कोई अधूरापन न था। इस साधारण तथ्य के लिए कि उनका विवाह हुआ था, उन्हें विवाहित कहना घोर अन्याय है। हो सकता है कि पत्नी ने पति पाया हो, लेकिन महावीर ने पत्नी नहीं पाई। यह भी हो सकता है कि पत्नी ने इनसे संतान भी पाई हो। लेकिन महावीर न तो पिता थे और न पति। विवाह करने और संतान पैदा करने की घटना अत्यंत बाह्य तल पर घटी थी। भीतर महावीर पूर्ण थे। इसी पर जोर देने के लिए दिगम्बरों ने कहा कि इस आदमी ने कभी शादी नहीं की थी। लेकिन तथ्य यह था कि महावीर ने शादी की थी। उन्होंने शादी के लिए इनकार नहीं किया होगा। शादी के लिए आतुर व्यक्ति ही स्त्री को महत्त्व नहीं देता, वह व्यक्ति भी देता है जो शादी के लिए इनकार करता है। इनकार करनेवाला भी मानता है कि स्त्री भी कुछ है जो पास होगी तो मैं कुछ और हो जाऊंगा। महावीर इतने भरपूर थे कि इनकार करने तक का उपाय न था। ठीक है, स्त्री आती है तो आए, नहीं आती तो न आए। ये दोनों बातें अर्थहीन हैं। उनके जीवन की अन्य घटनाओं से भी लगता है कि यही बात सच रही होगी।

एक दिन महावीर ने अपने पिता से संन्यासी होने की आज्ञा मांगी। पिता ने कहा—मेरे रहते नहीं। और महावीर चुप हो गए। बड़े अद्भुत आदमी थे वे। सच, संन्यास को भी आज्ञा मांगनी पड़ती है? सुना है किसी बुद्धू को संन्यास के लिए आज्ञा मांगते? संन्यास की भावना का मतलब ही है कि [illegible]

व्यक्ति मोह-बन्धन से मुक्त होना चाहता है। फिर उसके लिए किसी की आज्ञा की क्या जरूरत ? जब पिताने आज्ञा न दी तो महावीर चुप हो गए और फिर उन्होंने इस सम्बन्ध मे बात तक न की। ऐसा लगा मानो सन्यास लेने या न लेने से उन्हे कोई बुनियादी फर्क न पडा। इसलिए उन्होंने जोर नही दिया—आज्ञा मिलती तो ठीक, न मिली तो ठीक ! पिता की मृत्यु के बाद मरघट मे लौटते वक्त उन्होंने अपने बडे भाई से सन्यास लेने की आज्ञा मॉगी। बडे भाई ने कहा—तुम पागल हो गए हो ! एक तो पिता जी के मरने का दुख और उस पर तुम्हारा सन्यास लेने का निश्चय ! वह भी यहाँ, रास्ते पर ! मुझसे ऐसी बात कभी मत करना। महावीर ने फिर कभी सन्यास की बात न की। लेकिन कुछ ही दिनो मे घर के लोगो को ऐसा एहसास होने लगा कि महावीर घर मे है और नही भी—उनका वहाँ होना न होने के बराबर है। महावीर इस प्रकार रहते मानो वे उस बडे भवन मे अकेले हो, कुछ पूछने पर 'हॉ' और 'ना' मे भी उत्तर नही देते, किसी पक्ष या विपक्ष मे नहीं पडते। तब घर के लोगो ने उनसे प्रार्थना की कि अब आपकी मर्जी हो तो आप सन्यास ले ले, क्योकि हमे तो ऐसा लगता है कि आप सन्यास ले ही चुके। हम क्यो इस पाप के भागीदार हो कि आपको रोक रखे ?

और महावीर निकल पड़े।

मेरी दृष्टि मे यह सत्य है कि महावीर विवाहित थे। परन्तु, उनके जैसा व्यक्ति पति कैसे हो सकता है ? पति होना एक तरह का दुर्व्यवहार है, एक प्रभुत्व है, स्वामित्व है। जो व्यक्ति जड वस्तु पर भी प्रभुत्व रखना नही चाहता, वह भला किसी जीवित व्यक्ति पर प्रभुत्व रखना चाहेगा ? ऐसी कल्पना ही असम्भव है।

हो सकता है, उन्हे लडकी भी जन्मी हो। परन्तु महावीर पिता न बन पाए। पिता की आकाक्षा अपनी सन्तान मे जीने की होती है, वह मरकर भी अपने पुत्रो और अपनी कन्याओ मे जीना चाहता है। बेटे मे बाप की महत्त्वाकाक्षाएँ जीती है, उसका अहकार पोषित होता है। महावीर-जैसे व्यक्ति मे मृत्यु के बाद भी जीवित रहने की आकाक्षा का सवाल ही पैदा नही होता। न अहकार है और न होने की तृष्णा। वे लौटे हैं वहाँ से जहाँ सब कुछ खो जाता है, जहाँ सारी कामनाएँ राख हो जाती है।

महावीर के सम्बन्ध मे ऐसी और भी बाते कही जाती है। जैसे एक वर्ग मानता है कि उन्होने वस्त्र पहन रखे थे, चाहे वह देवताओ का दिया हुआ वस्त्र हो या आँखो से न दिखाई पडनेवाला वस्त्र। दूसरे वर्ग की मान्यता है कि वे बिलकुल नग्न थे—किसी प्रकार का वस्त्र उनके शरीर पर न था। ये दोनो बाते एक साथ सच है। यह बिलकुल सच है कि महावीर ने वस्त्र छोड दिए थे। लेकिन उनकी नग्नता ऐसी न थी कि उसे ढाँकने के लिए वस्त्रो की जरूरत पडे। कोई वस्त्र पहनकर भी नगा हो सकता है, अपनी नग्नता प्रकट कर सकता है। सच तो यह

है कि नगा शरीर उतना नगा नहीं होता जितना वस्त्र उसे नगा कर देते हैं। पशुओं को देखकर उनकी नग्नता का खयाल नहीं आता, लेकिन पुरुषों और स्त्रियों के वस्त्र से उनके नगेपन का खयाल तत्काल आ जाता है। और इनसान ने ऐसे वस्त्र विकसित कर लिये हैं कि वे उसके शरीर को उघाडते हैं, ढाँकते नहीं। जो वस्त्र ढाँकता है उसे पसन्द ही कौन करेगा? जिस व्यक्ति के वस्त्रों को देखकर उन्हें और उघाडने की इच्छा जगे, वह व्यक्ति वस्त्र पहने हुए भी नगा है। इसके ठीक विपरीत महावीर की नग्नता है। जब कोई वस्त्रों में नगा हो सकता है तो कोई अपनी नग्नता में वस्त्र पहने हुए क्या नहीं हो सकता? महावीर बिलकुल नग्न थे लेकिन उनकी नग्नता भी वस्त्र बन गई थी वह किसी को भी नग्नता जैसी नहीं लगती थी। इसलिए एक कहानी बन गई थी कि महावीर के वस्त्र दिखाई नहीं पडते—उनके वस्त्र देवताओं से मिले थे उन्हें देवदूतों ने दिया था। ऐसी धारणा का पैदा हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। पर महावीर निपट नग्न थे। असल में निपट नग्न आदमी ही नग्नता से मुक्त हो सकता है। बुद्ध या क्राइस्ट जैसे लोग जिन्होंने वस्त्र पहन रखे थे, नग्न होने की उतनी ही हैसियत रखते थे जितनी महावीर। इनके भीतर भी कुछ छिपाने को न था। लेकिन हो सकता है दूसरों को उनकी नग्नता अरुचिकर लगे। दूसरों पर आक्रमण क्या करें? इसलिए उन्होंने दूसरों की आँखों पर वस्त्र डाल दिए, अपने शरीर पर नहीं। और परायी आँखों पर वस्त्र डालने का सबसे सरल उपाय यही था कि उन्होंने अपने ही शरीर पर वस्त्र डाल लिए। जब जमीन पर काँटे चुभते हैं तो सारी पृथ्वी को चमडे से न ढँककर अपने पैरों को ही चमडे से ढक लेना उचित होता है। सारी पृथ्वी को चमडे से ढँकने की सलाह निरर्थक है। अपने पैरों को चमडे से ढँक लें तो सारी पृथ्वी पर हम जहाँ भी जायँगे वहीं चमडा होगा। इसी तरह दूसरे की आँखों पर वस्त्र डालने की सबसे अच्छी तरकीब यही है कि अपने शरीर पर वस्त्र डाल लिये जायँ। सबकी आँखों पर वस्त्र डालना असम्भव है, क्योंकि पृथ्वी बहुत बडी है और इस पर रहनेवाले मनुष्यों की संख्या बेशुमार है।

मैं कहता हूँ—तथ्यों पर जोर सिर्फ नासमझ लोग देते हैं। समझदार का जोर सदा सत्य पर होता है। वे लोग जो कहते हैं कि महावीर कभी बूढे नहीं हुए और न कोई दूसरा तीर्थंकर कभी बूढा हुआ समझदार हैं और उनका बल सत्य पर है तथ्य पर नहीं। तथ्य यही होगा कि महावीर बूढे अवश्य हुए होंगे। जब मरना पडता है तो बूढा होना ही पडेगा। लेकिन सत्य कहता है कि महावीर कभी बूढे नहीं हुए। तथ्य की दृष्टि से यह असम्भव है इतिहास इसे स्वीकार नहीं करेगा, लेकिन मैं कहता हूँ कि गाथाशास्त्र[1] (मिथालजि) का पक्ष इतिहास से

---

[1] मिथकशास्त्र, पुराण—सं०

पकड की अपेक्षा अधिक गहरी है। लेकिन सत्य की अभिव्यक्ति के लिए उसे तथ्य छोड देने पडते हैं और कहानी गढनी पडती है। मेरी दृष्टि मे तथ्यो का भी मूल्य है अगर वे सत्य को बता पाएँ, अन्यथा उनका कोई मूल्य नही। सत्य की यात्रा मे वे मील के पत्थर हैं, जो गतव्य की ओर लक्ष्यकरते हैं। लेकिन कुछ नासमझ लोग मील के पत्थरो को ही पकडकर रुक जाते हैं, उन्हे ही अपना लक्ष्य समझ लेते हैं।

हो सकता है कि मेरी बाते आपको कुछ विचित्र लगे। यह कैसे हो सकता है कि कोई मैथुन की प्रक्रिया मे गुजरे, उनसे बेटी पैदा हो और वह स्वय वासना और तृष्णा से मुक्त रहे? इसके उत्तर मे मैं कहूँगा कि यदि भोजन द्रष्टा के रूप मे किया जा सकता है तो मैथुन क्यो नही? हम किसी भी क्रिया के साक्षी हो सकते हैं, चाहे वह क्रिया अन्तर्गामी हो या बहिर्गामी। असल मे जो भोजन शरीर मे जाता है, वही मैथुन मे शरीर से बाहर निकलता है। अगर चेतना साक्षी हो सके तो बात समाप्त हो जाती है, कर्ता मिट जाता है। केवल शरीर एक उपकरण बन जाता है। लेकिन साधारणत मैथुन मे आदमी बिलकुल खो जाता है, बेहोश हो जाता है। तब केवल शरीर ही उपकरण नही बनता, भीतर आत्मा भी सो गई होती है, मूर्च्छित हो गई होती है। और मैथुन का विरोध केवल इसीलिए है कि आत्मा की सर्वाधिक मूर्च्छा मैथुन मे ही होती है। अगर आत्मा अमूर्च्छित रह जाय तो बात खत्म हो गई। सुनना भी एक क्रिया है। अगर तुम साक्षी हो जाओ तो पाओगे कि सुनने के साथ-साथ तुम दूर खडे होकर सुनने को देख भी रहे हो। इसी तरह यद्यपि मैं बोल रहा हूँ, फिर भी पूरे वक्त यह जानता हूँ कि मेरे भीतर अबोला भी कोई खडा है। असल मे जो अबोला खडा है, वही मैं हूँ। स्वास चल रही है और अगर मैं इसे देख रहा हूँ तो स्वास का चलना या न चलना जगत् की विराट् व्यवस्था का हिस्सा हो गया और मैं क्रिया से भिन्न हो गया। हाँ, मैथुन मे साक्षी होना सर्वाधिक कठिन है। इसका कारण है कि यह एक ऐसी क्रिया है जिसे प्रकृति ने मनुष्य के ऊपर नही छोडी। यदि मनुष्य के ऊपर छोड दी गई होती तो वह ऐसी ऐब्सर्ड, ऐसी व्यर्थ और बेमानी क्रिया कभी न करता। इसीलिए प्रकृति ने इसके लिए बहुत गहरा सम्मोहन डाला है उसके भीतर। इसी सम्मोहन के प्रभाव मे सारा खेल चलता है। इसीलिए वह अपने को बिलकुल विवश पाता है। लेकिन यह सम्मोहन तोड़ा जा सकता है और इसको तोडने की विधियाँ हैं। सबसे बडी विधि साक्षी होना है। कृष्ण और महावीर-जैसी आत्माएँ मैथुन की प्रक्रिया मे भी निरपेक्ष द्रष्टा-मात्र रहती हैं, कर्ता नही बनती। गोपियो से घिरा रहना कृष्ण के लिए एक लीला है, खेल है, जिससे उनका कोई मतलब नही। ससार मे जीने के दो ही रास्ते है चाहे तो सोकर जियो या जागकर जियो। सोकर जीनेवाले भोजन भी सोकर करते है, कपडे भी नीद मे पहनते है, प्रेम और सम्भोग

से भी सोए हुए गुजरते हैं। कृष्ण और महावीर का मार्ग इसके विपरीत है। वह दूसरा मार्ग है जिस पर चलनेवाले लोग प्रत्येक क्रिया जागकर करते हैं।

यह स्वाभाविक है कि महावीर जैसा व्यक्ति हमारी समझ में मुश्किल से आए। वे भोगों से न तो भागते हैं और न उनमें उत्सुक हैं न उन्मुख हैं और न विमुख। न तो राग में हैं और न विराग में। इसलिए उन्हें वीतराग कहा गया है। राग और विराग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। हो सकता है कि हम राग की दुश्मनी में विरागी हो जायें या विराग की दुश्मनी में रागी बन जायें। लेकिन वीतराग वह है जिसमें न राग है और न विराग, जो सहज खड़ा रह गया है—न भागता है और न आता है न बुलाता है और न भयभीत है। महावीर के पीछे चलनेवाला साधक राग से विराग को पकड़ता है। वह अपने राग को बदलता है विराग में। विरागी सिर्फ उल्टा रागी है—शीर्षासन करता हुआ रागी। रागी बंधन का आतुर है विरागी बंधन से भयभीत है। लेकिन बंधन दोनों के केन्द्र में है। दोनों की नजरों में बंधन है। वीतरागी को पहचानना बहुत मुश्किल है, क्योंकि जाने पहचाने दायरे से उसको ताला नहीं हो सकती और वह रागी विरागी के चिर परिचित वर्गों के बाहर पड़ जाता है। द्वन्द्व को हम पहचान सकते हैं निर्द्वन्द्व को नहीं द्वैत को पहचान सकते हैं, अद्वैत को नहीं। महावीर के सताए जाने का जो लम्बा उपक्रम है उसमें भी उनकी वीतरागता ही कारण है। विरागी को इस मुल्क ने कभी नहीं सताया—रागी विरागी को कभी सता भी नहीं सकते, उल्टे वे सदा विरागी को पूजते हैं। लेकिन वीतरागी को दोनों सताते हैं, क्योंकि वे उस बेशर्त आदमी को समझ नहीं पाते। महावीर का जमाना महावीर को बिलकुल पहचान न सका। वे अपने युग के सभी मापदंडों से अलग खड़े थे, इसलिए उन्हें तौलना, उन पर लेबिल लगाना मुश्किल था।

महावीर अछूते थे बेशर्त थे इसलिए उन्हें पहचाना न जा सका। पूछने पर भी कि वे कौन हैं वे निरंतर मौन रहते। गाय का चरवाहा अपनी गाय और बैल उनके पास छोड़ जाता और कहता—देखना इन्हें मैं अभी लौट कर आता हूँ मेरी गाय खो गई है। महावीर नहीं कहते कि मैं नहीं देखूंगा। वे यह भी नहीं कहते कि मैं देखूंगा। वे निश्चल रहते मानो कुछ सुना ही नहीं। चरवाहा लौटकर देखता कि न तो उसकी गौएं हैं न उनका कहीं पता है। वह महावीर से पूछता, लेकिन वे वैसे ही खड़े रहते। वह मारपीट करता और महावीर उसे सह लेते। थोड़ी देर बाद गौएं लौट आतीं चर वापस आ जाते। चरवाहा दुखी होता और महावीर से क्षमा मांगता। तब भी वे वैसे ही खड़े रहते। ऐसे व्यक्ति को कौन समझ पाता ?

पीछे जिन्होंने शास्त्र रचे, उन्होंने कहा—महावीर बड़े क्षमाशील थे। कोई मारता था उन्हें तो वे उसे क्षमा कर देते थे। लेकिन शास्त्र रचनेवाले उन्हें समझ न पाए। क्षमा वही करता है जो क्रोध करता है। क्षमा क्रोध के बाद का हिस्सा है।

जब महावीर मे क्रोध ही नही तो क्षमा कौन करेगा, किसको करेगा ? वे राग-विराग के बाहर थे, चुनाव के बाहर थे, अच्छे-बुरे के बाहर थे। यही वीतरागता उनकी परम उपलब्धि है। यह जीवन का अन्तिम बिन्दु है, इसके ठीक बाद मुक्ति की यात्रा शुरू हो जाती है। वीतराग हुए बिना कोई मुक्त नही हो सकता। न तो रागी मुक्त होता है और न विरागी। रागी के मन मे विरागी के प्रति आदर का भाव होता है, वह विरागी की पूजा करता है, वह भी विरागी होना चाहता है। विरागी के मन मे रागी के प्रति ईर्ष्या होती है, वह सामने तो आत्मा-परमात्मा की बातें करता है किन्तु एकान्त मे निपट सेक्स की। दूसरी बात उसके चित्त मे होती ही नही। हो सकता है कि मधुशाला मे या वेश्या के घर बैठा हुआ आदमी सन्यासी हो जाय और कहे कि सब बेकार है।

परस्पर विपरीत ध्रुव एक-दूसरे को आकृष्ट करते ही हैं। इसी कारण रागी वैराग्य लेता है और विरागी रागी हो जाता है। पूरब विज्ञान की ओर और पश्चिम अध्यात्म की ओर आकृष्ट हो जाता है। जो इस जन्म मे रागी है, हो सकता है वह अगले जन्म मे विरागी हो जाय और जो इस जन्म मे विरागी है, वह अगले जन्म मे रागी हो जाय। आमतौर से लोग सोचते हैं कि इस जन्म मे जो संन्यासी है, उसने पिछले जन्म मे संन्यासी होने का अर्जन किया होगा। बात ऐसी नही है। इस जन्म मे जो विरागी है, वह पिछले जन्म मे राग के चक्कर मे घूमता रहा है।

जाति-स्मरण का प्रयोग महावीर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है। यह एक ऐसी ध्यान-पद्धति है जिससे व्यक्ति अपने पिछले जन्मो मे उतरकर देख सकता है कि वह क्या था। पिछले जन्मो को जानते ही आदमी बदल जाता है। वह पाता है कि यह सब तो मैं बहुत बार कर चुका, इससे उलटा भी कर चुका, मगर मुझे कुछ भी न मिला। न तो मैंने राग मे कुछ पाया और न विराग मे। न तो राजमहलो मे और न दीन-हीनो की झोपडियो मे, न तो पूरब के अध्यात्म मे और न पश्चिम के विज्ञान मे। जन्मो का ऐसा स्मरण हो जाय कि हम दोनो ओर घूम चुके हैं—राग की वैसी ही गहरी अनुभूति की है जैसी विराग की—तो तीसरा उपाय दीख पड़ सकता है। यह तीसरा उपाय महावीर की वीतरागता का उपाय है। अगर भोग नही, योग नही तो तीसरा रास्ता क्या है ? तीसरा रास्ता सिर्फ यह है कि हम दोनो के प्रति जाग जायँ। महावीर कहते है कि दोनो 'अतियो' मे बहुत घूम चुके। क्या कभी हम जागेंगे और उस जगह खडे हो सकेंगे जहाँ कोई 'अति' नही है, कोई विरोध या द्वन्द्व नही है ? वे कहते है कि सभी द्वन्द्व दूसरे से बाँधते है, इसलिए द्वन्द्व के प्रति जागने से वीतरागता उपलब्ध होती है। न काम और न ब्रह्मचर्य—तभी सच्चा ब्रह्मचर्य उपलब्ध होता है। न हिंसा और न अहिंसा—तभी सच्ची अहिंसा फलित होती है। महावीर की अहिंसा को समझना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि वह हिंसा

के विपरीत कोई अहिंसा नही है। हिंसा के विपरीत जो अहिंसा है, वह आज नही तो कल हिंसक हो ही जायगी। जहा न हिंसा रह गई और न अहिंसा, वही महावीर की अहिंसा है।

वीतरागता सारे मुक्त के लिए इसके कराडो लोगा के लिए कठिन तो है पर असम्भव नहा। इसके कठिन होने का सबस बडा कारण यह है कि यह कठिन मान ली गई है। हमारी धारणा ही चीजा को कठिन या सरल बनाती है। एक एक आदमी ने जिस जिस तरह के मानसिक बोझ को पकड रखा है उसकी वजह से वीतरागता कठिन हो गई है। जो स्वभाव है वह अतत कठिन नहीं हो सकता—विभाव ही कठिन हो सकता है। वह आनन्दपूर्ण है और उसकी एक झलक पाते ही हम कितने ही पहाड लाँघने को तयार हो सकते हैं। झलक जब तक नही मिलती तब तक कठिनाई है। और झलक राग और विराग मिलने नही देती। राग और विराग के द्वन्द्व की खिडकी जरा सी टूट जाय तो वीतरागता का आनन्द बहने लगता है। स्मरण रहे कि राग विराग म डोलता हुआ आदमी बहुत खतरनाक होता है। इसलिए नियम बनाने पडते हैं। परन्तु नियम बनानेवाले भी राग विराग म डोलते हुए आदमी होते है। वे उन लोगो से भी अधिक खतरनाक हैं जो केवल राग विराग म डोलते होते है। वीतरागता थोडी भी उपलब्ध हुई कि नियम अनावश्यक हो जाते है। चित्त जितना वीतराग होगा विवेक उतना ही पूर्ण होगा। वीतरागता पूर्ण हुई तो विवेक ही पूर्ण हुआ। वीतरागता के लिए किसी सयम की जरूरत नहीं, क्योकि विवेक स्वय ही सयम है। अविवेक के लिए सयम की जरूरत होती है। इसलिए सब सयमी अविवेकी होते हैं। जितनी बुद्धिहीनता होती है उतना ही सयम साधना पडता है। अब तक हमारा समाज बुद्धि की कमी को सयम से पूरा करने की कोशिश करता रहा है इसलिए हजारो साल हो गए कोई फक नही पडा। अगर लोग विवेकपूर्ण हो जाय तो समाज वसा नही होगा जैसा हम इसे समझते रहे है। पहली दफा ठीक अर्थों म समाज होगा। अभी क्या है? समाज है, व्यक्ति नहीं। व्यवस्था छाती पर बठी है और व्यक्ति नीचे दबा है। वीतराग चित्त से भरे हुए विवेकपूर्ण लोगो के समाज में व्यक्ति केन्द्र होगा, समाज गोण होगा और उससे केवल हमारे अतव्यवहार की व्यवस्था होगी। विवेकशील व्यक्ति का अन्तव्यहार किसी बाहरी सयम और नियम से नही चलेगा एव आतरिक अनुशासन से चलेगा। इसलिए मेरा कहना है कि समाज की व्यवस्था म व्यक्ति पर सयम थोपने की चेष्टा कम होनी चाहिए, विवेक देने की व्यवस्था ज्यादा होनी चाहिए। विवेक से सयम आता है, किन्तु सयम से विवेक नहा आता। सयम और नियम की व्यवस्था को सिर्फ आवश्यक बुराई समझना होगा।

लोग प्रश्न करते हैं कि यदि तीर्थंकर पहले जन्म म ही कृतकृत्य हो चुके होते हैं

इस सम्बन्ध में मूर्तियों के महत्त्व को समझ लेना जरूरी है। मूर्तियों का सबसे पहला प्रयोग पूजा के लिए नहीं, अशरीरी आत्माओं से सम्पर्क स्थापित करने के लिए किया गया था। यदि महावीर की मूर्ति पर कोई बहुत देर तक अपना चित्त एकाग्र करे और फिर आँख बन्द कर ले तो उस मूर्ति का निगेटिव उसकी आँख में रह जायगा। ऐसा प्रयोग सबसे प्रथम उन लोगों ने किया जो अशरीरी आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। यह निगेटिव महावीर की अशरीरी आत्मा से सम्बन्धित होने का मार्ग बन जायगा। ऐसा अनन्त काल तक हो सकता है। अशरीरी आत्माएँ भी करुणावश सम्बन्ध खोजने की कोशिश करती हैं। धीरे धीरे उनकी करुणा भी क्षीण हो जाती है। याद रहे कि करुणा उनकी अन्तिम वासना है। जब उनकी सभी वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं तब करुणा ही सिर्फ रह जाती है। लेकिन अन्त में करुणा भी क्षीण हो जाती है। इसलिए पुराने शिक्षक धीरे धीरे खो जाते हैं। उनकी करुणा के क्षीण होते ही उनसे सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो जाता है। महावीर से सम्बन्ध स्थापित करना आज भी सम्भव है, लेकिन उनके पहले के तेईस तीर्थंकरों में से किसी से भी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि महावीर अत्यन्त कीमती हो गए और शेष तीर्थंकर गैर ऐतिहासिक दीखने लगे। जिन परम्पराओं के शिक्षकों से आज भी सम्बन्ध स्थापित हो सकता है वे परम्पराएँ फल फूल रही हैं।

अब प्रश्न उठता है कि एक ही समय में दो तीर्थंकर क्यों नहीं होते? एक ही परम्परा में, एक ही समय दो तीर्थंकर नहीं होते। इसका कारण यह है कि यदि किसी परम्परा का एक साधक काम कर रहा है तो दूसरा तत्काल विलीन हो जाता है। उसकी कोई जरूरत नहीं होती। (जैसे एक ही कक्षा में एक ही समय दो शिक्षकों की कोई जरूरत नहीं होती।) करुणा पीछे भी काम कर सकती है और पीछे भी सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं। चीन के हाथ में तिब्बत के चले जाने से जो कुछ नुकसान हुआ, उस नुकसान को अभी भी नहीं नापा जा सकता। प्रतिवर्ष बुद्धपूर्णिमा के दिन तिब्बत के पाँच सौ विशिष्ट भिक्षु और लामा मानसरोवर के निकट एक विशेष पर्वत पर बुद्ध से निरन्तर सम्बन्ध स्थापित करते थे। यह हजारों वर्षों की एक निरन्तर गुप्त व्यवस्था थी। इस व्यवस्था का खात्मा हो गया। कहा जाता है कि ठीक पाँच सौ भिक्षुओं के मध्य में बुद्ध अपने पूरे रूप में प्रकट होते थे। यद्यपि यह भी सम्भव है। सूक्ष्म शरीर कभी भी स्थूलाकार ले सकता है और अगर बहुत लोग एकाग्रता से संकल्पित होकर भावना करें तो [illegible] वह साकार हो सकता है। इस शरीर अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं का बना हुआ होता है। विज्ञान के अणु [illegible] हैं लेकिन जितने सूक्ष्म आत्मिक जीवन में [illegible] उतने ही [illegible] अणुओं का [illegible] है जिन्हें मात्राणु कहना चाहिए। [illegible] आकांक्षा और एकाग्रचित्त भावना से [illegible] हो सकती है।

अन्त मे इस करुणा के महत्त्व पर गौर करें। मुक्ति के पहले सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती है। वस्तुत मुक्ति होती ही उस चेतना की है जिसकी सारी वासनाएं समाप्त हो गई हैं। लेकिन, अगर सारी वासनाएँ समाप्त हो जाएँ तो अमुक्त स्थिति और मुक्त स्थिति के बीच सेतु क्या होगा ? वह आत्मा, जिसकी समस्त वासनाएँ समाप्त हो गई है, अपने को पहचानने मे असमर्थ होगी, क्योंकि उसने अपने को वासना मे ही जाना था। इसलिए जब सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं तब सिर्फ सेतु की तरह एक वासना शेष रह जाती है। उसी वासना को मैं करुणा कह रहा हूँ। तीर्थंकर होना करुणा की वासना मे होता है

द्वितीय अध्याय

महावीर का 'त्याग' : पिछले जन्मों की साधना

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।[1]

आचारांगसूत्र, ३. ४. १२३

१

कहा जा चुका है तीर्थंकर की चेतना का व्यक्ति पूर्णता को छूकर लौट आता है। इसका अर्थ यह हुआ कि महावीर के लिए इस जीवन में करने को कुछ भी बाकी न रहा, सिर्फ देने को बाकी रहा। इस कथन की कई गहरी निष्पत्तियों में पहली निष्पत्ति यह होगी कि महावीर के सम्बन्ध में यह कहना कि उन्होंने त्याग किया बिल्कुल व्यर्थ है। महावीर ने कभी भी, भूलकर भी, कोई त्याग नहीं किया। त्याग दिखाई पड़ता है, लेकिन यह सत्य नहीं है। भोग से भरे हुए लोगों को किसी भी चीज का छूटना त्याग मालूम पड़ता है। भोगी चित्त कुछ भी छोड़ने में समर्थ नहीं है। वह सिर्फ पकड़ सकता है, छोड़ नहीं सकता। जब वह देखता है कि कोई व्यक्ति सहज ही छोड़ रहा है तो इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण और चमत्कारपूर्ण घटना उसे मालूम नहीं होती। लेकिन महावीर में न पकड़ने का भाव है और न त्यागने का भाव। जो पकड़ते ही नहीं, उनके छोड़ने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता।

महावीर को जिन लोगों ने देखा है और उनके त्याग की चर्चा की है, वे भोगी थे—इतना सुनिश्चित है। भोगी के मन में त्याग का बड़ा मूल्य है। जो हमारे पास नहीं होता उसका ही हमें सर्वाधिक बोध होता है और स्मरण रहे कि भोगी चित्त त्याग को भी भोग का ही उपकरण बनाता है। भोगी चित्त धन को ही नहीं पकड़ता, त्याग को भी पकड़ लेता है। वह पकड़ता इसलिए है कि चीजों के बिना उसे असुरक्षा मालूम पड़ती है। असुरक्षा का भाव जितना गहरा होता है उसकी पकड़ भी उतनी ही मजबूत होती है। लेकिन जिस चेतना को यह पता हो गया कि उसके अन्दर कोई असुरक्षा नहीं, वहाँ न कोई भय है [illegible] या मृत्यु। वह कुछ भी नहीं पकड़ता। पकड़ना था असुरक्षा की भावना के कारण, भय के कारण। असुरक्षा न रही तो पकड़ भी न रही। जो अपने भीतर प्रविष्ट हुआ है वह तो

---

१ प्रमादी को सर्वत्र भय है, अप्रमत्त कहीं भयभीत नहीं होता।

प्रतिक्षण, प्रतिपल इतने आनन्द से भर गया है कि उसे कल की चिन्ता नही होती, आज काफी है। ऐसा व्यक्ति पकडता ही नही। वस्तुत जिसको पकडने की आदत है उसकी पकड कभी नही जाती—वह छोड़ने को भी पकड लेता है। उसने कभी धन पकडा था, अव वह त्याग पकड लेगा ; उसने कभी मित्र पकडे थे, अव वह परमात्मा को पकडेगा , कल खाते-वही पकडे थे, आज वह शास्त्र पकडेगा। शास्त्र भी खाते-वही है और धर्म भी सिक्का है जो कही और चलता है। पुण्य भी मोहरे है जो कही और काम देती है।

पकडनेवाले चित्त से छुटकारा तभी मिलता है जव यह दिखाई पड़ जाय कि मै किसी का, किसी भी वस्तु का, स्वामी नही हूँ। यदि मैं कहूँ कि मै अव इस मकान का स्वामी न रहा, मैंने इसका त्याग किया, तो प्रश्न उठेगा—मैं ही त्याग कर रहा हूँ न ? और क्या त्याग मैं उसका कर सकता हूँ जो मेरा ही नही ? स्पष्ट है कि त्याग करनेवाला यह मानकर चलता है कि मकान मेरा है। चित्त को जव यह वोध हो जाय कि यहाँ अपना कुछ नही तव उसमे रूपातरण हो जाता है और तव कुछ त्यागना और छोडना नही पडता। जो मेरा नही है, उसका त्याग क्या ? अगृही से उस व्यक्ति का वोध नही होता जिसने घर छोड दिया है। वह तो वह ज्ञानी है जिसने पाया कि मेरा कोई घर नही। सन्यासी उसे नही कहते जिसने अपनी पत्नी का त्याग किया। सन्यासी वह है जिसने पाया कि मेरी कोई पत्नी नही। कहने का तात्पर्य यह कि महावीर ने कुछ त्याग नही किया, जो उनका नही था, वह दिखाई पड गया। इसलिए यह कहना निरर्थक है कि वे सव छोडकर चले गए। वे जानकर चले गए कि कुछ भी उनका नही है।

एक वार वादशाह इब्राहीम के राजमहल के दरवाजे पर एक सन्यासी शोरगुल मचाने लगा। उसने पहरेदार से कहा, मुझे भीतर जाने दो, मैं इस सराय मे ठहरना चाहता हूँ। पहरेदार को हँसी आ गई और उसने सन्यासी को पागल समझा। परन्तु सन्यासी न रुका। वह राजमहल के अन्दर पहुँचा ही था कि इब्राहीम ने, जो उसकी वाते सुन रहा था, कहा तुम कैसे आदमी हो जो सराय और राजमहल मे अन्तर नही देखते ! यह सराय नही, मेरा महल है। सन्यासी ने जवाव दिया मैंने समझा था कि आपका पहरेदार नासमझ है; आप भी वैसे ही है। पहरेदार क्षमा के योग्य है, आखिर वह पहरेदार ही है। आपको भी यही खयाल है कि यह आपका निवास-स्थान है ? सम्राट् ने कहा खयाल ? नही यह मेरा घर है, यही असलियत है। सन्यासी ने कहा वडी मुश्किल मे पड गया मै ! दस साल पहले भी किसी ने कहा था, यह महल मेरा ही है। इब्राहीम ने कहा वे मेरे पिता थे, उनका देहावसान हो गया। तव उस फकीर ने कहा मै उनके पहले भी आया था, तव एक और वूढे ने इस महल को अपना वतलाया था। वह भी इसी जिद मे था कि यह महल

मेरा है। जब इस प्रकार हम महल के मालिक बदल जाते हैं तो इसे सराय कहना ही उचित होगा। मैं फिर आऊंगा कभी। पक्का है तुम मिलोगे ? इब्राहीम ने उस फकीर के पैर छुए और कहा तुम ठहरो मैं जाता हूँ। मुझे यह दिखाई पड़ गया कि यह महल नहीं, सराय है। सराय का कोई त्याग करता है ? नहीं, सराय में ठहरता है और विदा हो जाता है।

अपने जन्म के साथ ही महावीर ऐसे बोध को लेकर पैदा हुए थे। इस बोध के लिए सम्पत्ति के त्याग की जरूरत नहीं, जरूरी है सम्पत्ति के सत्य का अनुभव। प्रश्न संग्रह और त्याग का नहीं, प्रश्न सत्य के अनुभव का है। 'यह मेरा महल नहीं, सराय है'—ऐसा बोध त्याग बनता है ऐसा त्याग किया नहीं जाता। इसलिए ऐसे त्याग के पीछे कर्ता का भाव नहीं होता और जिस कर्म के पीछे कर्ता का भाव इकट्ठा नहीं होता उस कर्म से कोई बन्धन पैदा नहीं होता। यानी कर्म कभी नहीं बाँधता। जिस कर्म से कर्ता का भाव पैदा होता है वही कर्म बन्धन का कारण हो जाता है।

यदि कोई महावीर से उनके त्यागी होने की बात करता तो वे हँसते और कहते—कैसा त्याग ? किसका त्याग ? जो मेरा नहीं था वह नहीं था। यह मैंने जान लिया। त्याग कैसे करूँ ? त्याग दोहरी भूल है—भोग की दोहरी भूल।

मैं कहता हूँ—महावीर जैसे व्यक्ति को त्यागी समझने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। सिर्फ अज्ञानी त्यागी हो सकते हैं ज्ञानी नहीं। असली बात तो यह है कि ज्ञान ही त्याग है। ज्ञानी को त्यागी होना नहीं पड़ता, इसके लिए उसे प्रयास करने की जरूरत नहीं। अज्ञानी को त्याग करना पड़ता है, श्रम उठाना पड़ता है, संकल्प बाँधना पड़ता है। जिस चीज के हम द्रष्टा हो जाते हैं वह चीज सपना हो जाती है और जिस चीज के कर्ता हो जाते हैं, वह हमारे लिए सत्य हो जाती है चाहे वह सपना ही क्या न हो। चाहे जीवन सत्य ही क्या न हो जब हम द्रष्टा हो जाते हैं तो वह सपना हो जाता है।

महावीर त्यागी नहीं, द्रष्टा हैं। सम्पत्ति के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि सपने की भी कोई सम्पदा होती है ? सपने में कोई त्याग होता है ? भोग भी सपना है त्याग भी सपना है, क्योंकि दोनों हालत में कर्ता मौजूद है। इसलिए ज्ञानी न त्यागी है न भोगी वह सिर्फ द्रष्टा है। ऐसा नहीं कि उसके जीवन में केवल त्याग बच रहता है और भोग विदा हो जाता है। भोग और त्याग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं—यही दीख जाता है। यही नाम वीतरागता है। अगर मैं कर्ता नहीं हूँ, केवल द्रष्टा हूँ, तो वीतरागता फलित हो जायगी। अगर जीवन का एक कोना भी सपना हो जाय तो वह सपना पूरे जीवन पर फैल जायगा। यहाँ जिंदगी के जो अनुभव हैं वे सब के सब समग्र हैं, खंड खंड नहीं हैं। अगर बेटा असत्य है तो बाप

भी असत्य हो गया। महावीर को त्यागी समझनेवाले लोग मूलत भोगी है जो सिर्फ त्याग की भाषा समझ सकते हैं। इसलिए हैरानी होगी कि त्यागियो के पास भोगी इकट्ठे हो जाते हे, क्योकि भोगी ही त्याग को पकड पाते हैं। यह अद्भुत बात है कि महावीर-जैसे अपरिग्रही के पीछे, अगृही के पीछे जो वर्ग इकट्ठा हुआ है वह अत्यन्त भोगी और परिग्रही है। महावीर के पीछे जिन जैनो की परम्परा खडी है उन जैनो से ज्यादा धनी और परिग्रही लोग इस मुल्क मे दूसरे नही। इसका मतलब केवल इतना ही है कि त्याग की भाषा भोगी को बहुत पकडती है और भोगी उसके आसपास इकट्ठा हो जाता है जो उसे त्यागी दीखता है। अक्सर अनुयायी गुरु से उलटे होते हैं क्योकि उलटी चीजे लोगो को आकर्षित करती ही है, पास बुला लेती है। घृणा से भरे हुए लोगो को प्रेम की भाषा पकड लेती है। भोगी त्याग से अपने को पूरा कर लेता है। वह खुद तो त्याग कर नही सकता, इसलिए त्यागी को पकड लेता है। मन के रहस्यो मे सबसे कीमती रहस्य यह है कि जो हमारे चेतन मन मे होता है उसका ठीक उल्टा अचेतन मन मे होता है। अगर चेतन मन मे कोई विनम्र है तो अचेतन मन मे वह बहुत अहकारी होगा। अचेतन उलटा ही होता है। इसलिए अगर साधु-सन्तो को शराब पिलाई जाय तो उनके भीतर मे हत्यारे, व्यभिचारी निकलेगे और अगर व्यभिचारियो को शराब पिलायी जाय तो उनके भीतर से साधु-सन्तो की झलक मिलेगी।

यदि चेतन-अचेतन का यह द्वन्द्व हमारे खयाल मे हो तो हम भूलकर भी महावीर को त्यागी नही कहेगे। महावीर-जैसा व्यक्तित्व अविभाज्य होता हे। उसके भीतर दो खड नही होते। वह जो भी करेगा, उसमे पूरा मौजूद होगा। और ठीक अर्थो मे त्याग उसी व्यक्ति से फलित हो सकता है जिसका व्यक्तित्व अखड हो गया हो, जिसमे दूसरे व्यक्तित्व के उदय होने की कभी कोई सम्भावना न रह गई हो। अखड व्यक्ति मे द्वन्द्व विलीन हो जाता है—न वहाँ त्याग है और न भोग, न क्षमा और न क्रोध। ध्यान रहे कि जो आदमी क्रोधी नही है वह क्षमा कैसे करेगा ? क्षमा के पहले क्रोध अनिवार्य है। और जो व्यक्ति भोगी नही, वह त्यागी कैसे हो सकता है ? चूंकि हमारी कल्पना मे यह बात नही आती, इसलिए हम एक खड को हटाकर दूसरे खड को बचा लेना चाहते है। असल मे वह हमारी आकाक्षा का सबूत है, महावीर के सत्य का नही। जो नही है, उसी की चाह होती है। चाह ठीक विपरीत की होती है। हममे घृणा है, हम चाहते है प्रेम को, हिंसा है, चाहते है अहिंसा को; क्रोध है, चाहते हैं क्षमा हो, परिग्रह है, चाहते है अपरिग्रह हो। जिन्हे हम अपना आदर्श समझ लेते है, उन्ही पर थोप देते है उन गुणो को जिनकी चाह होती है।

साधारण लोगो की जिन्दगी मे द्वन्द्व की लड़ाई का कभी अन्त नही होता। वे क्रोध से लडते है, घृणा और हिंसा से लड़ते हैं और जिससे लड़ते है, उस पर सवार

होने की कोशिश करते हैं। भोगी त्यागी होने की कोशिश करता है, रोज रोज पटकें खाता है, चढता है गिरता है और परेशान होता है। वह भूल जाता है कि जिससे हमारा संघर्ष होता है उसको हम स्वीकृति दे बैठते हैं। दुश्मन की छाती पर कोई कब तक बैठा रह सकता है? कभी तो उसकी छाती छोड़नी ही पड़ती है। और दुश्मन कोई ऐसा-वैसा दुश्मन नहीं अपना ही हिस्सा है। आप ही दबानेवाले, आप ही दबनेवाले। जिसे आप दबाते हैं वह तो विश्राम कर लेता है और जो दबाता है वह थक जाता है। इसलिए जो चीज दबती है वही कुछ दिनों में दबाने लगती है। इसलिए याद रहे—लड़ेंगे तो हारेंगे, दबाएंगे तो गिरेंगे। कोशिश होनी चाहिए द्वन्द्व से बाहर होने की अखण्ड मनन की द्रष्टा मनन की। अखण्ड व्यक्ति ही दर्शन में समर्थ होता है, तीर्थंकर-जैसी स्थिति में हो सकता है। मेरा कहना है कि महावीर के सम्बन्ध में जो आज दिखाई पड़ रहा है वह हमारी भ्रान्तियों का गट्ठर है और इस कारण गट्ठर बना है कि हम कभी चीजों के पास जाकर नहीं देखते—सदा दूर से देखते हैं। हम चीजों को पास से देख भी नहीं सकते, क्योंकि पास से देखना हो तो उनसे खुद ही गुजरना पड़ेगा। इस कारण महावीर के सम्बन्ध में जो भी लिखा गया है वह बाहर से खींचा गया चित्र है। और बाहर से यही दिखाई पड़ता है कि महल था, इन्होंने महल छोड़ दिया धन था, उन्होंने धन छोड़ दिया, पत्नी थी, उन्होंने पत्नी छोड़ दी, प्रियजन थे, निकट के रिश्तेदार थे, उन्होंने सब छोड़ दिए।

एक जैन मुनि थे। बीस वर्ष पहले उन्होंने घर-गृहस्थी त्याग दी थी। एक दिन उन्हें एक तार मिला जिसमें लिखा था कि उनकी पत्नी का देहान्त हो गया है। मुनि ने तार पढ़कर कहा—चलो झंझट छूटी! जाहिर है कि पत्नी की झंझट अभी भी बाकी थी। मुनि के चित्त के किसी न किसी तल पर वह वर्तमान थी। पत्नी को छोड़ने से झंझट का अन्त नहीं हुआ था। हो सकता है, मुनि ने यह भी चाहा हो कि पत्नी मर जाय, क्योंकि उसका यह कहना कि 'चलो झंझट छूटी' उसकी भीतरी आकांक्षा का सबूत भी हो सकता है। ऐसे संन्यासी असंग्रही नहीं होते। उनका चित्त उतना ही खंडित होता है जितना किसी अभागे गृहस्थ का। इसलिए उस मुनि को समझना आसान है क्योंकि हमारा चित्त भी ऐसा ही खंडित है। हम भी द्वन्द्व में जाते हैं।

एक दूसरी घटना सुनाता हूँ। एक शिष्य अपने गुरु की मृत्यु पर रो रहा था। लोग चौंके, क्योंकि वे उसे ज्ञानी समझते रहे थे। उनमें कुछ ने उस शिष्य से कहा यह आप क्या कर रहे हैं? आपकी प्रतिष्ठा पर पानी फिर जायगा! आप—और रोते हैं? ज्ञानी और रोए! शिष्य ने आँखें ऊपर उठाईं और कहा मैं ऐसे ज्ञान से छुटकारा चाहता हूँ जो रोने भी न दे। किन ज्ञान की खोज आजादी के लिए की है। यदि ज्ञान एक नया बंधन है तो मुझे नहीं चाहिए वह ज्ञान। गुरु ने कहा दिया

कि मै ज्ञानी हूँ ? उन्होने पूछा लेकिन, आप ही तो कहा करते थे कि आत्मा अमर है। यदि आत्मा अमर है तो रोना किसलिए ? शिष्य ने कहा आत्मा के लिए कौन पागल रो रहा है ? वह शरीर भी वहुत प्यारा था। अद्वितीय था वह। तुम मेरी चिन्ता मत करो, क्योकि मैने अपनी चिन्ता छोड दी है। हँसी आती है तो हँसता हूँ, रोना आता है तो रोता हूँ। क्योकि अव रोकनेवाला ही नही है कोई। कौन रोके ? किसको रोके ? क्या वुरा है ? क्या भला है ? क्या पकडना है? क्या छोडना है ? सव जा चुका। जो होता है, होता है—वैसे ही जैसे हवा चलती है, वृक्ष हिलते है, वर्षा आती है, वादल घिरते है, सूरज निकलता है, फूल खिलते है। न तो तुम फूलो से जाकर कहते हो कि क्यो खिले तुम और न वदलियो से पूछते हो कि क्यो आई तुम।

ऐसा अखंड व्यक्ति ही सत्य को उपलब्ध होता है और ऐसे अखड व्यक्ति से ही सत्य की अभिव्यक्ति हो सकती है। लेकिन अखड हो जाना ही सत्य की अभिव्यक्ति के लिए काफी नही है। अभिव्यक्ति के लिए कुछ और करना पडता है। अगर वह और न किया जाय तो अनुभूति होगी, मगर व्यक्ति खो जायगा। तीर्थंकर वैसा ही अनुभवी है। वह जो कुछ करता है, अभिव्यक्ति के लिए करता है। इसलिए महावीर की जो वारह वर्ष की साधना है वह मेरी दृष्टि मे सत्य-उपलब्धि के लिए नही है। सत्य तो उपलब्ध था ही। सिर्फ उसकी अभिव्यक्ति के सारे माध्यम खोजे जा रहे है उन वारह वर्षो मे। और, ध्यान रहे, सत्य को प्रकट करना सत्य को जानने से भी कठिन है। जीवन के जितने तल है, जितने रूप है, महावीर ने उन सव रूपो तक सत्य की खवर पहुँचाने की अद्भुत तपश्चर्या की। उनका सदेश मनुष्यो तक ही सीमित न रहे—मनुष्य तो जीवन की एक छोटी सी घटना है, जीवन-यात्रा की केवल एक सीढी है—वल्कि पत्थर से लेकर देवताओ तक पहुँच सके, इसकी सारी व्यवस्था उन्होने की। मेरी मान्यता है कि महावीर की साधना अभिव्यक्ति के उपकरण की खोज की साधना है जो कठिन है, वहुत ही कठिन है।

२

प्रश्न उठता है कि यदि महावीर ने अभिव्यक्ति के माध्यमो की खोज इस जन्म मे की तो फिर उनके पिछले जन्मो की साधना क्या थी जिससे उनके वधन कटे और उन्हे सत्य की उपलब्धि हो सकी ? इस सम्वन्ध मे स्मरणीय है कि तप या सयम से वधनो की समाप्ति नही होती, ववन नही कटते। तप और सयम कुरूप वधनो की जगह सुन्दर वधनो का निर्माण भर कर सकते है। लोहे की जजीरो की जगह सोने की जजीरे आ सकती है, किन्तु जजीर नही कट सकती। इसका कारण यह है कि सयम और तप करनेवाला व्यक्ति वही है जो अतप और असयम कर रहा था।

सवाल तप और सयम का नहीं है। सवाल है चेतना के रूपान्तरण का चेतना के बदल जाने का। और चेतना के दो ही रूप हैं मूर्च्छित और अमूर्च्छित, जैसे कर्म के दो रूप हैं सयम और असयम। अगर कर्म म बदलाहट की गई तो असयम की जगह सयम आ सकता है, मगर चेतना इससे अमूर्च्छित दशा म नहीं पहुँच पायगी। मूर्च्छित व्यक्ति सोया हुआ होता है, प्रमाद म होता है।

अब प्रश्न है कि मूर्च्छित व्यक्ति प्रमाद से अप्रमाद म कैसे पहुँचे ? महावीर की पिछले जन्मो की साधना अप्रमाद की साधना है। हमारे भीतर जो जीवन-चेतना है वह परिपूर्ण रूप से कैसे जाग्रत हो ? इस विषय म महावीर कहते है "हम विवेक से उठें, विवेक से बैठें, विवेक से चलें, विवेक से भोजन करें, विवेक से सोएँ।" अर्थात, उठते-बैठते, सोते-जागते खाते-पीते, प्रत्येक स्थिति म चेतना जाग्रत रहे, मूर्च्छित नहीं। जीवन यन्त्र की भाँति न कटे हमारे कार्य यन्त्रवत न हो। हम चलें तो चलने की क्रिया के प्रति सचेत रहें, भोजन करें तो भोजन करने की क्रिया का हम खयाल रहे। नींद म ही हम बहुत सारे कार्य करते रहते जाते हैं। वह व्यक्ति जो रास्ते म हाथ हिला हिलाकर बातें करता रहता है यद्यपि उसके साथ कोई नहीं होता, निद्रा म ही चलता रहता है। ऐसे लोग भी नींद म होते हैं जिनके होठ हिलते रहते हैं और बातें होती रहती हैं यद्यपि व अकेले होते हैं। ऐसे लोग जाग्रत होकर भी किसी सूक्ष्म निद्रा म ही जीवन बिताया करते है। महावीर ने ऐसी निद्रा को प्रमाद कहा है। जागे हुए लोगो के भीतर एक धीमी-सी तन्द्रा का जाल फैला होता है। किसी से धक्का खाते ही वे क्रोध से भर जाते है। वे जान बूझकर क्रोध नहीं करते, फिर भी क्रोध हो जाता है—वैसे ही जैसे कोई बिजली का बटन दबाए तो पखा चल पडता है। हम नहीं कहते कि पखा चल रहा है, पखा सिर्फ चलाया गया है। हम यह भी नहीं कह सकते कि उन्होंने क्रोध किया है। हम इतना ही कह सकते हैं कि किसी ने बटन दबाया और उनका क्रोध चल पडा। आप भी यह नहीं कह सकते कि मैं क्रोध कर रहा हूँ, क्योंकि जो आदमी यह कह सकता है कि मैं क्रोध कर रहा हूँ उस आदमी के लिए क्रोध करना कभी सम्भव ही नहीं।

हम सब नींद म ही जागते और जीते हैं नींद म ही उठते बैठते चलते फिरते हैं। हमारी इसी अवस्था को महावीर ने प्रमाद की सज्ञा दी है। यही है मूर्च्छा की अवस्था। इस मूर्च्छा से जागरण कैसे हो ? महावीर की पूरी साधना ही इतनी है कि सोना नहीं है जागना है। जागने की प्रक्रिया क्या होगी ? जागने की प्रक्रिया होगा जागने का ही प्रयास। तैरना सीखने की एक ही तरकीब है कि तैरो। तैरना शुरू करना ही होगा, हाथ-पाव चलाने ही होंगे, डूबने उतरने के लिए तैयार होना ही पडेगा। यदि तुम पानी म उतरने को राजी न हुए तो तैरना कैसे सिखाया जा सकता है ! जल म उतरकर तैरने का अभ्यास करना ही होगा।

उसी शुरूआत से तैरना धीरे-धीरे व्यवस्थित हो जायगा और तुम तैर सकोगे। लोग पूछते है—जागने की तरकीब क्या है ? प्रमाद से अप्रमाद मे जाया कैसे जायगा ? जागने की कोई तरकीब नही है। जागना ही पडेगा। पहले हाथ-पाँव तड़फडाने ही पड़ेगे, गलत-सही होगा, डूबना-उतरना होगा। क्षण भर को जागेगे फिर सो जायँगे। लेकिन जागना ही पडेगा। जागने की निरन्तर धारणा से धीरे-धीरे जागना फलित हो जाता है। जागने की तरकीब का मतलब इतना ही है कि हम जो भी करे उसमे हमारा प्रयास हो, सकल्प हो कि हम उसे जागे हुए करेगे।

याद रहे कि अकारण नही है गहरी नीद मे कुछ करने का हमारा अभ्यास। सोए हुए जीना वडा सुविधापूर्ण है और, साथ ही, सोए हुए लोगो के साथ सोए हुए रहने मे ही सुविधा दीखती है। यदि लोग चारो ओर सो रहे हो तो जागनेवाले अकेले व्यक्ति की कठिनाइयो का अनुमान नही किया जा सकता। पागलखाने मे किसी आदमी के ठीक हो जाने पर उसे जो तकलीफ होती है वही सोए हुए जगत् मे अकेले जागने की तकलीफ है। महावीर-जैसे लोग जिस कष्ट मे पड जाते है उस कष्ट का हम हिसाब नही लगा सकते। सोए हुए लोगो के बीच जो व्यक्ति जागता है, वह सोए हुए लोगो का व्यवहार नही कर सकता—उसकी भाषा बदल जाती है, उसकी चेतना बदल जाती है और वह विलकुल अजनवी हो जाता है।

इसलिए साधक का पहला लक्षण है—अनजान, अपरिचित, अनहोनी के लिए हिम्मत जुटाना। हम चाहते है शान्ति और सत्य, लेकिन अपने को वदलने के लिए तैयार हो नही पाते। हम नही चाहते कि हमने जो व्यवस्था कर रखी है, जो सम्वन्ध वना रखे है, उनमे कोई हेर-फेर करना पडे। लेकिन हमे पता ही नही कि जव अधे आदमी को आँख की ज्योति मिलेगी तो उसके सव सम्वन्ध वदल जायँगे। सोए हुए आदमी ने एक तरह की दुनिया वसाई है, जागा हुआ आदमी इस दुनिया को विलकुल अस्त-व्यस्त कर देगा। मै कहता हूँ कि अगर हम थोडा भी साहस जुटा पाएँ तो जागना कठिन नही है, क्योकि जो सो सकता है वह जाग सकता है, चाहे वह कितनी ही गहरी नीद मे क्यो न सोया हो। ध्यान रहे कि यह साधारण तल पर जागने की वात नही है। साधारण तल पर जागने और सोने मे वुनियादी फर्क नही है, क्योकि जिसे हम जागना कहते है, वह थोडी कम डिग्री मे सोना ही है और जिसे हम सोना कहते है, वह थोडी कम डिग्री मे जागना है। लेकिन परम जागरण के तल पर डिग्री का भेद नही होता, मौलिक रूपान्तरण का भेद होता है। इसलिए सोया हुआ आदमी जाग सकता है, लेकिन जागा हुआ आदमी सो नही सकता। और जागरण की एकमात्र विधि है कि हम जागने की कोशिश करे। जो कुछ भी करे, उसमे जागे हुए होने की कोशिश करे, उसमे पूर्णतया उपस्थित हो, उसे हमारा सारा व्यक्तित्व करे। अगर ठीक से समझे तो ध्यान की अनुपस्थिति ही निद्रा है और उपस्थिति जागरण।

प्रत्येक क्रिया में ध्यान उपस्थित हो जाय तो जागरण शुरू हो गया। महावीर जिसे विवेक कहते हैं, उसका यही अर्थ है। क्रिया में ध्यान की उपस्थिति का नाम विवेक है और क्रिया में ध्यान की अनुपस्थिति का नाम प्रमाद।

एक बार प्रसन्नचन्द्र नामक एक व्यक्ति ने महावीर से दीक्षा ली। दीक्षा के बाद वह तपश्चर्या में लीन हो गया। कुछ दिनों के बाद उसने सुना कि जिन लोगों पर उसने विश्वास किया था, जिनकी देख-रेख में अपने बच्चे और अपनी सम्पत्ति छोड़ी थी वे विश्वासघात करने पर तुले हैं और उसकी सम्पत्ति हड़पने की साजिश कर रहे हैं। यह सुनते ही उसका हाथ तलवार पर चला गया। लेकिन उसके पास अब तलवार न थी। उसका ऐसा करना इस बात का प्रमाण है कि वह क्षण भर के लिए बेहोश हो गया था। क्रोध ने उसे बेसुध कर दिया था। जब उसे महसूस हुआ कि उसके पास कोई तलवार नहीं तब वह उसी क्षण जाग उठा, उसके सपने खण्ड-खण्ड हो गए और उसने कहा 'मैं यह क्या कर रहा हूँ? मैं वह प्रसन्नचन्द्र नहीं हूँ जो कभी तलवार उठाने का आदी था।'

महावीर ने एक मगध सम्राट से कहा था 'जिस समय प्रसन्नचन्द्र का हाथ तलवार पर गया था उस समय यदि उसकी देह छूट जाती तो वह सातवें नरक में गिरता। लेकिन जिस क्षण उसकी निद्रा टूटी और उस असलियत का भान हुआ वह उसी क्षण श्रेष्ठतम स्वर्ग का हकदार हो गया।' कहने की जरूरत नहीं कि सोया हुआ आदमी नरक में होता है और जो जागता है वह स्वर्ग का हकदार होता है। अतः जागने की चेष्टा हमें सतत करनी पड़ेगी। इसमें कई जन्म भी लग सकते हैं और जागरण एक क्षण में भी हो सकता है। यह तो प्यास और संकल्प की तीव्रता पर निर्भर होगा।

महावीर ने अपने पिछले जन्मों में कुछ पाया था तो वह था विवेक। उन्होंने साधा था जागरण। और यह जागरण जितना गहरा होता चला जाता है हम उतने ही मुक्त होते चले जाते हैं, पुण्य में लीन लगते हैं, शान्त और आनन्दित हो जाते हैं। जिस दिन पूर्ण जागरण की घटना घट जाती है उसी दिन विस्फोट हो जाता है, चेतना कण-कण जाग्रत हो उठती है, कोने-कोने से निद्रा विलीन हो जाती है। ऐसी पूर्णतया जागी हुई चेतना ही मुक्त चेतना है। मूर्च्छा बाँधती है, मूर्च्छित पाप भी बाँधता है, मूर्च्छित पुण्य भी बाँधता है। मूर्च्छित असंयम भी बाँधता है मूर्च्छित संयम भी बाँधता है। इसलिए स्मरण रहे कि अगर कोई असंयम को संयम बनाने में लग गया हो तो इससे कुछ भी न होगा क्योंकि उसके भीतर की चेतना ज्यों की त्यों—मूर्च्छित ही—होगी यद्यपि उसकी क्रिया बदल जाती है। इसलिए मैं कहता हूँ—पाप वह है जो जाग्रत व्यक्ति नहीं कर सकता और पुण्य वह है जो जागे हुए व्यक्ति को करना ही पड़ता है। सोया हुआ आदमी पुण्य कैसे कर सकता है? जागे हुए व्यक्ति से पाप

है कि हम उसमे दुवारा प्रवेश नही कर पाते। लेकिन इस तरह की पद्धतियाँ और व्यवस्थाएँ है कि एक ही स्वप्न मे वार-वार जाया जा सके। यदि इनके सहारे एक ही स्वप्न मे आपने कई वार प्रवेश किया तो आपको स्वप्न उतना ही मालूम होगा जितना आपका यह मकान। मेरे कहने का प्रयोजन यह है कि अगर 'साक्षी' जग जाय तो कल उसने जो जगत् वनाया था, वह विदा हो जाता है और एक विलकुल नया वस्तुपरक सत्य सामने आता है।/

इस ससार के लिए महावीर 'माया' शव्द का प्रयोग नही करते, क्योकि 'माया' के प्रयोग से लगता है कि यह झूठ है। वे कहते है कि वह भी सत्य है, यह भी सत्य है। लेकिन दोनो सत्यो के बीच हमने वहुत से झूठ गढ रखे है जो विदा हो जाने चाहिए। पदार्थ भी अपने मे सत्य है और परमात्मा भी। वस्तुत दोनो एक ही सत्य के दो छोर है। यदि शकर 'माया' का प्रयोग करते है तो इसमे भी कोई हर्ज नही। हम स्वप्न के जगत् मे जीते है और उस व्यक्ति के समान है जो दिन भर रुपए गिनता रहता है, ढेर लगाता जाता है और अन्त मे उन्हे अपनी तिजोरी मे वन्द कर देता है। रोज गिनता है और रोज वन्द कर देता है। ऐसा व्यक्ति रुपयो की गिनती मे जीता है। और वडे मजे की वात है कि रुपयो मे क्या है जिनकी गिनती मे कोई जिए ? कल सरकार वदल जाय और कहे कि पुराने सिक्के खत्म हो गए तो उस आदमी का सारा मनोलोक विलकुल धराशायी हो जायगा। हम उस आदमी से भिन्न नही। हमारा भी अपना स्वप्निल जगत् है और हमारे भी ऐसे ही सिक्के है—परिवार के सिक्के, प्रेम और मित्रता के सिक्के, जो कल सुवह नियम वदल जाने से वदल जायँगे।

दूसरे प्रश्न के उत्तर मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पूर्णता की उपलव्धि मे अभिव्यक्ति के साधन सम्मिलित नही है। अभिव्यक्ति की पूर्णता उपलव्धि की पूर्णता से बिलकुल अलग है। असल मे पूर्णता भी एक नही है, अनन्त पूर्णताएँ है। यदि कोई एक दिशा मे पूर्ण हो जाता है तो इसका यह अर्थ नही कि वह सव दिशाओ मे पूर्ण हो जाय। वहुत आयाम है पूर्णता के। एक व्यक्ति पुण्य मे पूर्ण हो जाय तो फिर वह पाप की पूर्णता मे पूर्ण नही हो सकता। पाप की भी अपनी पूर्णता है। सिर्फ परमात्मा ही सव दिशाओ से पूर्ण है क्योकि वह कोई व्यक्ति नही है। और खयाल रहे, अनुभूति की एक दिशा है, अभिव्यक्ति की विलकुल दूसरी। अनुभूति मे जाना पडता है भीतर और अभिव्यक्ति मे आना पडता है वाहर। अनुभूति मे छोडना पडता है सवको और हो जाना पडता है विलकुल 'स्व'—सव छोडकर एक विन्दु। अभिव्यक्ति मे फैलना पडता है, सवको जोडना पड़ता है। अभिव्यक्ति मे 'दूसरा' महत्त्वपूर्ण है, अनुभूति मे 'स्वय' ही महत्त्वपूर्ण है। जानना मौन मे है और वताना वाणी मे। तो जो जानेगा उसको मौन होना पडेगा और जव वह वताने जायगा तो फिर उसे शव्द

की साधना करनी पड़ेगी। इसलिए जरूरी नहीं कि जो अभिव्यक्ति कर रहा हो वह जानता भी हो। हो सकता है उसकी अनुभूति उधार ली हुई हो। ऐसे ही आदमी को मैं पंडित कहता हूँ। पंडित के पास अभिव्यक्ति है, अनुभूति नहीं। ऐसे भी लोग हैं जिनके पास अनुभूति है अभिव्यक्ति नहीं। ज्ञानी और तीर्थंकर में यही फर्क है। तीर्थंकर ज्ञानी ही नहीं अभिव्यक्ति कुशल भी है और ज्ञानी केवल अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति है। सिर्फ अभिव्यक्ति नहीं है उसके पास।

अनुभूति की पूर्णता महावीर को पिछले जन्म में मिली लेकिन अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए उन्हें साधना करनी पड़ी। और मैं कहता हूँ कि अनुभूति की पूर्णता उतनी कठिन नहीं है जितनी अभिव्यक्ति की पूर्णता कठिन है। अनुभूति में मैं अकेला हूँ, लेकिन अभिव्यक्ति में दूसरा भी सम्मिलित हो जाता है—दूसरे को जानना-समझना दूसरे तक पहुँचना भी जरूरी हो जाता है। कठिनाई के चन्द अन्य कारण भी होते हैं जैसे दूसरे की भाषा, दूसरे के अनुभव, दूसरे का व्यक्तित्व इत्यादि। सृष्टि में करोड़ों तरह के व्यक्तित्व हैं करोड़ करोड़ योनियों में बँटा हुआ प्राण है। उन सब पर प्रतिध्वनि हो सके, उन सब तक खबर पहुँच सके पत्थर भी सुन लें और देवता भी—ऐसी साधना बहुत बड़ी बात है। इसलिए केवल ज्ञान तो बहुत लोगों को उपलब्ध होता है हुआ है लेकिन तीर्थंकरों की संख्या बहुत कम है।

ध्यान रहे कि मनुष्य की शक्ति की अपनी सीमाएँ हैं। अगर कोई व्यक्ति संगीत में बहुत कुशल हो जाय तो उसके कान निखर / विकसित हो जायँगे लेकिन आँख मंद हो जायगी स्पर्श क्षीण हो जायगा। वह व्यक्ति और दिशाओं में एकदम सिकुड़ जायगा। लेकिन सीमित हैं अनुभूतियाँ आती हैं। केवल परमात्मा में लीन हो जाने से ही हम समग्र में पूर्ण हो जाते हैं। लेकिन एक दिशा में भी कोई पूर्ण हो जाय तो वह उस द्वार पर खड़ा हो जाता है जहाँ से परमात्मा में प्रवेश होना सम्भव है। पूर्णता किसी भी दिशा से क्यों न आए, वह परमात्मा के द्वार पर खड़ा कर ही देती है। अगर यह ख्याल में हो कि पूर्णताएँ अनन्त हैं तो हम समझ सकेंगे कि सर्वज्ञ का क्या मतलब हो सकता है। इसका मतलब यह नहीं कि सर्वज्ञ आपकी साइकिल के फटे टायर की मरम्मत कर देगा और किसी को टी० बी० हो जाय तो उसकी दवा भी कर देगा। लेकिन महावीर को पकड़नेवालों ने सर्वज्ञ का कुछ ऐसा ही मतलब समझ लिया है। सर्वज्ञ वह है जो पूर्णता की एक दिशा को पकड़ ले और उसमें सर्व हो जाय। महावीर आत्मज्ञान की दिशा में सर्वज्ञ हैं। उनके सर्वज्ञ होने का यह मतलब नहीं कि वे आपकी बीमारी को भी जानते हैं। भविष्य में क्या होगा, यह भी जानते हैं कल क्या हुआ था यह भी जानते हैं। वे सर्वज्ञ हैं क्योंकि उन्हें ज्ञान की पूर्णता उपलब्ध हो गई है। सर्वज्ञ का मतलब यही है। सच यह है कि शुद्ध ज्ञान की क्षमता में जीना इतना आसान है कि उसे कोई दूसरी दिशा में लगाना नहीं

चाहता। इसलिए केवल ज्ञानी को जैसे ही शुद्धता उपलब्ध होती है, वह जानना छोड देता है—जानने की क्षमता मे ही रम जाता है। जानने की क्षमता ही इतनी आनन्दपूर्ण है कि वह क्यो जानने जाए किसी को ? अज्ञान जानने जाता है, ज्ञान ठहर जाता है। अज्ञान मे जानने की जिज्ञासा होती है, किन्तु ज्ञान की क्षमता उपलब्ध होते ही ज्ञान ठहर जाता है अज्ञान भटकाता है, ज्ञान ठहरा देता है। जिस व्यक्ति को परिपूर्ण ज्ञान की क्षमता उपलब्ध हो जाती है वह तत्काल सभी दिशाएँ छोडकर परमात्मा मे लीन हो जाता है, सर्वव्यापक हो जाता है—बूंद सागर मे गिरकर सर्वव्यापी हो जाती है। दूसरी भी सम्भावना है कि वह एक जीवन के लिए लौट आए और अपनी क्षमता की खबर दे। इसे ही मै करुणा कहता हूँ। इसी करुणा से प्रेरित हो ज्ञानी अभिव्यक्ति की पूर्णता हासिल करने की कोशिश करता है, उपाय करता है दूसरे से कहने का।

तृतीय अध्याय

मूक जगत् से तादात्म्य और सापेक्षवाद (स्याद्वाद)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते अत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महंतं,
वुद्धो पमत्तेसु परिव्वएज्जा ।।[1]

—सूत्र० श्रु० १ अ० १२ गा० १८

१

महावीर के सामने इस जन्म का सबसे बड़ा सवाल था कि सत्य की अनुभूति को जीवन के सभी तलों तक—पेड़-पौधों से लेकर देवी-देवताओं तक—कैसे पहुँचाया जाय ? उन्होंने आजीवन चेष्टा की कि उनका संवाद पशु-पक्षियों तक, यहाँ तक कि निर्जीव समझे जानेवाले पदार्थों तक पहुँचे। महावीर के बाद ऐसी कोशिश करनेवाला दूसरा आदमी नहीं हुआ। यूरोप में संत फ्रांसिस ने पशु-पक्षियों से बात करने की कोशिश की थी और हमारे युग में श्री अरविन्द ने पदार्थ तत्त्वों पर चेतना के स्पन्दन पहुँचाने के लिए यत्न किए थे। लेकिन जैसा प्रयास महावीर ने किया वैसा न पहले कभी हुआ था और न बाद में हुआ।

कहा जाता है कि महावीर ने सत्य की साधना में बारह वर्ष बिताए। वस्तुतः वे वर्ष सत्य की अभिव्यक्ति के लिए साधन खोजने के वर्ष थे। और उन्हें साधन मिल जाते हैं। अस्तित्व के मूक जगत तक अपनी अनुभूति पहुँचाने में उन्हें सफलता मिलती है। अपनी अनुभूति को पत्थर और मूक पशुओं तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति परम जड़ और मूक अवस्था में उतरे। तभी मूक जगत से उसका सामंजस्य हो सकता है। यदि वृक्षों के साथ तादात्म्य बिठाना किसी का अभिष्ट हो तो उसे किसी वृक्ष के पास बैठकर पूर्णतया मूक हो जाना पड़ेगा जिससे उसकी चेतना बिल्कुल शान्त होती चली जाय। रामकृष्ण की जड़ समाधि ऐसी ही अवस्था में उतरने की समाधि थी।

---

1 जो प्रबुद्ध व्यक्ति मोहनिद्रा में डूबे रहनेवाले मनुष्यों के बीच रहकर भी संसार के छोटे-बड़े सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान देखे, इस महान विश्व का निरीक्षण करे और सर्वदा अप्रमत्त भाव से संयमाचरण में रत रहे, वह मोक्ष का सच्चा अधिकारी है।

इस सम्बन्ध मे स्मरण रखना होगा कि महावीर की अहिंसा किसी तत्त्व-विचार से नही निकली, वह नीचे के जगत के साथ उनके तादात्म्य से निकली है। उस तादात्म्य मे उन्होने नीचे के जगत् की जो पीडा अनुभव की थी, उसी पीडा की वजह से अहिंसा उनके जीवन का परम तत्त्व बन गया था। वह पीड़ा अत्यन्त सघन थी, असह्य थी। उन्होने यह भी महसूस किया कि अगर व्यक्ति पूर्ण अहिंसक न हो जाय तो नीचे के मूक जगत् से तादात्म्य स्थापित करना बहुत मुश्किल है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम तादात्म्य उसी के साथ स्थापित कर सकते हैं जिसके प्रति हमारा समस्त हिंसक, आक्रामक भाव विलीन हो गया हो और हृदय प्रेम से ओतप्रोत हो। अगर मूक जगत् से तादात्म्य स्थापित करना है तो अहिंसा शर्त भी है, नही तो वह तादात्म्य स्थापित नही हो सकता। संत फ्रासिस को देखकर नदी की सारी मछलियाँ तट पर इकट्ठी हो जाती, जिस वृक्ष के नीचे वे बैठते, उस पर जगल के सारे पक्षी आ जाते, उनकी गोद मे उतरने लगते, उनके सिर पर बैठ जाते। वन के पशु-पक्षी अपनी अन्त प्रज्ञा से जानते थे कि संत फ्रासिस से उनकी कभी कोई हानि न होगी। यह अन्त प्रज्ञा सभी पक्षियो के पास है। इसी अन्त प्रज्ञा के फलस्वरूप जापान की एक चिडिया भूकम्प आने के चौबीस घटे पहले गाँव छोड देती है। उत्तरी ध्रुव पर रहनेवाले सैकडो पक्षी बर्फ गिरने के एक महीने पहले यूरप के समुद्री तटो पर चले जाते है और हजारो मिल की दूरी तय कर लेते है। आश्चर्य है कि वे इस देशान्तरण की प्रक्रिया मे रास्ता नही भूलते और बर्फ गिरना बन्द होने के महीना भर पहले वापसी यात्रा शुरू कर देते है। वे जहाँ से आते है ठीक वही अपनी जगह वापस लौट जाते है। हमारे हृदय की भावधारा के स्पन्दनो को उनकी यह प्रज्ञा शीघ्र पहचान लेती है, उन्हे स्पर्श कर लेती है, और वे हमसे सचेत हो जाते है।

मुझे विश्वास है कि महावीर ने जितने पशुओ और पौधो की आत्माओ को विकसित किया है, उतने पशुओ और पौधो को इस जगत् मे किसी दूसरे व्यक्ति ने विकसित नही किया। सत्य के अनुभव को सवाहित करने का प्रयोग गौतम बुद्ध ने भी किया था, किन्तु वह मनुष्यो से ज्यादा गहराई पर नही गया। सच तो यह है कि न तो क्राइस्ट ने, न बुद्ध ने, न जरतुश्त ने, न मुहम्मद ने, न किसी अन्य व्यक्ति ने मनुष्य तल से नीचे जो एक मूक जगत का फैलाव है, जहाँ से हम आ रहे है, जहाँ हम कभी थे, जिससे हम पार हो गए—वहाँ पहुँचने का कोई मार्ग बताया। महावीर ने महसूस किया था कि उस जगत् के प्रति भी हमारा एक अनिवार्य कर्त्तव्य है कि हम उसे पार होने का रास्ता बता दे और खबर कर दे कि वह कैसे पार किया जा सकता है। उन्होने अहिंसा के तत्त्व पर जो इतना बल दिया है उसका एक कारण यह है कि नीचे के मूक जगत् से पूर्ण अहिंसक वृत्ति के बिना सम्बन्धित होना असम्भव है। सम्बन्धित हो जाने पर उस मूक जगत् की अनन्त-अनन्त पीडाओ का

क्रोध होता है और तब उसके मार को हल्का करने की भावना का पैदा होना भी स्वाभाविक है। मुझे ऐसा लगता है कि आज बहुत से मनुष्य सिर्फ इसलिए मनुष्य हैं कि उनकी पशुयोनि में या पौधे की योनि में या उनके पत्थर होने की अवस्था में महावीर ने सन्देश भेजे थे और उन्हें बुलावा भेजा था। इस बात की भी खोज-बीन की जा सकती है कि जिनने लोगों को उस तरह की प्रेरणा उपलब्ध हुई और वे आगे बढ़े। यह इतना अद्भुत कार्य है कि केवल इसकी वजह से महावीर मनुष्य मानस के बड़े से बड़े त्राता बन जाते हैं।

अगर किसी भी व्यक्ति को पीछे की अविकसित चेतनाओं और स्थितियों से तादात्म्य स्थापित करना है तो उसे अपनी चेतना को उन्हीं तलों पर लाना पड़ता है जिन तलों पर वे चेतनाएँ हैं। यह जानकर आप हैरान होंगे कि महावीर का चिह्न सिंह है। इसका कारण यह है कि पिछली चेतनाओं से तादात्म्य स्थापित करने में महावीर को सबसे ज्यादा सरलता सिंह से तादात्म्य स्थापित करने में हुई। उनका व्यक्तित्व भी सिंह जैसा है। वे पिछले जन्मों में सिंह रह चुके थे और लौटकर उससे तादात्म्य स्थापित करना उनके लिए एकदम सरल हो गया था। बात यह है कि जब उनका सिंह से तादात्म्य हुआ होगा तब उन्होंने पूरी तरह जाना होगा कि मैं सिंह हूँ और सिंह उनका प्रतीक बन गया। सिंह की तरह वे भी वन में नग्न चलते, उनमें भी सिंह का सा अदम्य भाव है, अभय है।

पीछे उतरकर तादात्म्य स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि चेतना को निरन्तर शिथिल किया जाय उसे इस जड़ स्थिति में ले आया जाय जिसमें उसमें कोई गति न रह जाय, वह बिल्कुल शिथिल, शान्त और विराम को उपलब्ध हो जाय। शरीर जब जड़ हो और चेतना शिथिल तथा शून्य हो तब किसी भी वृक्ष, पशु और पौधे से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। और एक मजे की बात है कि अगर वृक्षों से तादात्म्य स्थापित करना हो तो किसी खास वृक्ष से तादात्म्य स्थापित करने की जरूरत नहीं। वृक्षों की पूरी जाति के साथ तादात्म्य स्थापित हो सकता है क्योंकि उनमें अभी व्यक्तित्व पैदा नहीं हुआ, अभी अहंकार और अस्मिता नहीं है—वे सब एक जाति की तरह जीते हैं। इस तादात्म्य की स्थिति में जो भी भाव संकल्प किया जायगा वह प्रतिध्वनित होकर उन सारे जीवों तक व्याप्त हो जायगा। जैसे यदि गुलाब के पौधों की जाति से तादात्म्य स्थापित किया गया हो तो उस क्षण में जो भी भाव-तरंग पैदा होगी वह समस्त गुलाबों तक संक्रमित हो जायगी।

तादात्म्य की ऐसी अवस्था में महावीर ने बहुत समय गुजारा और ऐसी अवस्था को उपलब्ध करने में उनको बहुत सी बातें करनी पड़ीं जिन्हें समझना मुश्किल है। यह सच है कि उनके कानों में कीलें ठोकी गई लेकिन उन्हें इसका पता न हुआ। इसका कारण है कि जिस समय उनके कान में कीलें ठोकी जा रही थीं उस समय

उन्होंने उन चट्टान-जैसी चीजों से तादात्म्य स्थापित कर लिया था जिन्हें कील ठोके जाने का अनुभव नहीं हो सकता। पत्थर में कीलें ठोको तो बेचारे पत्थर को उसका क्या अनुभव होगा ? अगर कोई उनका हाथ भी काट लेता तो उन्हें इसका अनुभव न होता। हम जानते हैं कि लोग अंगारों पर कूद सकते हैं। तादात्म्य किससे है, इस पर सब बात निर्भर करती है। अगर किसी ने किसी देवता से तादात्म्य किया है तो वह अंगारों पर कूद जायगा, जलेगा नहीं क्योंकि देवता नहीं जल सकता। महावीर अभिव्यक्ति का जो उपाय खोज रहे हैं, वह है भूत, जड़ एवं मूक जगत् में तरंगें पहुँचाने का उपाय। अब तो तरंगों को वैज्ञानिक ढंग से भी अनुभव किया जा सकता है।

तीर्थों और मन्दिरों का महत्त्व भी इन्हीं तरंगों के कारण है। अगर महावीर-जैसा कोई व्यक्ति कुछ दिन इस कमरे में रह जाय तो इस कमरे से उसका तादात्म्य हो जाता है और इसके कण-कण में उसकी तरंगें अंकित हो जाती हैं। तीर्थ और मन्दिर साधकों के व्यक्तित्व की तरंगों से आप्लावित रहते हैं। इसलिए प्राचीन तीर्थों और मन्दिरों में साधना करना सार्थक हो सकता है। यदि इस कमरे में किसी ने आत्महत्या कर ली हो तो आत्महत्या के क्षण में हुए तीव्र तरंगों के विस्फोट की प्रतिध्वनियाँ सैकड़ों वर्षों तक इस कमरे की दीवारों पर अंकित रहती हैं। हो सकता है कि इसमें सोनेवाला व्यक्ति कोई रात आत्महत्या करने का सपना देखे। वह सपना केवल कमरे की प्रतिध्वनियों का उसके चित्त पर प्रभाव होगा। और यह भी हो सकता है कि इस कमरे में रहते हुए वह किसी दिन आत्महत्या कर गुजरे। बोधिवृक्ष का महत्त्व इसी कारण है कि उसके नीचे बुद्ध के निर्माण की घटना-घटी और उसके कण-कण में उनकी तरंगों का अंकन है। आज भी कोई रहस्यदर्शी चाहे तो उस वृक्ष के नीचे बैठकर उन तरंगों को वापस बुला सकता है। तीर्थ इन्हीं तरंगों के कारण महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। सम्भेद शिखर, गिरनार, काबा, काशी, जेरुसलम—सभी एक दिन जीवित तीर्थ थे। उनकी तरंगें धीरे-धीरे नष्ट हो गई हैं। इस समय पृथ्वी पर कोई भी जीवित तीर्थ नहीं है, सब तीर्थ मर गए हैं।

जड़ से जड़ वस्तु पर भी तरंगों का क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि पदार्थ का अन्तिम अणु भी हमारे निरीक्षण से प्रभावित होता है। यदि अणुओं और परमाणुओं को तोड़कर हम इलेक्ट्रोन (विद्युदणु) की दुनिया में पहुँचें तो वहाँ जो अनुभव होगा वह बहुत घबड़ानेवाला होगा। वह अनुभव यह होगा कि अनिरीक्षित विद्युदणुओं का व्यवहार वैसा नहीं होता जैसा निरीक्षित विद्युदणुओं का होता है। जब तक उसे कोई नहीं देखता तब तक वह एक ढंग से गति करता है, किन्तु खुर्दबीन से देखे जाने पर वह डगमगा जाता है और अपनी गति बदल देता है। इन परमाणुओं और विद्युदणुओं तक भी महावीर ने खबर पहुँचाने की कोशिश

की। इसके लिए उन्हें अनेक बार ऐसी अवस्था में होना पड़ा जिसमें यह कहना मुश्किल था कि वे जीवित हैं या मृत। इन अवस्थाओं को लाने के लिए उन्हें कुछ और प्रयोग करने पड़े। जैसे, उनका चार चार महीने तक, पांच पांच महीने तक भूखा रह जाना बड़ा असाधारण है। वे कुछ न खाकर भी क्षीण नहीं होते। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ और उनका असाधारण सौंदर्य सदा अक्षुण्ण रहता। क्या कारण था इसका? मेरी दृष्टि में कारण था मूक जगत से उनका तादात्म्य और मूक अणुओं का—मूक पदार्थों के परमाणुओं का—प्रत्युत्तर। जो आदमी पास में पड़े हुए पत्थर की आत्मा को भी जगाने का उपाय कर रहा है, जो पास में लगे हुए वृक्ष की चेतना को जगाने के लिए कम्पन भेज रहा है, उसे अगर सारे पदार्थ-जगत से प्रत्युत्तर में बहुत सी शक्तियाँ मिलती हों तो आश्चर्य नहीं। परमाणुओं का सूक्ष्म जगत उन्हें सीधा भोजन देता था। इसलिए महावीर के पीछे जो लोग भूखा मर रहे हैं वे पागल हैं। वे सिर्फ मांसाहारी हैं—अपना ही मांस पचा रहे हैं। महावीर तीन चार महीने बाद कभी भोजन कर लेते थे, वह भी इसलिए कि लोग उन्हें यह न पूछें कि इतने दिनों तक भूखा रहना कैसे सम्भव हो सका? यह आप कैसे कर सके? सभी बातें सभी को बताने के लिए नहीं होता। महावीर एक दिन भोजन कर लेते हैं वह सिर्फ इसलिए कि लोगों को सान्त्वना हो जाय कि वे खाना लेते हैं। लोग यह सुनकर अचम्भा करते हैं कि महावीर को पसीना नहीं चलता, मल मूत्र त्यागने नहीं पड़ते। यदि वे सूक्ष्म परमाणुओं से शक्ति न लेते और उन्हें मूक जगत से सीधा भोजन न मिलता तो उन्हें भी ये सारे कार्य करने पड़ते और उनके शरीर से भी पसीना बहता। उनका भोजन इतना सूक्ष्म है कि वह शरीर में सीधे लीन हो जाता है।

भारत में एक संन्यासी ने जिसका नाम विशुद्धानन्द था, एक अत्यन्त प्राचीन विज्ञान को, जो एकदम खो गया था, पुनरुज्जीवित किया। उस विज्ञान का नाम है सूर्य किरण विज्ञान। विशुद्धानन्द का कहना था कि सूर्य की किरणों से जीवन और मृत्यु सीधे आ सकती है बीच में कुछ और लेने की जरूरत नहीं। पृथ्वी पर पड़ा हुआ पदार्थ या जगत सूर्य की किरणों से बँधा है। सूर्य अस्त हो जाय तो यह सारा दृश्य जगत भी उसी के साथ अस्त हो जायगा। इस पृथ्वी पर सूर्य की किरणें देह और प्राण को जोड़ रही है। इसलिए सूर्य न हो तो अदृश्य आत्माएं हो सकती हैं देह नहीं होगी। चाँद पर वैसी ही आत्माएँ रहती हैं। इसी कारण अन्तरिक्ष के यात्रियों को वहाँ 'कोई' नहीं मिला। वहाँ देहधारी प्राणी नहीं हैं और न वहाँ वह स्थिति ही पैदा हुई है जिससे देह प्रकट हो सके।

तात्पर्य यह कि कोई चाहे और प्रयोग करे तो वह अपनी आँखों से भी सूरज की किरणों को खाये पी सकता है और ऐसी किरणें जीवनदायिनी हो जाती हैं।

त्राटक के बहुत से प्रयोग सीधे सूरज से जीवन खीचने के प्रयोग है, सिर्फ एकाग्रता के प्रयोग नही।

मूक जगत् ने महावीर के तादात्म्य के जो उत्तर दिए वे ही अब कहानियाँ बन गई है। उनके आधार पर हम कविताएँ रची है। कहा जाता है कि जब महावीर चलते तो पथ के कांटे सीधे पडे न रहते, वे तत्काल उलट जाते ताकि वे महावीर के चरणो मे न चुभें। ये हमारी कहानियाँ है जो एक गहन सत्य पर प्रकाश डालती है। वह सत्य यह है कि प्रकृति भी महावीर के प्रतिकूल नही जाती, बल्कि अनुकूल होने की कोशिश करती है। जिस व्यक्ति ने उनसे इतना प्रेम किया, तादात्म्य स्थापित किया, वे उसके प्रतिकूल कैसे जा सकती है ? सडक के किनारे पडा हुआ पत्थर भी आपके प्रेम का उत्तर देता ही है।

सुधी जनो का कहना है कि महावीर के समवसरण मे पहली उपस्थिति देवताओं की हुई थी। यह आश्चर्य की बात नही है। इसका कारण यह है कि देवताओ के जगत् मे अभिव्यक्ति के लिए शब्दो का सहारा लेना नही पडता। वहाँ सम्भाषण के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नही होती है। उस लोक मे वाणी व्यर्थ हो गई है, वहाँ जो भाव उठते है, वे मौन मे सम्प्रेषित हो जाते है। इसलिए वहाँ सत्य की वार्ता सबसे ज्यादा सरल है। मानव-लोक मे शब्दो के बिना बात-चीत नहीं हो सकती, इसलिए इसमे भावो का हूबहू सम्प्रेषण सर्वाधिक कठिन है, शब्दो के कारण ही संवाद होना मुश्किल हो गया है। पक्षियो के पास अपनी वाणी नही है, वे कुछ कह नही सकते, लेकिन कुछ अनुभव कर सकते है। इसलिए अगर कोई अनुभव के तल पर उनसे सम्बन्ध जोडे तो वह उनके अनुभवो को जान सकता है। महावीर के समवसरण मे पशु-पक्षी ही नही, देवता और मनुष्य भी उपस्थित थे। लेकिन जहाँ पशु-पक्षियो ने उन्हे सुना और देवताओ ने समझा, वही मनुष्यो ने अनसुनी कर दी। मनुष्यो को जो कहा गया, शायद उन्होने नही सुना। मनुष्यो के पास शब्द है और उन्हे अपनी समझदारी का खयाल है जो बडा खतरनाक है। मनुष्य को यह खयाल है कि मै सब समझ लेता हूँ। यह बडी भारी बाधा है। जो जरूरी चीजे है, वह अब भी भाषा के बिना करता है। जैसे क्रोध आ जाय तो वह चाँटा मारता है, प्रेम आ जाय तो वह गले लगाता है। इस प्रकार उसका पशु होना प्रकट हो जाता है। पशु के पास कोई भाषा नही होती। वह जानता है कि भाषा समर्थ नही है। मनुष्य को समझाने की चेष्टा ही सबसे ज्यादा कठिन चेष्टा है। देवताओ को समझने मे कठिनाई नही होती, क्योकि उनसे कहनेवाले शब्दो को अपना माध्यम नही बनाते। उनके लिए व्याख्या करने का कोई सवाल ही पैदा नही होता। पशु भी समझ लेते हैं, क्योकि उनसे कहा ही नही जाता, व्याख्या की कोई बात ही नही होती—सिर्फ तरंगे प्रेषित की जाती है।

महावीर की बारह वर्षों की साधना अभिव्यक्ति के माध्यम की खोज की साधना है। कैसे पहुँचाया जा सके जो पहुँचाना है? इस सम्बन्ध में दो छोटे सूत्र ख्याल में रख लेने चाहिए। यदि पशुओं के पास सम्प्रेषण करना अभीष्ट हो तो मूक होना पड़ेगा, वाणी खो देनी पड़ेगी, करीब करीब मूर्च्छित और जड़-जमा हो जाना होगा। शरीर जड़ होगा मन जड़ होगा, मगर भीतर चेतना पूरी जागी होगी। अगर मनुष्य से सम्बन्ध जोड़ना है तो दो उपाय हैं साधना से गुजरे हुए मनुष्य के साथ बिना शब्द के सम्बन्ध जोड़े जायँ और उस हालत में लाकर जिसमें देवता होते हैं मौन में कहा जाय या फिर शब्दों का वाणी का प्रयोग किया जाय। लेकिन शब्द ही पकड़ में आते हैं अनुभूतियाँ छूट जाती हैं। इसलिए गणधर आते हैं, मध्यस्थ आते हैं, व्याख्याएँ होती हैं— सब बदल जाता है, सब खो जाता है। महावीर के शब्द महावीर के नहीं रह जाते टीकाकारों के हो जाते हैं। महावीर ने मौन में क्या कहा है उसे पकड़ने की जरूरत है।

२

महावीर के पहले जो विचारधाराएँ प्रचलित थीं उनका आयपरम्परा से पृथक् अस्तित्व नहीं था। उनमें एक धारा का नाम 'श्रमण' था, क्योंकि उसका आधार श्रम था, प्रार्थना नहीं। इस धारा के विपरीत ब्राह्मणधारा थी[1] जिसका विश्वास था कि परमात्मा को विनम्र भाव से प्रार्थना और शास्त्रविधि से ही पाया जा सकता है। (इस पूर्ण दीनता को क्राइस्ट ने पावर्टी आफ स्पिरिट कहा है।) आर्य जीवन दर्शन में उपर्युक्त दोनों धाराएँ सम्मिलित थीं, परन्तु महावीर के बाद श्रमण धारा ने अपना पृथक् अस्तित्व घोषित किया। महावीर के पहले वह धारा पृथक् न थी। इसीलिए आदिनाथ का नाम तो वेद में मिलता है, लेकिन महावीर का नाम किसी हिन्दू ग्रन्थ में नहीं मिलता। जैनों के पहले तेईस तीर्थंकर आर्य ही थे आर्य ही पैदा हुए और आर्य ही मरे। वे जैन नहीं थे। सभी श्रमण भी जैन नहीं हो गए। श्रम और संकल्प पर आस्था रखनेवाले लोगों में आजीवक भी थे बौद्ध भी थे और दूसरे दूसरे विचारक भी थे। जब महावीर ने एक पृथक् दर्शन की घोषणा की तो श्रमणधारा से एक पृथक् धारा निकल पड़ी। इसी धारा का नाम जैन पड़ा। बौद्ध धारा भी श्रमणधारा थी। इसलिए महावीर के दर्शन से प्रभावित धारा का एक नया नाम देना आवश्यक था। यदि गौतम थे बुद्ध तो महावीर थे जिन—विजेता। जिन

---

१ भारत में अनेक धर्म-परम्पराएँ रही हैं। ब्राह्मण परम्परा मुख्यतया वैदिक है जिसकी कई शाखाएँ हैं। श्रमण परम्परा की भी जैन, बौद्ध, आजीवक, प्राचीन सांख्य योग आदि कई शाखाएँ हैं।' पं सुखलालजी, दर्शन और चिन्तन (१९५७), पृ० ५१।

का अर्थ जीतना ही है। दोनो श्रमण-धाराओ के बीच भेदक रेखा खीचने के लिए, गौतम बुद्ध के अनुयायियो को बौद्ध कहा जाने लगा और महावीर के अनुयायियो को जैन। ('जिन' शब्द बहुत पुराना है और बुद्ध के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।)

ध्यान रहे कि श्रमणधारा आर्यमूलधारा से ही निस्सृत हुई थी और इस श्रमण-धारा से बौद्ध और जैन धर्म निकले। इसलिए महावीर के पहले के सभी तीर्थंकर हिन्दू सघ के भीतर थे, महावीर हिन्दू सघ के बाहर। महावीर न तो किसी के अनुयायी थे और न कोई उनका गुरु था। फिर भी उनका दर्शन अन्य तीर्थंकरो के अनुयायियो से बहुत दूर तक मेल खा गया। महावीर को चिन्ता न थी कि उनके विचार किसी और के विचारो से मेल खा जायँ। यदि उनका मेल बैठ गया तो यह निपट सयोग की बात है। और इसी कारण वे अनुयायी धीरे-धीरे महावीर के पास आ गए। परन्तु इसमे यह निष्कर्ष नही निकलता कि महावीर हूबहू वही कहते थे जो पिछले तेईस तीर्थंकरो ने कहा था। किसी पिछले तीर्थंकर ने ब्रह्मचर्य की कोई बात नही की थी। पार्श्वनाथ का धर्म चतुर्यामयुक्त था—उसमे ब्रह्मचर्य को एक पृथक् याम के रूप मे स्वीकृति नही मिली थी।[1] महावीर ने पहली बार ब्रह्मचर्यव्रत की बात की और चार के स्थान पर पाँच महाव्रतो की प्रतिष्ठा हुई। ऐसी ही अनेक बाते हैं जिनसे महावीर की मौलिकता प्रकट होती हैं। लेकिन इतना तो जाहिर है कि उनकी बातें पिछले तीर्थंकरो के विरोध मे नही हैं। वस्तुत महावीर-जैसे बलशाली व्यक्ति को पाकर उनकी धारा अनुगृहीत हो गई। वे बडे साधक और सिद्ध थे सही, परन्तु उनमे एक भी ऐसा न था जो एक दर्शन निर्मित कर सके। यह क्षमता महावीर मे थी। इसलिए चौबीसवाँ होते हुए भी महावीर करीब-करीब प्रथम हो गए। अगर तीर्थंकरों

---

१. चतुर्याम का अर्थ है चार महाव्रत। भ० पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ-परम्परा चार महाव्रतधारी थी—चतुर्महाव्रत की परम्परा थी। उसमे अहिंसा, सत्य, असत्य, अपरिग्रह ही चार याम (महाव्रत) थे। किन्तु, जैसा कि पं० सुखलालजी ने कहा है, 'निर्ग्रन्थ परम्परा मे क्रमश ऐसा शैथिल्य आ गया कि कुछ निर्ग्रन्थ अपरिग्रह का अर्थ-संग्रह न करना, इतना ही करके स्त्रियो का सग्रह या परिग्रह बिना किए भी उनके सम्पर्क से अपरिग्रह का भंग समझते नहीं थे। इस शिथिलता को दूर करने के लिए भ० महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह से अलग स्थापित किया और चतुर्थ व्रत मे शुद्धि लाने का प्रयत्न किया। महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत की अपरिग्रह से पृथक् स्थापना अपने तीस वर्ष के लम्बे उपदेश काल मे कब की यह तो कहा नही जा सकता, पर उन्होने यह स्थापना ऐसी बलपूर्वक की कि जिसके कारण अगली सारी निर्ग्रन्थ-परम्परा पंच महाव्रत की ही प्रतिष्ठा करने लगी, और जो इने-गिने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ महावीर के पच महाव्रत-शासन से अलग रहे उनका आगे कोई अस्तित्व ही न रहा।' दर्शन और चिन्तन (१९५७), पृ० ९८–९९।

है, उसमे भी सत्य तक पहुँचा जा सकता है, वहाँ सम्प्रदाय तो निर्मित होगा, पर साम्प्रदायिक चित्त न होगा। महावीर का चित्त बिलकुल गैर साम्प्रदायिक था। वे कहते थे कि इस पृथ्वी पर पूर्ण जैसी कोई चीज नही होती। असत्य मे भी सत्य का अश होता है और सत्य मे भी असत्य का अश। अगर कोई उनसे पूछता कि 'ऐसा है?' तो वे कहते, 'हाँ, है।' साथ ही वे यह भी कहते कि 'नही भी हो सकता है।' कोई पूछता, 'ईश्वर है?' तो महावीर कहते, 'हो भी सकता है, नही भी हो सकता। किसी अर्थ मे हो सकता है, किसी अर्थ मे नही हो सकता।' इसी सापेक्षवाद के कारण उनके अनुयायियो की सख्या न बढी। लोगो ने समझा—उनका दावा पक्का नही। उन्हे महावीर की बातो मे सशय की रेखा दीख पडी। किन्तु, वह सशय न था, सम्भावना की ओर इगित था। महावीर सिर्फ सब सत्यो की सम्भावना की बात करते थे। उनका मतलब यह न था कि मुझे सशय है ईश्वर के होने-न-होने मे। उनका मतलब था कि सम्भावना है ईश्वर के होने की भी, न होने की भी।

जो आदमी जितना बुद्धिमान् होता चला जाता है, उसके वक्तव्य उतना ही 'स्यात्' होते चले जाते है। वह कहता है, 'स्यात् ऐसा हो।' वह दावा नही करता कि ऐसा ही है। लेकिन उसकी बुद्धिमत्ता को समझने के लिए बुद्धिमान् ही चाहिए। जितने अधिक बुद्धिहीन दावे होगे, उतनी ही अधिक बुद्धिहीनो की सख्या होगी।

महावीर सख्या इकट्ठी न कर सके। उनके लिए अनुयायियो की भीड एकत्र करना मुश्किल था, एकदम असम्भव था। वे किसको और कैसे प्रभावित करते? आदमी आता है गुरु के पास कि उसे पक्का आश्वासन मिले, चिट्ठी मिले कि स्वर्ग मे तुम्हारी जगह निश्चित रहेगी। गुरु पक्के वादे करे कि वह अपने शिष्य को नरक जाने से बचा लेगा। लेकिन महावीर का कोई भी दावा न था। इतना गैर दावेदार आदमी जो सत्य को अनेक कोणो से देखे, जगत् मे हुआ ही नही। दुनिया मे तीन सम्भावनाओ की स्वीकृति महावीर के पहले से चली आती थी। यदि कोई कहता कि यह घड़ा है तो इसका मतलब था कि (१) घड़ा है, (२) घडा नही है (मिट्टी है) और (३) घडा है भी, नही भी है। घडे के अर्थ मे घडा है, मिट्टी के अर्थ मे नही भी है। इस प्रकार सत्य के तीन कोण हो सकते है—(१) है, (२) नही है, (३) दोनो—नही है और है। यह त्रिभगी महावीर के पहले भी थी। लेकिन महावीर ने इसे सप्तभगी बनाते हुए कहा कि तीन से काम चलने को नही। सत्य और भी जटिल है। इसमे चार 'स्यात्' और भी जोडने पडेगे। यह अद्भुत बात थी, लेकिन साधारण आदमी की पकड के बाहर हो गई। महावीर ने चौथी भगी जोडी और कहा, 'स्यात् अनिर्वचनीय (अवक्तव्य) है'—इसमे कुछ ऐसा भी है जो नही कहा जा सकता। घड़ा अणु भी है, परमाणु भी है, इलेक्ट्रोन है, प्रोटोन है, विद्युत् है। सब है और इन सबको

इसका कहना मुश्किल है। (एक शब्द एक समय में विधि और निषेध में से एक का ही कथन कर सकता है। ऐसी अवस्था में वस्तु कही न जा सकती है—उस रूप में द्वारा कहा न जा सकेगा।¹) यहाँ अभी स्मरण रखने की इतनी बात है कि उसे अनिर्वचनीय कहना पड़ेगा। और एक बात तो कहनी है कि घट में जो 'है-पन' है अस्तित्व है उसका जो होना है वह भी अनिर्वचनीय है क्योंकि 'है' की क्या परिभाषा हो सकती है? अस्तित्व का क्या अर्थ होगा? घड़े का तो अस्तित्व है और अस्तित्व अनिर्वचनीय है। अस्तित्व तो बड़ा है। इसलिए महावीर ने पाँचवीं भंगी कहा—शायद यह अनिर्वचनीय है।' दोबारा कभी कहा कि स्यात है और अनिर्वचनीय है।' छठी कभी कहा कि स्यात नहीं है और अनिर्वचनीय है और सातवें में कहा कि स्यात है भी और नहीं भी है और अनिर्वचनीय है।

महावीर का यह कथन कि सत्य को सात कोणों से देखा जा सकता है अद्भुत है। सत्य को आठवें कोण से नहीं देखा जा सकता। सातवाँ अंतिम कोण है। इसलिए सप्तभंगी की सात दृष्टियों से सत्य को देखा जा सकता है। जो एक ही दृष्टि का दावा करता है वह एक अर्थ में असत्य का दावा करता है।

चूँकि महावीर की बात जटिल थी, इसलिए उनके अनुयायी कम हुए। उन्होंने कहा—ईश्वर-ब्रह्म तो बड़ी बातें हैं घड़े की भी व्याख्या नहीं हो सकती। घड़े में भी एक तत्त्व है, ऐसा अस्तित्व है जो उतना ही अव्याख्येय है जितना ब्रह्म। लेकिन वे ऐसा भी नहीं कहते कि यह तत्त्व अव्याख्येय है। उसके लिए यह दावा भी ज्यादा हो जायगा। इसलिए उन्होंने कहा—स्यात, जिसका अर्थ 'शायद' नहीं है।² 'शायद' में संदेह है—स्यात में नहीं। स्यात का अर्थ है—ऐसा भी हो सकता है इससे अन्यथा भी हो सकता है। इस शब्द में दोनों बातें जुड़ी हुई हैं। पूरा सत्य जब भी बोला जायगा इन्हीं भंगियों में बोला जायगा।

इतनी जटिल बात से श्रोताओं को आकर्षित करना बहुत कठिन था। इसलिए महावीर के अनुयायियों की संख्या न बढ़ सकी। महावीर के जीवन-काल में जो लोग उनसे प्रभावित हुए थे उनकी संतति ही महावीर के पीछे अंधों की तरह चलती

---

१ 'उक्त चार वचन व्यवहारों को दार्शनिक भाषा में स्यात सत् स्यात असत्, स्यात सदसत और स्यात अवक्तव्य कहते हैं। सप्तभंगी के मूल यही चार भंग हैं। इन्हीं के संयोग से सात भंग होते हैं। अर्थात चतुर्थ भंग 'स्यात अवक्तव्य' के साथ क्रमशः पहले दूसरे और तीसरे भंग को मिलाने से पाँचवाँ छठा और सातवाँ भंग बनता है।' कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म (काशी) पृ० ६७ ६८।

२ "कोई-कोई विद्वान 'स्यात' शब्द का प्रयोग 'शायद' के अर्थ में करते हैं। किन्तु शायद शब्द अनिश्चितता का सूचक है, जब कि स्यात शब्द एक निश्चित अपेक्षावाद का सूचक है।" जैनधर्म, पृ० ६६।

रही है,—नए लोग नही आ सके। मगर जन्म से धर्म का कोई सम्बन्ध नही है, इस-लिए 'जैन' जैसी कोई चीज नही है दुनिया मे। वह महावीर के साथ ही खत्म हो गई। जन्म से बने जैन लोगो के दावे सुनकर महावीर भी हँसते। ये तथाकथित जैन कहते है कि महावीर तीर्थंकर है। खुद महावीर कहते—'स्यात् हो भी सकता है, स्यात् नही भी हो सकता।' जन्म से जैन होना बिल्कुल असम्भव है। जिस प्रकार जन्म से कोई सूफी नही हो सकता, उसी प्रकार जिन बनने पर कोई जैन बन सकता है। जन्म से कोई मुसलमान हो सकता है, पर सूफी नहीं।

३

महावीर के तर्क के विपरीत अरस्तू का तर्क चीजो को तोडकर अलग-अलग कर देता है। अरस्तू का तर्क कुछ इस प्रकार है—'अ' 'अ' है और 'अ' कभी 'ब' नही हो सकता। 'ब' 'ब' है, कभी 'अ' नही हो सकता। पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है। पुरुष स्त्री नही हो सकता, स्त्री पुरुष नही हो सकती। काला काला है, सफेद सफेद है, सफेद काला नही और काला सफेद नही। महावीर कहते कि 'अ' 'अ' भी हो सकता है, 'अ' 'ब' भी हो सकता है। यह भी हो सकता है कि 'अ' भी न हो, 'ब' भी न हो। और 'अ' अनिर्वचनीय है। स्त्री स्त्री भी है, पुरुष भी है। पुरुष पुरुष भी है, स्त्री भी है, पुरुष स्त्री भी हो सकता है और स्त्री पुरुष हो सकती है और अनिर्वचनीय भी है।

जिन्दगी उतनी सरल नही-जितनी अरस्तू समझता था। जिन्दगी मे न कोई चीज काली है और न सफेद। कोई स्थान ऐसा नही जहाँ केवल अँधेरा हो और कोई स्थान ऐसा नही जो बिलकुल प्रकाशित हो। गहरे प्रकाश मे भी अधकार मौजूद रहता है और अँधेरी से अँधेरी जगह मे भी प्रकाश होता है। जिन्दगी बिलकुल घुली-मिली है, तरल है। अरस्तू के तर्क से निकलता है गणित और महावीर के तर्क से उद्भूत होता है रहस्य। यदि महावीर से कोई पूछता कि जिस स्याद्वाद की आपने घोषणा की, क्या वह पूर्ण सत्य है तो वे कहते—'स्यात्'। इसमे भी वे 'स्यात्' का ही उपयोग करते। वे कभी यह दावा नही करते कि मै तुम्हारा कल्याण कर सकूँगा। वे कहते थे कोई किसी का कल्याण नही कर सकता, अपना कल्याण आप ही करना होगा। जब कोई कहता है कि 'मेरी शरण मे आओ, मै तुम्हे मोक्ष दिलाऊँगा' तब अनुयायी उसका अनुगमन करते है। मगर महावीर कहते थे 'मेरी शरण मे मोक्ष नही मिल सकता। कोई किसी की शरण से कभी मोक्ष नही पाता।' इसलिए ऐसे व्यक्ति का अनुगमन कौन करता? स्वयं महावीर भी किसी को गुरु बनाना या किसी का गुरु बनना नही चाहते थे। इसलिए अनुयायी होने के सारे रास्ते उन्होने तोड दिए। उनकी दृष्टि मे सहगमन हो सकता है, अनुगमन नही हो सकता। इसलिए महावीर के अनुयायी उन्हे नही समझ सकते।

और महावीर के साथ होना बडी हिम्मत की बात है। पीछे होना सरल है। इन्ही कारणो से महावीर के आसपास अनुयायियो की बडी सख्या उपस्थित न हो सकी। छोटी सख्या उपस्थित हुई और वह निरतर छोटी होती चली गई। अब उस शाखा म कोई प्राण नहीं रहा। मैं किसी का अनुयायी नहीं, फिर भी चाहता हू कि इसम नए अकुर लगें। पूजा से वृक्ष सूखते हैं। मैं चाहता हूँ कि इस वृक्ष को पूजा के बदले पानी दिया जाय, लोग महावीर की स्यात्-दृष्टि को समझें और इसे ठीक-ठीक प्रकट करें ताकि भविष्य म भी महावीर के वृक्ष के नीचे बहुत से लोगो को छाया मिल सके।

मेरा खयाल है कि स्यात् की भाषा रोज रोज महत्त्वपूर्ण होती चली जायगी। विज्ञान ने उसे स्वीकार कर लिया है। आइस्टीन की स्वीकृति बहुत अद्भुत है। अब तक समझा जाता था कि जो अंतिम अणु है, परमाणु है वह एक बिन्दु है जिसम लम्बाई चौडाई नही। लेकिन प्रयोगो से अब पता चला है कि कभी तो वह अणु बिन्दु की तरह व्यवहार करता है और कभी लहर की तरह। इसलिए ऐसा लगता है कि वह स्यात् अणु है, स्यात लहर है। उसके लिए एक नया शब्द गढ़ना पडा—'क्वाण्टा'। यह उसके लिए प्रयुक्त होता है जो दोनो है—बिन्दु भी और लहर भी।



कुछ लोगो का मत है कि सत्य की यात्रा अणुव्रत से प्रारम्भ होती है और महाव्रत म समाप्त हो जाती है। वे कहते हैं कि आज अगर केवल मूर्च्छा टूटना ही सब कुछ हो गया तो अणुव्रत और महाव्रत का भेद मिट जायगा, कोई क्रम नही रहेगा और चरित्र[1] का महत्त्व ज्ञान ले लेगा।

इस सम्बन्ध मे दो तीन बातें समझनी चाहिए। एक तो यह कि अणुव्रत[2] से

---

१ जैन शास्त्रो का एक महत्त्वपूर्ण विधान है—चारित्रधम्मो अर्थात चारित्र ही धर्म है। चारित्र क्या है? इसका उत्तर यह कहकर दिया गया है—

"असुहाओ विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्र।"

अर्थात—अशुभ कर्मों से निवृत्त होना तथा शुभ कर्मों मे प्रवृत्त होना चरित्र कहलाता है।

२ इनकी भी सख्या पाच है—स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसतोष, इच्छापरिमाण। श्रावक की आंशिक चरित्र साधना ही अणुव्रत कहलाती है। इसका अर्थ है स्थूल, छोटा अथवा आंशिक व्रत। अणुव्रती उपासक सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने मे असमर्थ होता है। वह मोटे तौर पर ही चारित्र का पालन करता है। जैन आचार के लेखक डॉ० मोहनलाल मेहता

कभी कोई महाव्रत' तक नही जाता। महाव्रत की उपलब्धि से अनेक अणुव्रत आप ही उपलब्ध हो जाते है। पूरे अहिंसक ढग से जीने का अर्थ है महाव्रत—पूर्ण अपरिग्रह, पूर्ण अनासक्त। मूर्च्छा के टूटते ही महाव्रत उपलब्ध होता है। मूर्च्छा टूट जाय तो मन ही टूट जाता है, चीजो से लगाव छूट जाता है। यदि कोई कहे कि 'यह मकान मेरा है' तो उसकी मूर्च्छा इस 'मेरा' मे होगी। मूर्च्छा मकान मे सोने मे नही है। मूर्च्छा टूटने का मतलब यह नही कि चीजे हट जायँ—अपरिग्रह का मतलब यह नही कि चीजे न हो।

एक सम्राट् किसी सन्यासी से बहुत प्रभावित था। उसने सन्यासी से कहा : 'मेरे पास इतने बडे महल है, आप वहाँ चलें।' सम्राट् ने सोचा था कि सन्यासी इनकार कर देगा, परन्तु सन्यासी ने कहा . जैसी आपकी मर्जी।' और वह डडा उठाकर खडा हो गया। सम्राट् को आश्चर्य हुआ। उसे ऐसा लगा मानो सन्यासी महल मे रहने की प्रतीक्षा ही कर रहा था। सम्राट् ने उसे अपना कमरा दिखाया और पूछा 'आप यहाँ ठहर सकेंगे न ?' सन्यासी ने कहा : 'बिलकुल मजे से।' और सन्यासी राजा के मखमली गद्दे पर उसी तरह सोने लगा जैसे वह नीम के नीचे सोया करता था। छह महीने बीत गए। एक दिन सम्राट् ने कहा 'अब तो मुझमें और आपमे कोई भेद मालूम नही होता। आप ही सम्राट् हो गए है, बिलकुल निश्चिन्त हैं, राजसी ठाटबाट का आनन्द लेते हैं।' संन्यासी ने उत्तर दिया : (फर्क जानना चाहते हो तो आगे चलो।' दोनो चल पड़े। बगीचा पार हो गया, राजधानी निकल गई। सम्राट् ने कहा : 'अब तो बताएँ, फर्क क्या है ?' सन्यासी ने और आगे चलने को कहा। अन्त मे सम्राट् ने कहा : 'धूप चढी जाती है और हम नदी के पार आ गए हैं। अब लौट चले।' सन्यासी ने कहा 'नही, अब मैं लौटूंगा नही। तुम भी मेरे साथ चलो।' सम्राट् ने उत्तर दिया 'मैं कैसे जा सकता हूँ ? मेरा मकान, मेरा राज्य—इनका क्या होगा ?' सन्यासी ने कहा 'तो तुम लौट जाओ, लेकिन हम जाते है। अगर फर्क दिख जाय तो देख लेना। मगर यह मत सोचना कि हम तुम्हारे महल से डर गए। अगर लौट चलने को कहोगे तो हम लौट चलेगे। लेकिन तुम्हारी शंका फिर पैदा हो जायगी। इसलिए अब हम जाते हैं।'

के शब्दो में "श्रमण के अहिंसादि पाँच महाव्रतों की अपेक्षा लघु होने के कारण श्रावक के प्रथम पाँच व्रत अणुव्रत अर्थात् लघुव्रत कहलाते है" देखिए जैन आचार (१९६६), पृ० ८५–१०४।

१. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—

"पाणिवह—मुसावाया-अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥"

उस संन्यासी का चित्त अपरिग्रही था। वह सम्राट के महल में था, लेकिन महल उसमें न था, इसलिए वह उसे छोड़कर कहीं भी जा सकता था।

तो मेरा खयाल है कि महाव्रत से अणुव्रत फलित हो सकते हैं लेकिन अणुव्रतों के जोर से कभी महाव्रत नहीं निकलता, क्योंकि अणुव्रत की कोशिश मूर्च्छित चित्त की कोशिश है। और, कोई महाव्रत की कोशिश नहीं कर सकता। वह तो अमूर्च्छा आते ही उपलब्ध हो जाता है। महाव्रत अभ्यास से नहीं आ सकता। तुम्हारी मूर्च्छा टूट जाय तो वह फलित हो जाता है तुम्हारा चित्त महाव्रती हो जाता है। आम तौर पर साधक की कोशिश यही रहती है कि वह अणुव्रत से चले और महाव्रत पर पहुँच जाय। मगर वह कभी नहीं पहुँच पाता। महाव्रत विस्फोट है।

महावीर महाव्रती थे। उनकी तीन देशनाएँ थीं सम्यक दर्शन सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र। लेकिन उनके अनुयायी इसे उलट देते हैं और कहते हैं कि पहले चारित्र साधो। फिर ज्ञान स्थिर होगा, जब ज्ञान स्थिर होगा तब दर्शन की क्षमता उपलब्ध होगी। नहीं, सम्यक दर्शन पहले हो। दर्शन से ज्ञान फलित होता है और जब ज्ञान प्रकट होता है तब चारित्र आता है। चारित्र अंतिम है, प्रथम नहीं। साधना ध्यान और समाधि की है। दर्शन उसका फल है। दर्शन से ज्ञान निर्मित होगा और ज्ञान से सम्यक आचरण। वह आचरण किस रूप में प्रकट होगा? चूँकि आचरण बहुत-सी चीजों पर निर्भर है, इसलिए वह कई रूपों में हो सकता है। क्राइस्ट में एक तरह का होगा, कृष्ण में दूसरी तरह का और महावीर में तीसरी तरह का। दर्शन बिल्कुल एक होगा, पर ज्ञान में भेद पड़ जायगा क्योंकि उस दर्शन को ज्ञान बनानेवाला प्रत्येक व्यक्ति अलग अलग है। ज्ञान आचरण बनेगा और वह भिन्न भिन्न अनुभूति-उपलब्ध व्यक्तियों में अलग-अलग होगा। जैसे—अगर आज महावीर न्यूयार्क में पैदा हों तो वहाँ वे नंगे न होंगे। जिस स्थिति में उनका जन्म हुआ था, उसमें नग्नता पागलपन का पर्याय नहीं थी, संन्यास का पर्याय थी।

प्रश्न है कि अगर ऐसी बात है तो क्या महावीर उत्तरी ध्रुव में मांस भी खा सकते थे? सम्भव है। लेकिन, चूँकि उन्हें मूक जगत से सम्बन्ध स्थापित करना था इसलिए वे ऐसा न करते। मांस खाने से मोक्ष का कोई विरोध नहीं है, लेकिन अगर वे मांस खाते तो केवल मनुष्यों से ही सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे और वह सम्बन्ध भी बहुत शुद्ध सम्बन्ध नहीं होता—उसमें भी थोड़ी बाधाएँ होतीं। पूर्ण शुद्ध सम्बन्ध के लिए पूर्ण अवैर साधना अनिवार्य होता है। इसलिए मैं अहिंसा को मोक्ष प्राप्ति का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानता। अहिंसा अनिवार्य तत्त्व है मनुष्य के नीचे की योनियों से सम्बन्ध स्थापित करने का।

मैं कहता हूँ कि चरित्र तो समाज, लोक व्यवहार, स्थिति युग नीति-व्यवस्था राज्य—इन सब पर निर्भर होता है। वह आता है सम्यक् दर्शन से, लेकिन प्रकट

होता है समाज मे। मेरी दृष्टि मे 'वेसिक मॉरैलिटि' जैसी कोई चीज नही। सत्य भी अनुभूति का, दर्शन का हिस्सा है, चरित्र का नही। यदि महावीर भी मुहम्मद की जगह होते तो, मैं मानता हूँ, वे विवाह करते। उस स्थिति मे वही नैतिक तथ्य हो जाता। मुहम्मद के लिए ब्रह्मचर्य की कल्पना बहुत मुश्किल थी; अगर वे ब्रह्मचर्य की बात करते तो अरब मुल्क सदा के लिए नष्ट हो जाता। वे प्रत्येक व्यक्ति को चार-चार विवाह करने की सलाह देते हैं और उदाहरण पेश करने के लिए स्वयं भी विवाह करते है। मैं जिस बात पर बल दे रहा हूँ वह यह है कि मैं चरित्र को केन्द्र नही मानता, परिधि मानता हूँ। दर्शन को केन्द्र मानता हूँ। दर्शन-ज्ञान ही चरित्र है। चरित्र साधने से ज्ञान नही होता। किसी के आचरण का हिसाब ही मत रखो—यह सम्यक् दृष्टि नही है। दर्शन कसे उपलब्ध हो, इसकी फिक्र करो। दर्शन का हमे खयाल नही रह गया, इसलिए हम चरित्र की फिक्र करते हैं। विचारणीय है दर्शन। और दर्शन, काल एव परिस्थिति से आबद्ध नही है। वह कालातीत है, क्षेत्रातीत है। जब भी तुम्हे दर्शन होगा तो वही होगा जो किसी दूसरे को हुआ है।

अब प्रश्न उठता है—क्या आज का ज्ञान भी पुराने ज्ञान से भिन्न होगा? जैसा कि मैंने कहा, दर्शन भर अलग नही होगा क्योकि वह शुद्धतम है, परन्तु ज्ञान अलग होगा, क्योकि आज की भाषा बदल गई है, सोचने के ढग बदल गए हैं। जब अरविंद बोलेंगे तब उसमे डार्विन मौजूद रहेगा। महावीर की भाषा अरविंद की भाषा से भिन्न होगी, क्योकि महावीर को डार्विन का कोई पता न था। वे डार्विन की भाषा नही बोल सकते और न मार्क्स की। लेकिन अगर मैं बोलूंगा तो मार्क्स की भाषा बीच मे आयगी ही। मैं कहूँगा, शोषण पाप है, महावीर नही कह सकते यह, क्योकि उनके युग मे शोषण के पाप होने की धारणा ही न थी। धन शोषण है, चोरी है—यह धारणा गत तीन सौ वर्षो मे पैदा हुई है। महावीर को हम इस कारण कमजोर नही कह सकते कि उन्हे विकास की भाषा का पता नही था। वह भाषा थी ही नही। आनेवाले हजार वर्षो मे भाषा फिर बदलेगी, आज भी बदल रही है। इसी बदली हुई भाषा मे फिर ज्ञान प्रकट होगा। अभिव्यक्ति के माध्यम बदल जायँगे। पुरानी भाषाएँ ही काव्यात्मक थी। आजकल की भाषा वैज्ञानिक है। आजकी कविता भी गणित के सवाल की तरह मालूम होती है, बिलकुल गद्य है। पुराना गद्य भी पद्य था : नया पद्य भी गद्य है।

लोग पूछते हैं कि महावीर की नग्नता उनके चरित्र का ही एक अग है या उनके दर्शन का? महावीर की नग्नता उनके ज्ञान का अग है, चरित्र का नही। अगर किसी को विस्तीर्ण ब्रह्माण्ड से मूक जगत् से सम्बन्धित होना है तो उसके लिए वस्त्र बाधा है। महावीर को इस तथ्य की जानकारी हो गई थी कि मुझे जो कुछ अभिव्यक्त करना है वह ब्रह्माड से एक होकर ही किया जा सकता है। इसलिए नग्न होकर उन्होने एक तरह का तादात्म्य साधा है।

मेरा भी विचार है कि वस्त्र बाधा बनता है और प्रत्येक वस्त्र अलग तरह की बाधा और सुविधा उपस्थित करता है। रेशमी वस्त्र से कामोत्तेजना बढ़ती है। वह स्त्री जिसने रेशमी वस्त्र पहन रखा है, काम को अधिक उत्तेजित करती है। सूती या खादी वस्त्र से ऐसा नहीं होता। इस सम्बन्ध में ऊनी वस्त्र बहुत अद्भुत हैं। आपने देखा होगा कि सूफी फकीर ऊनी कपड़े ही पहनते हैं। सूफ का मतलब ही ऊन होता है। ऊनी वस्त्र भिन्न भिन्न प्रकार की लहरों से सुरक्षित रहता है, शरीर की गर्मी को बाहर जाने नहीं देता। उसमें गर्मी जैसी कोई चीज नहीं होती। सिर्फ भीतर रुकी हुई गर्मी ऊनी वस्त्र का भ्रम रचती है। अनुभव बतलाता है कि न केवल गर्मी को बल्कि और तरह के सूक्ष्म अनुभवों को भी ऊनी वस्त्र रोकने में सहयोगी होता है। जिन्हें किसी गुह्य (एसोटेरिक) विधान में काम करना हो उनके लिए ऊनी वस्त्र बहुत उपयोगी है।

तो ध्यान रहे कि महावीर की नग्नता उनके ज्ञान का हिस्सा है चरित्र का नहीं। इसलिए जो लोग उसे चरित्र का हिस्सा समझकर नग्न खड़े हो जाते हैं वे बिलकुल पागल हैं। यदि नग्नावस्था में महावीर के शरीर में कुछ तरंगें पैदा होती थीं तो हवाएँ उन लहरों को लेकर यात्रा कर जाती थीं। कपड़ा में वे लहरें भीतर रह जातीं। सूफी जान बूझकर ऊनी वस्त्र पहनते हैं महावीर को भी नग्नता के महत्त्व की जानकारी थी और उस युग की चरित्र व्यवस्था नग्न खड़े होने की सुविधा देती थी। हर युग में महावीर नग्न खड़े नहीं हो सकते। बम्बई और न्यूयार्क-जैसे नगरों में आज नग्न खड़ा होना मुश्किल है। नग्न आदमी को सड़क पर निकलने के लिए गवर्नर की अनुमति चाहिए। न्यूयार्क में नग्न व्यक्ति बिलकुल पकड़ लिया जायगा, बन्द कर दिया जायगा।

५

मैंने कहा कि महावीर पिछले जन्म में सिंह थे और उन्हें सत्य की जो अनुभूति हुई वह भी पिछले जन्म में ही हुई। तो क्या पशु-योनि में भी मुक्त हुआ जा सकता है? मैं इसकी सम्भावना का निषेध नहीं करता। हाँ आज तक ऐसा नहीं हुआ कि कोई पशु योनि में जन्म लेकर मुक्त हो जाय। अतः महावीर को सत्य का जो अनुभव हुआ होगा वह मनुष्य जन्म में ही हुआ होगा। किसी दिन जब मनुष्ययोनि बहुत विकसित हो जायगी और उसमें मुक्त होना सरल हो जायगा तब नीचे के योनियों में भी मुक्त की एक दो घटनाएँ घटने लगेंगी। मगर अब तक मनुष्ययोनि को छोड़कर किसी दूसरी योनि में ऐसी घटना नहीं घटी है। इसलिए मैंने जो 'पिछले जन्म' का प्रयोग किया, उसका मतलब ठीक पिछला जन्म नहीं है।

देवयोनि में भी मुक्ति की घटना नहीं हो सकती। पशुयोनि में कभी हो सकती है निषेध नहीं है, लेकिन देवयोनि में इसकी सम्भावना नहीं। निषेध का कारण है कि देवयोनि में एक तो शरीर नहीं है और दूसरे वह मनोयोनि है। और स्मरण

रहे कि शरीर भी साधना मे अनिवार्य कड़ी है। जिस प्रकार पशुओ मे बुद्धि न होने मे यह घटना मुश्किल हो गई है, उसी प्रकार देवताओ मे शरीर न होने से मुश्किल हो गई है। पशुओ मे कभी बुद्धि विकसित हो सकती है, मगर देवताओ को कभी शरीर मिले, इसकी सम्भावना नही है। मुक्ति के लिए पशुओ को मनुष्य तक आना पडता है और देवताओ को पुन मनुष्य तक लौटना पडता है।

हो सकता है कि मेरे कहने से आपको ऐसा भी लगे कि महावीर का तादात्म्य जब जड के साथ है, वृक्ष के साथ है तो मनुष्यो के साथ नही है। और आप ऐसा भी सोच सकते है कि जब तादात्म्य होता है तब सबके साथ होना है, अलग-अलग नही। मेरा कहना है कि जब तादात्म्य पूर्ण होता है तभी वह सबके साथ होता है। ऐसी अवस्था मोक्ष मे ही होती है। लेकिन महावीर तो उन विभूतियो मे है जो परिपूर्ण मोक्ष पाने के पहले ही वापस लौट आये हैं। पूर्ण तादात्म्य होता तो महावीर नही रह जाते। जो मुक्त हो जाता है वह परमात्मा का हिस्सा हो जाता है और परमात्मा कोई सदेश पहुँचाने नही आता। सदेश पहुँचाने के लिए महावीर लौट आते हैं वापस। ज्ञान पूरा हो गया है, लेकिन अभी डूब नही गए है सागर मे। इस हालत मे तादात्म्य सबसे नही होता। वह एक विशिष्ट दिशा मे एक साथ एक बार होगा। दूसरी दिशा मे दूसरी बार होगा। मोक्ष मे सबके साथ युगपत् होगा। मोक्ष होते ही किसी व्यक्ति का कोई व्यक्तित्व नही रह जाता। गगा गिर जाती है सागर मे। फिर भी उसका कण-कण मौजूद है सागर मे। वह खो गई है सागर मे, मिट नही गई। जो था वह अब भी है, केवल सीमा नही रह गई। हाँ, कुछ ऐसी विधियाँ है जिनके सहारे हम चाहे तो सागर-तट पर गगा को पुकारें और उसके वे अणु जो अनन्त सागर मे खो गए हैं, उस तट पर इकट्ठे हो जायें। वे सब सागर मे मौजूद हैं। इसी तरह चेतना के महासागर मे महावीर-जैसा व्यक्ति खो गया है। लेकिन उनके अणु आपको उत्तर दे सकते है। जरूरत है कि आप उन्हे अनन्त के किनारे खडे होकर पुकारें, उनके द्वारा छोड़े गए सकेतो का उपयोग करें। जो लोग खो जाते है अनन्त मे, वे ही उपाय भी छोड जाते है पीछे। यह भी सच है कि सभी नही छोडते। यह उनकी मर्जी पर निर्भर है कि वे छोडे या न छोडें। महावीर उनमे है जो निश्चित ही छोड गए है। उस उपाय से ही उनसे सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। महावीर का कोई व्यक्तित्व नही रहा लेकिन उत्तर आ जाता है उस अनन्त से। ब्लेवटस्की ने करीब-करीब सभी शिक्षको से सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की थी। उनमे महावीर भी एक है। ब्लेवटस्की थियोसॉफिकल सोसायटी की जन्मदात्री है। उसके साथ अल्काट और एनी बेसेंट ने भी सम्बन्ध स्थापित किए थे। लेकिन वे सब मर चुके है। अब कोई भी ऐसा नही जो पुराने शिक्षको से सम्बन्ध स्थापित कर सके। मै चाहता हूँ कि इधर कुछ लोग उत्सुक हो तो बराबर इस विधि पर काम करवाया जाय। इसमे कोई कठिनाई नही है।

चतुर्थ अध्याय

सामायिक, प्रतिक्रमण और चारित्र

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुहपडिकूला, अप्पियवहा
पियजीविणो जीविउकामा णातिवाएज्ज कचण ।[1]

—आचाराग १ २ ३

१

महावीर ने मूक जगत के साथ तो सम्बन्ध स्थापित किया ही था उन्होंने देव ताओ तक भी अपनी बात पहुँचाई थी। मगर देव जसी किसी हस्ती की स्वीकृति हम बहुत कठिन मालूम पडती है। जो हमे दिखाई पडता है, वही हमारे लिए सत्य प्रतीत होता है। देव उस अस्तित्व का नाम है जो हमे साधारणत दिखाई नहा पडता लेकिन यदि थोडा सा भी श्रम किया जाय तो उस लोक के अस्तित्व को भी देखा जा सकता है। उससे सम्बद्ध भी हुआ जा सकता है। जहाँ हम रह रहे हैं ठीक वहीं देव भी हैं और प्रेत भी। प्रेतात्माएँ इतनी निकृष्ट हैं कि उन्होंने मनुष्य होने की सामर्थ्य खो दी है। देवात्माएँ मनुष्य से ऊपर उठी आत्माएँ हैं जिनम मोक्ष को उपलब्ध करन की सामर्थ्य नहीं है। ये सारी आत्माएँ ठीक हमारे साथ हैं, किसी चाँद पर नहा। इसलिए कभी-कभी व हमारा स्पश भी करती हैं और किन्हीं छाहा म दिखाइ भी पडती हैं। परन्तु साधारणत ऐसा नहा होता क्योंकि हमारा और उनका अलग-अलग अस्तित्व है। एक ही कमरे म प्रकाश भी हो सकता है और सुगंध भी। उसम वीणा की ध्वनि भी गूँज सकती है। जिस प्रकार य एक-दूसरे को नहीं काटते, उसी प्रकार देवता, प्रेत और मनुष्य एक ही जगत मे रहकर भी एक दूसरे की जगह घेरने का काम नहीं करत। उनका अस्तित्व हमारे अस्तित्व क ठीक समानान्तर है और वे हमारे साथ चलते हैं। महावीर या उनके जसे व्यक्तियो के जीवन क साथ उनका निरन्तर सम्बन्ध और सम्पक रहा है जिसे परम्पराएँ समझने में एकदम असमथ हैं। उनकी बातचीत वसे ही होती है जस दो व्यक्तियो के बीच होती है। महावीर इन्द्र या और देवता किसी कल्पनालोक म बातें नहीं करते। वे बिल्कुल आमन-सामने मिलते और बातें करते हैं।

---

१ सभी प्राणियों को अपना अपना जीवन प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुख सबके प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, जीवन प्रिय है सब जीने की कामना करते हैं। इसलिए किसी को मारना या कष्ट देना नहीं चाहिए।

इसमे सन्देह नही कि उनसे—देवलोक से, प्रेतात्माओ से—सम्बन्धित होने का जो मार्ग है वह हमारे भीतर है और आज प्रसुप्त है। मनुष्य के मस्तिष्क का शायद एक तिहाई भाग काम कर रहा है। इससे वैज्ञानिक भी चिन्तित है। उनका खयाल है कि यदि हमारे मस्तिष्क का वह बडा हिस्सा जो निष्क्रिय पडा है, सक्रिय हो जाय तो नई इन्द्रियो का खुलना शुरू हो जायगा और जीवन तथा अस्तित्व की अनन्त सम्भावनाओ से हमारे सम्बन्ध जुडने शुरू हो जायेंगे। तीसरी आँख की बात हम निरन्तर सुनते रहे है। अगर वह हिस्सा जो हमारी दोनो आखो के बीच निष्क्रिय पडा है, सक्रिय हो जाय—हमारी तीसरी आँख खुल जाय—तो हम कुछ ऐसी बातें देखना शुरू कर देंगे जिनकी हमे आज कल्पना तक नही है। वह तीसरी आँख रेडार से भी अद्भुत होगी। उसके लिए स्थान और काल के परदे न होंगे। वह भविष्य की बहुत-सी सम्भावनाओ को पकड सकेगी, दूसरे के मन मे चलनेवाले विचारों की झलक पा लेगी। मस्तिष्क का एक हिस्सा जो आज निष्क्रिय पडा है, वह सक्रिय होते ही हमे देवलोक से जोड सकता है। स्विडनबोर्ग नामक एक व्यक्ति ने अपनी पुस्तक 'स्वर्ग और नरक' मे देवताओ के सम्बन्ध मे बहुत अद्भुत बाते कही हैं। यूरप मे देवलोक के सम्बन्ध मे जानकारी रखनेवाला पहला आदमी वही था। उसने अपनी पुस्तक मे आँखो देखे वर्णन दिए हैं।

पिछले विश्वयुद्ध मे एक व्यक्ति रेलगाडी मे गिर पडा और गिरते ही उसके मस्तिष्क का एक निष्क्रिय भाग सक्रिय हो गया। उसे दिन मे तारे दिखाई पडने लगे। बाद मे डाक्टरो ने उसके सिर का ऑपरेशन किया ताकि उसे दिन मे तारे न दिखाई पडे। इसी प्रकार एक अन्य व्यक्ति को दूसरे महायुद्ध मे ही चोट लगी और वह अस्पताल लाया गया। उसे महसूस हुआ कि उसके कान रेडियो की भाँति ध्वनियाँ पकडने लगे है। उस आदमी के पागल होने की नौबत आ गई।

शायद हमे पता नही कि हमारे मस्तिष्क की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। महावीर को पता था कि देवलोक से सम्बन्धित होने के लिए मस्तिष्क मे एक विशेष हिस्सा है जिसका सक्रिय होना जरूरी है। प्रश्न है कि यह हिस्सा सक्रिय कैसे हो? इस सम्बन्ध मे पहली बात यह है कि अगर कोई व्यक्ति समग्र चेतना से, अपने सारे शरीर को छोडकर सिर्फ दोनो आँखो के बीच आज्ञाचक्र पर ध्यान स्थिर करता रहे तो जहाँ हमारा ध्यान स्थिर होता है वही सोए हुए केन्द्र तत्काल सक्रिय हो जाते है। ध्यान सक्रियता का सूत्र है। शरीर मे किन्ही भी केन्द्रो पर ध्यान स्थिर करने से वे केन्द्र सक्रिय हो जाते है। उदाहरण के लिए 'सेक्स सेन्टर' को ही ले। जैसे ही आप का ध्यान यौन-केन्द्र की तरफ जायगा, वह केन्द्र तत्काल सक्रिय हो जायगा। सिर्फ ध्यान जाने से ही स्वप्न मे भी, जरा सी कल्पना उठते ही सेक्स वासना का केन्द्र सक्रिय हो जाता है। आज्ञाचक्र वह जगह है जिसे दूसरे लोग 'तीसरी आँख' भी कहते

हैं। अगर सारा ध्यान वहाँ केंद्रित हो जाय तो भीतर करीब-करीब एक आख के बराबर का एक टुकड़ा बिल्कुल खुल जाता है।

जिसे हम महावीर का साधना काल कहते हैं वह अभिव्यक्ति के माध्यम खोजने में और इस तरह के केंद्रों को सक्रिय करने और तोड़ने में व्यतीत हुआ। इस तरह के केंद्रों को तोड़ने में जितना ज्यादा ध्यान बिना बाधा के दिया जा सके उतना उपयोगी है। यही वजह है कि महावीर को बहुत लम्बे अरसे तक खाना, पीना, सोना आदि सारे काम त्यागने पड़े थे। चोट सतत और सीधी होनी चाहिए। बीच में कोई बाधा न आए। बीच में दूसरी बात आयगी तो ध्यान वहीं जायगा। और ध्यान दूसरी जगह गया कि जो काम हुआ था वह अधूरा छूट जायगा। वह अधूरा न छूट जाय, इसलिए जीवन के सारे कामों से—जो बीच में बाधाएँ उपस्थित कर सकते हैं—ध्यान हटाना पड़ेगा। तभी किसी केन्द्र को पूरी तरह सक्रिय किया जा सकता है।

ध्यान रहे कि महावीर का अधिकतम साधना खड़े खड़े हुई है, जब कि दूसरे साधकों ने बैठकर साधना की है। महावीर के ध्यान का प्रयोग भी खड़े खड़े करने के लिए है। इसका कारण यह है कि बैठा या लेटा हुआ आदमी सो सकता है। और अगर एक क्षण भी ध्यान वहाँ से हट जाय तो पहला काम विलीन हो जाता है। जिस चक्र को सक्रिय करना हो उस पर सतत काम होना चाहिए। यह काम खड़े होकर ही किया जा सकता है। निद्रा से बचने के लिए ही महावीर ने भोजन करना छोड़ दिया था। नींद का पचहत्तर प्रतिशत भोजन से सम्बन्धित है। जो लोग आज्ञाचक्र पर काम करते हों और जिनका ध्यान उस पर लगा हो, उनकी शक्ति नीचे नहीं आनी चाहिए। यदि पेट भरा हो तो मस्तिष्क की शक्ति उतर आती है नीचे। सत्य की अनुभूति से वह चक्र नहीं खुल जाता। हाँ, उस अनुभूति को उस चक्र के माध्यम से प्रकट करना हो तो उसे खोलने की जरूरत पड़ती है। आज्ञाचक्र के खुलने से ही देवताओं से जुड़ा जा सकता है। भाव जो भीतर पैदा होते हैं वे आज्ञाचक्र से प्रतिध्वनित हो जाते हैं और देव चेतना तक प्रवेश कर जाते हैं।

मैंने दो बात कहीं। जड़ से सम्बन्धित होना हो तो चेतना इतनी शिथिल हो जानी चाहिए कि जड़ के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाय और यदि मनुष्य से ऊपर की योनियों से सम्बन्धित होना हो तो चेतना इतनी एकाग्र होनी चाहिए कि आज्ञा चक्र सक्रिय हो जाय—तीसरी आँख खुल जाय।

सम्मोहन के द्वारा संदेश कैसे पहुँचाया जाय, इसके लिए भी महावीर ने वर्षों तक काम किया था। लेकिन उन्होंने इस विधि का उपयोग नहीं किया, क्योंकि उन्हें पता था कि सम्मोहन के द्वारा संदेश तो पहुँच जाते हैं लेकिन दूसरे व्यक्ति का कुछ सूक्ष्म नुकसान भी हो जाता है। उसकी तक शक्ति क्षीण हो जाती है वह परवश

हो जाता है और धीरे-धीरे दूसरे के हाथ मे जीने लगता है। मैंने भी इधर सम्मोहन पर कई प्रयोग किए। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि सम्मोहित व्यक्ति मे कोई बात आसानी से प्रवेश कराई जा सकती है। लेकिन मैं भी इसी नतीजे पर पहुँचा कि जिस व्यक्ति पर सम्मोहन के प्रयोग होते है और जिसमे सम्मोहन की अवस्था मे कोई बात प्रवेश कराई जाती है, वह व्यक्ति ऐसे जीने लगता है जैसे उनकी कोई स्वतत्र सत्ता नही। रामकृष्ण ने विवेकानन्द को जो पहला सन्देश दिया था, वह सम्मोहन की विधि से दिया था। रामकृष्ण के स्पर्शमात्र से विवेकानन्द को समाधि का अनुभव हो गया था। मरने के तीन दिन पहले भी उन्हे ऐसा ही अनुभव हुआ था। वह अनुभव भी विवेकानन्द का अपना न था। उसमे विवेकानन्द की अपनी कोई उपलब्धि न थी। चूँकि वे रामकृष्ण से बँधे थे, इसलिए बहुत चिन्तित, दुखी और परेशान रहते।

अब प्रश्न उठता है कि अगर महावीर ने सम्मोहन की प्रक्रिया का उपयोग नही किया तो रामकृष्ण ने क्यो किया? इसका सबसे बडा कारण यह है कि रामकृष्ण वाणी मे असमर्थ थे और वाणी के लिए विवेकानन्द को साधन की तरह उपयोग करना जरूरी था। नही तो रामकृष्ण ने जो जाना था, वह खो जाता। इसलिए मैं कहता हूँ कि विवेकानन्द सिर्फ रामकृष्ण के ध्वनि-विस्तारक यत्र है, इससे ज्यादा नही। महावीर को ऐसी कोई कठिनाई न थी। उनके पास रामकृष्ण के अनुभव थे और विवेकानन्द की सामर्थ्य भी। इसलिए दो व्यक्तियों की जरूरत न पडी। एक ही व्यक्ति काफी था। इसी प्रकार गुरजिएफ ने ऑस्पेस्की का उपयोग किया था। गुरजिएफ के पास वाणी न थी, ऑस्पेस्की के पास वाणी थी, बुद्धि थी, तर्क था। महावीर के पास गुरजिएफ की साधना थी और ऑस्पेस्की की वाणी, बुद्धि और तर्क भी। उनके पास भी सम्मोहन का साधन था, लेकिन उन्होने देखा कि वह साधन व्यक्ति को नुकसान पहुँचाता है। वे ध्यान को उपलब्ध थे, इसलिए मौन मे ही सवाद सप्रेपित कर लेना उनके लिए सहज सुगम था। उनके लिए शब्दो के उपयोग की आवश्यकता ही न थी। वस्तुत. शब्द सबसे असमर्थ चीज है। मौन मे जो कहा जाय, वह पहुँच जाता है, जो कहा ही नही जा सकता, बल्कि केवल समझा जा सकता है, वह भी पहुँच जाता है।

इसलिए महावीर के भक्तो को श्रावक कहते है—श्रावक यानी ठीक से सुननेवाला। सुनते हम सभी है और इसलिए, इस अर्थ मे, हम सभी श्रावक हैं। किन्तु हम उस अर्थ मे श्रावक नही हैं जिस अर्थ मे महावीर के सच्चे भक्त इसका प्रयोग करते हैं। श्रावक वह है जो ध्यान की स्थिति मे बैठकर सुन सके—उस स्थिति मे जहाँ उसके मन मे कोई विचार न हो, शब्द न हो, कुछ भी न हो। मौन मे बैठकर जो सुन सके वही सच्चा श्रावक है और ऐसे व्यक्ति द्वारा होनेवाली सुनने की क्रिया को ही सम्यक्

श्रवण करते है। श्रावक हम तब होते हैं जब हम सिर्फ सुनते हैं और हमारे भीतर कुछ भी नही होता।

महावीर की सतत चेष्टा इसमे लगी कि मनुष्य श्रावक कैसे बने—वह कैसे सुन सके। वह तभी सुन सकता है जब उसके चित्त की सारी विचार-परिक्रमा ठहर जाय। फिर बोलने की जरूरत नही, वह सुन लेगा। ऐसी बोली जो बोली ना गई हो पर जिसे सुना गया हो, 'दिव्य ध्वनि' की सज्ञा पाती है। ऐसी ध्वनि बोली नही जाती लेकिन सुनी जाती है, दी नही जाती लेकिन पहुँच जाती है। सिर्फ भीतर उठती है और सम्प्रेषित हो जाती है। और स्मरण रहे कि श्रोता कान से सुनता है, श्रावक अपने पूरे प्राणो से सुनता है। महावीर ने सम्यक श्रवण की, श्रावक बनने की, कला विकसित की। यह बडी से बडी कला है जगत मे। क्राइस्ट-जैसी महान आत्माएँ भी लोगो का समझा न पाई। उन्होने सिर्फ इसकी फिक्र की कि मैं ठीक-ठीक कहूँ इसकी फिक्र नही की कि लोग ठीक ठीक सुन सकें। मुहम्मद ने इसकी फिक्र न की कि उनके श्रोता केवल सुने ही नही, सम्यक श्रवण भी करें। उन्होने केवल इसकी फिक्र की कि मैं जो कह रहा हू वह ठीक हो। लेकिन कहना ही ठीक होने से कुछ नही होता सुननेवाला भी ठीक होना चाहिए। नही तो कहना व्यर्थ हो जाता है।

इसलिए श्रावक बनने की कला को मैं महावीर की दूसरी बडी देना मे मानता हूँ।

२

जिसे 'प्रतिक्रमण'[1] (शास्त्रो मे 'पडिक्कमण') कहा जाता है वह भी श्रावक बनाने की कला का एक हिस्सा है। 'आक्रमण' का अर्थ होता है—दूसरे पर हमला करना,

---

१ द्रष्टव्य

पडिक्कमणेण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ? पडिक्कमणेण वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहिय वयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते सुप्पणिहिये विहरइ ॥ (उत्त० अ० २९, गा० ११)

'हे भगवान ! प्रतिक्रमण से जीव क्या उपार्जन करता है ?'

'हे शिष्य ! प्रतिक्रमण से जीव व्रता के छिद्रो को ढँकता है और इस तरह व्रतो के छिद्रो को ढँकने से वह जीव आस्रव रोकनेवाला होता है। साथ ही शुद्ध चरित्रवान और अष्टप्रवचन माता के प्रति उपयोग वाला बनता है तथा समाधिपूर्वक सयममार्ग मे विचरण करता है।' दे० प० धीरजलाल शाह 'शतावधानी', श्री महावीर वचनामृत (स० २०१९), प० ३६७ ३६८।

पडित सुखलालजी के अनुसार 'प्रतिक्रमण का मतलब पीछे लौटना है—एक स्थिति मे जाकर फिर मूल स्थिति को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।' (दर्शन और चिन्तन, पृ० १७९) 'सामान्य रीति से प्रतिक्रमण (१) द्रव्य और (२) भाव, यों दो

प्रतिक्रमण का अर्थ होता है—सभी हमलो को लौटा लेना। हमारी चेतना साधारणतः आक्रामक है। प्रतिक्रमण आक्रमण का उलटा है। इसका अर्थ है—सारी चेतना को समेट लेना। जिस प्रकार शाम को सूर्य अपनी किरणो के जाल को समेट लेता है, उसी प्रकार अपनी फैली हुई चेतना को मित्र, शत्रु, पत्नी, बेटे, मकान धन आदि मे वापस बुला लेना। जहाँ-जहाँ हमारी चेतना ने खूंटियाँ गाड दी है और वह फैल गई है, वहाँ-वहाँ से उसे वापस बुला लेना है। प्रतिक्रमण ध्यान का पहला चरण है, सामायिक[1] इसका दूसरा चरण। सामायिक ध्यान से भी अद्भुत शब्द है। 'ध्यान' शब्द किसी-न-किसी रूप मे पर-केन्द्रित है—इसमे किसी पर या कहीं ध्यान के होने का भाव छिपा है। यह कहने पर कि 'ध्यान मे जाओ', यह जिज्ञासा होती है कि पूछूं—किस के ध्यान मे जाऊँ? किस पर ध्यान करूँ, कहाँ ध्यान लगाऊँ? समय का मतलब होता है आत्मा और सामायिक का मतलब होता है आत्मा में होना। प्रतिक्रमण है पहला हिस्सा (दूसरे से लौट आओ), सामायिक है दूसरा भाग (अपने मे हो जाओ)। जबतक दूसरे से नही लौटोगे तब तक अपने मे होओगे कैसे? इसलिए पहली सीढी प्रतिक्रमण की है और दूसरी सीढी सामायिक की। लेकिन वह जो बकवास प्रतिक्रमण के नाम से चलता है, वह प्रतिक्रमण नही है।

महावीर ने ध्यान शब्द का प्रयोग नही किया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ध्यान शब्द ही दूसरे का इशारा करता है। लोग पूछते हैं—हम ध्यान

प्रकार का है। भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं। द्रव्य प्रतिक्रमण वह है, जो दिखावे के लिए किया जाता है। दोष का प्रतिक्रमण करने के बाद भी फिर से उस दोष को बार-बार सेवन करना, यह द्रव्यप्रतिक्रमण है। इससे आत्मशुद्धि के बदले ढिठाई द्वारा और भी दोषो की पुष्टि होती है। इस पर कुम्हार के बर्तनो को कंकर द्वारा बार-बार फोड़कर बार-बार माफी माँगनेवाले एक क्षुल्लक-साधु का दृष्टांत प्रसिद्ध है।' (उपरिवत्) पं० धीरजलाल शाह 'शतावधानी' के शब्दो में 'अज्ञान, मोह, अथवा प्रमादवश अपने मूल-स्वभाव से दूर गए किसी जीव का अपने मूल-स्वभाव की ओर पुनः लौटने की प्रवृत्ति प्रतिक्रमण कहलाती है।' इस सदर्भ मे निम्नलिखित गाथा भी स्मरणीय है :—

स्वस्थानाद् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशं गतः।
तत्रैव क्रमणं भूय., प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

अर्थात्—यदि (आत्मा प्रमादवश अपने स्थान से परस्थान में गई हो तो वहाँ से उसे वापस लौटाना ही प्रतिक्रमण कहाता है। दे० श्रीपंचप्रतिक्रमणसूत्र (जैन-साहित्य-विकास-मण्डल, १९५५), पृ०१६६।

१. सामाइय समाय की क्रिया। 'जिसमें सम अर्थात् राग-द्वेष रहित स्थिति का आय अर्थात् लाभ हो, उसको समाय कहते है।' (उपरिवत्, पृ० ३५)

करना चाहते हैं किसपर करें? ध्यान शब्द में ही विषय का खयाल छिपा है। इसलिए महावीर ने ध्यान की जगह जिस शब्द का अधिक प्रयोग किया है वह है सामायिक। यह महावीर का अपना शब्द है। जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मा में ही होता है तब उसे सामायिक कहते हैं।[1]

आइंस्टीन ने कहा था कि समय स्पेस (स्थान, क्षेत्र) का ही चौथा आयाम है, अलग चीज नहीं। उसकी मृत्यु के पश्चात इस विषय पर और काम हुआ और पाया गया कि टाइम भी एक तरह की ऊर्जा (एनर्जी, शक्ति) है। अब वैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य का शरीर तो तीन आयामों—लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई—से बना है, परन्तु उसकी आत्मा चौथे आयाम से बनी है। महावीर ने आज से लगभग २५०० साल पहले आत्मा को समय कहा था। कई बार विज्ञान जिन अनुभूतियों से बहुत बाद उपलब्धि कर पाता है, रहस्य में डूबे हुए सन्त उसे हजारों साल पहले देख लेते हैं। रूस के वैज्ञानिक निरन्तर इस तथ्य के निकट पहुँचते जा रहे हैं कि समय ही मनुष्य की चेतना है। यदि सोचें कि समय नहीं है जगत में, तो पदार्थ हो सकता है, पत्थर हो सकता है, लेकिन चेतना नहीं हो सकती, क्योंकि चेतना की जो गति है वह स्थान में नहीं है समय में है। जब आप अपने घर से यहाँ उठकर आते हैं तो आप का शरीर यात्रा करता है और यह यात्रा होती है स्थान में। आपकी जगह कार में अगर पत्थर भी रख दिया गया होता तो वह भी कार में बैठकर यहाँ आ जाता। लेकिन कार में बैठे हुए आप का मन एक और गति भी करता है जिसका दूरी से कोई संबंध नहीं। वह गति समय में है। हो सकता है आप जब घर में हों या कार में बैठे हों, तभी आप इस हाल में आ गए हों। आपका मन यहाँ आ पहुँचा हो। लेकिन आपकी गाड़ी अभी घर के सामने खड़ी है। जब आप कार में बैठे हैं तो दो गति हो रही हैं—एक तो आपका शरीर स्थान में यात्रा कर रहा है और दूसरे आपका मन समय में यात्रा कर रहा है। चेतना की गति समय में है।

१ देखिए महावीर वाणी, पृ० ५५९–५६१। जैनधर्म में सामायिक की प्रतिज्ञा विधिपूर्वक करनी पड़ती है। शुद्ध वस्त्र पहनकर कटासन, मुहपत्ती, चरवला, नवकार वाली एवं कोई भी धार्मिक पुस्तक लेकर गुरु के समक्ष जाना पड़ता है और कहना पड़ता है—'करेमि भंते! सामाइयं', अर्थात 'हे पूज्य! मैं सामायिक करता हूँ,' तदनन्तर कहना पड़ता है—'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि', अर्थात 'मैं पापमयी प्रवृत्ति का प्रतिज्ञा पूर्वक परित्याग करता हूँ।'

सामायिक में पापवाली प्रवृत्ति का छह प्रकार से त्याग किया जाता है—(१) पापवाली प्रवृत्ति में मन से करूँ नहीं, (२) पापवाली प्रवृत्ति में मन से कराऊँ नहीं, (३) पापवाली प्रवृत्ति में वचन से करूँ नहीं, और (६) पापवाली प्रवृत्ति में काया से कराऊँ नहीं। श्री पंच प्रतिक्रमण सूत्र, पृ० ३६।

महावीर ने चेतना को समय और ध्यान को सामायिक कहा है। अगर चेतना की गति समय मे है तो इस गति के ठहर जाने का नाम सामायिक है। शरीर की सारी गति के ठहर जाने का नाम आसन और चित्त की सारी गति के ठहर जाने का नाम ध्यान है।

समय के विना चेतना का कोई अस्तित्व अनुभव मे नही आ सकता। समय का जो वोध है वह चेतना का अनिवार्य अग है। इस बात मे और भी बातें अन्तर्निहित हैं। जगत् मे सभी चीजे क्षणभंगुर हैं। आज है, कल न होगी। इस जगत् की लम्बी धारा मे समय ही एक ऐसी चीज है जो सदा है, जो नही वदलता और जिसके भीतर सब वदलाहट होती है। अगर समय न हो तो बच्चा बच्चा रह जायगा, कली कली रह जायगी। क्योकि परिवर्तन की सारी सम्भावनाएँ समय मे है। जगत् मे सभी चीजे समय के बाहर है और परिवर्तनशील है, लेकिन समय 'समय' के बाहर है और परिवर्तनशील नही है। अकेला समय ही शाश्वत सत्य है जो सदा था, सदा होगा। महावीर आत्मा को समय का नाम इसलिए भी देना चाहते है कि वही तत्त्व शाश्वत, सनातन, अनादि, अनन्त है। साधारणत हम समय के तीन विभाग करते है . अतीत, वर्तमान और भविष्य। लेकिन यह विभाजन विलकुल गलत है। अतीत सिर्फ स्मृति मे है, और कही नही, भविष्य केवल कल्पना मे है, अन्यत्र नही। है तो सिर्फ वर्तमान। इसलिए समय का एक ही अर्थ हो सकता हैं—वर्तमान। जो है वही समय है। क्षण का अन्तिम हिस्सा जो हमारे हाथ मे है, महावीर उसे ही समय कहते है। 'समय' एक विभाजन है वर्तमान क्षण का जो हमारे हाथ मे होता है। जैसे अणु-परमाणु दिखाई नहीं पडते, वैसे ही क्षण का वह हिस्सा भी हमारे वोध मे नही आ पाता। जब वह हमारे वोध मे आता है तब तक वह जा चुका होता है। यानी, हमारे होश से भरने मे भी इतना समय लग जाता है कि समय जा चुका होता है। जिस दिन आप इतने शान्त हो जायँ कि वर्तमान आपकी पकड मे आ जाय, उस दिन आप सामायिक मे प्रवेश कर गए। चित्त इतना शान्त और निर्मल चाहिए कि वर्तमान का जो कण है अत्यल्प, वह भी झलक जाय। यदि वह झलक जाय तो समझना चाहिए कि हम सामायिक को उपलब्ध हुए—यानी हम समय के अनुभव को उपलब्ध हुए, हमने समय को जाना, देखा और अनुभव किया। जब हम कहते है कि आठ बजा तब उतनी ही देर मे घडी की सुई कुछ आगे जा चुकी होती है। वह कण-भर तो अवश्य सरक जाती है, आगे चली जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो कुछ कहा जाता है वह, कहते-कहते, अतीत का अग वन जाता है, हम जब भी पकड पाते है, अतीत को ही पकड पाते है। वर्तमान हमारे हाथ से चूक जाता है। हम इतने व्यस्त और अशान्त है कि उस छोटे-से क्षण की हमारे मन पर कोई छाप नही वन पाती। हम समय से निरन्तर चूकते चले जाते हैं, इस कारण अस्तित्व से परिचित नही हो

पाते। वस्तुत जा अस्तित्व है, समय भी वही है बाकी सब या ता हो चुका या अभी हुआ नही। जो है, उससे ही प्रवेश करना होगा।

महावीर इसलिए भी आत्मा का समय कहत ह कि समय के दशन होत ही जो उपलब्ध हाता है वह आत्मा है। जब तुम अस्तित्व का ही अनुभव नहीं कर पाते तो तुम्हारे अस्तित्व का मतलब क्या है? आत्मा तो सबके भीतर है—सम्भावना की तरह, सत्य की तरह नहा। हम भी आत्मा हो सकते हैं। जब हम कहते हैं कि सबके भीतर आत्मा है तो इसका मतलब सिफ इतना ही है कि हम भी आत्मा हो सकते ह, अभी ह नही। हम उसी क्षण आत्मा हो जायेंगे जिस क्षण हम अस्तित्व का दखने जानने, पहचानने म समथ हो जायगे। इस दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। अतीत और भविष्य मन के हिस्से ह, वतमान आत्मा का हिस्सा है। मन हमेशा अतीत और भविष्य म रहता है—पीछे या आगे। यहा, इसी वक्त, अभी, अब—एसी कोई चीज मन म नही होती। मन सग्रह है अतीत का और भविष्य की योजनाआ का। मन जीता है अतीत और भविष्य म। अतीत और भविष्य के बीच म एक अत्यन्त सूक्ष्म रेखा है जो दाना को तोडती है। यह वतमान है। यह रेखा इतनी बारीक है कि इसके अनुभव के लिए हमारा अत्यन्त शान्त होना जरूरी है। जरा-सा कम्पन हुआ कि हम चूक जायगे। इसलिए जिस दिन हमारी चेतना अकम्प होगी, उसी दिन समय के क्षण का एक छोटा-सा दशन भी हमे उपलब्ध होगा। वतमान का क्षण ही द्वार है अस्तित्व म प्रवेश का। ब्रह्म म प्रवेश कहें, सत्य या मोक्ष म प्रवेश कहें यह वतमान के क्षण से ही सम्भव हाता है।

चूकि हम वतमान के क्षण म व्यस्त होते ह, इसलिए चूक जाते हैं। इसलिए सामायिक का अथ है अव्यस्त होना। जब हम कुछ भी करते या सोचते नहीं हात, तब समय को पकडना सम्भव होता है। जहा कुछ किया कि समय चूक जाता है। महावीर ने आत्मा को समय का पर्याय कहा है और उन्होंने यह नाम बडे गहरे प्रयोजन से दिया है। उनका कहना था कि यदि तुम समय का जान लो समय म खडे हो जाओ, उसे देख लो तो तुम अपने को पहचान लोगे। लेकिन समय का जानना ही मुश्किल है। सबसे ज्यादा कठिन ह वतमान म खडा होना, क्योंकि हमारी पूरी आदत चाहे तो पीछे हाने की हानी है या आगे हाने की। हम चाह तो अतीत म होते ह या भविष्य मे। ऐसा आदमी विरल होता है जो वतमान म हो। यदि ऐसा आदमी मिल जाय ता समझना कि वह सामायिक म था। जब हम कुछ भी कहते नहीं होते, यहा तक कि न तो मन्त्र जपते होते ह और न अपनी सास देखते हुए तब सामायिक म होते ह। जिसे मैं श्वास देखना कहता हूँ वह सामायिक नही है। व्यथ की व्यस्तताएँ छूट जायें इसलिए मैं श्वास देखने के लिए कहता हूँ। जब कम स कम एक ही व्यस्तता रह जाय तब कहूँगा कि इससे भी छलाग लगा जायें। यह एक

ऐसी व्यस्तता है जिससे छलाग लगाने मे कठिनाई न होगी। यह सामायिक के पहले की सीढ़ी है—सिर्फ छलाग लगाने की सीढी।

मेरी वात अच्छी तरह समझ ले। कुछ करते जाना ही वर्तमान से चूकते जाना है। इसलिए कुछ क्षणो के लिए आप कुछ न करे, वस हो जायँ। कमरे मे पड़े है, कोने मे टिके है—सिर्फ है। कुछ भी न करें। वस है। वृक्ष है, पत्थर है, पहाड है, चाँद-तारे है, सव है। शायद वे इसलिए सुन्दर है कि समय मे कही गहरे डूबे हुए है। शायद हम इसीलिए इतने कुरूप, परेशान, चिन्तित और दुखी है कि समय से भागे हुए है—मानो जीवन के मूल स्रोत से कही झटका लग गया हो, जडे उखड गई हो और हम कही और आ गिरे हो।

क्रियाएँ दो तरह की है। एक तो हमारे शरीर की क्रियाएँ है जो हमारी निद्रा मे शिथिल हो जाती ह, वेहोशी मे वन्द हो जाती है। शरीर की इन क्रियाओ से कोई गहरी वाधा नही है और न इन्हे रोकना ही कठिन है। असली वाधाएँ तो उपस्थित होती है मन की क्रियाओ से जो हमे समय से चूकाती है। शरीर का अस्तित्व तो निरन्तर वर्तमान मे है, वह हमेशा समय मे है—वह एक क्षण भी न तो अतीत मे जाता है और न भविष्य मे। शरीर वही है जहाँ है। परन्तु भटकाता है मन। फिर भी लोग शरीर के ही दुश्मन हो जाते है, जव कि वेचारा शरीर हमसे शत्रुता नही ठानता। इसलिए साधक शरीर से दुश्मनी न साधे, वरन अ-मन की स्थिति मे पहुँचने का प्रयोग करें। उनके सारे प्रयोग इसी मन पर होने चाहिए। यह वडे मजे की वात है कि मन होगा तो क्रिया होगी; क्रिया होगी तो मन होगा। मन कहता है—कुछ भी करो, हम राजी है, क्योंकि करने-मात्र से मन वच जाता है। आप कहते है कि मत्र जपो तो वह कहता है, चलो हम राजी है। यदि आप कहते है कि हम कुछ भी करना नही चाहते, तो मन विलकुल राजी नही होता।

जेन भिक्षु कहते है कि ध्यान का अर्थ ही है कुछ न करना। जव तक हम कुछ कर रहे हैं तव तक ध्यान नही हो सकता। फिर भी, 'ध्यान' शव्द मे क्रिया जुड़ी हुई है। 'सामायिक' शव्द मे वह क्रिया नही है।[1] लगता है, ध्यान कुछ करने की

---

१. आचार्य रजनीश के अनुसार 'सूत्र अनुयायी वनाते है और वाँधते है। महावीर को कोई सम्वन्ध नही है इन सूत्रो से।...महावीर—जैसे लोगो को समझना ही मुश्किल है। क्योंकि वह जो वात कह रहे है, इतनी गहराई की है, और हम जहाँ खड़े है वह इतने उलथेपन मे है बल्कि उलथेपन से भी तट पर खड़े हुए है और वहाँ से जो हमारी समझ में आता है, वह इन्तजाम हम कर लेते है। अनुयायी सारी व्यवस्था देता है, और कुछ व्यवस्थापरक मस्तिष्क होते है जो सदा व्यवस्था देते रहते है।..' महावीर : मेरी दृष्टि मे (पृ० ३११–३१२) स्पष्ट है कि जहाँ आचार्य रजनीश 'सामायिक' को महावीरकी साधना-पद्धति का 'केन्द्रिय शव्द' (उपरि० पृ० २९१) कहते है वहाँ वे ऐसे सूत्रो से अपनी

बात है। 'सामायिक' मे करने को कुछ नही रह जाता। 'सामायिक' का मतलब है—अपने मे होना, 'समय' मे होना। करना नही है वहाँ, होना है सिर्फ। इसलिए जब कोई पूछता है कि 'सामायिक कैसे करें तो इससे और गलत सवाल दूसरा नही हो सकता।' वस्तुत हमारी सारी भाषा चिन्तना करने पर खडी है। न करने का हम कोई खयाल ही नहीं है। सूक्ष्मतम तल पर, जब भी हम कुछ करते हैं, सदा और के साथ करते हैं। जब हम कर्ता बनते है तब हम वह बनते है जो हम नही है। तब हम अपने ऊपर कोई अभिनय लेते है। उदाहरण के लिए उस व्यक्ति को ले जो दूकानदार बनता है। दूकानदार होना जीवन के एक बडे नाटक मे उसका अभिनय है। अगर स्वभाव को जानना हो, जो मैं हूँ उसे ही जानना हो, तो मुझे सारी क्रियाओं का, सभी चेहरो और अभिनयो को छोडकर बाहर हो जाना पडेगा। थोडी देर के लिए बाहर खडे हो जाने का नाम सामायिक है। एक बार मुझे पहचान हो जाय कि मेरा कोई नाम नही चेहरा नही, शरीर नही, कर्म नही, कोई अभिनय नहीं, मात्र होना है अस्तित्व मात्र मेरा स्वभाव है और जानना मात्र मेरी प्रकृति, तो एक मुक्ति, एक विस्फोट होगा। ऐसा विस्फोट व्यक्ति को जीवन के समस्त चक्कर के बाहर खडा कर देता है। हमारी सारी सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को उसका ठीक अभिनय देने की है।

चीन के एक झेन फकीर ने कहा है—तुम खोजते हो इसलिए खो रहे हो, जिसे तुम खोजते हो वह तुम्हें मिला हुआ है। एक क्षण तो रुको, अपनी दौड बद करो, ताकि तुम देख सको कि तुम्हें क्या मिला हुआ है ' बुद्ध को जिस दिन उपलब्धि हुई उस दिन सुबह उनसे लोगो ने पूछा—आप को क्या मिला ?' बुद्ध ने उत्तर दिया—मिला कुछ भी नही। जो मिला ही हुआ था वही मिल गया। कैसे मिला ? बुद्ध ने कहा—'कैसे की' बात मत पूछो। जब तक "कैसे" की भाषा में सोचता था, तब तक नही मिला। फिर मैंने सब खोज छोड दी। उसी क्षण पता लगा कि जिस मैं खोजता था वह मुझे मिला हुआ था। जब कोई आत्मा को खोजने लगता है तब वह पागलपन मे उलझ जाता है, क्योंकि आत्मा को खोजेगा कौन ? खोजेगा किस ? वह तो है ही हमारे पास। जब हम खोज रहे हैं तब भी, जब नही खोज रहे हैं तब भी। अगर यह बात ठीक से खयाल मे आ जाय कि सामायिक है अप्रयास, अखोज और अगर आप इसी क्षण मे हो सकते हैं तो आप वहा पहुँच जायेंगे जहा महावीर सदा से खडे हैं। अगर हम लक्ष्य को खोजते हुए भटकते रहें तो हम अनन्त-अनन्त जन्मो तक चूकते चले जायेंगे, कारण कोई लक्ष्य नहीं है जो भविष्य

असहमति प्रकट करते है जो 'सामायिक' को क्रिया मानते है। 'सामाइय-सुत्त' मे कहा गया है—'करेमि भंते ! सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।' अर्थात्, 'हे पूज्य ! मै सामायिक करता हूँ। अत पापवाली प्रवृत्ति को प्रतिज्ञापूर्वक छोड देता हूँ।'

मे है। वह है अभी और यही। जो नही जानते, वे कहते है—'जो खोजने की इच्छा कर रहा है, उसे खोजो।' लेकिन जो जानते है, वे कहेंगे—'जहाँ से प्रश्न उठा है, वहीं उतर जाओ—अन्यत्र न खोजो।' सच तो यह है कि पाने की भाषा ही गलत है। जिसे पा लिया गया है उसका आविष्कार कर लेना है। इसलिए आत्मा उपलब्ध नहीं होती, सिर्फ जो ढका हुआ होता है, उसे उघाड़ लिया जाता है। और आत्मा ढकी होती है हमारी खोज करने की प्रवृत्ति से; ढकी होती है हमारी और कही होने की स्थिति से। सामायिक न तो कोई क्रिया है, न कोई अभ्यास। यह न कोई प्रयत्न है और न कोई साधना। पाने की सब आकाक्षा स्वय के बाहर ले जाती है। जब पाने की कोई आकाक्षा नही रह जाती तब आदमी स्वय मे वापस लौट आता है। यह जो वापस लौट आना है और घर मे ही ठहर जाना है, 'सामायिक' कहलाता है। महावीर ने अद्भुत व्यवस्था की है 'अक्रिया' मे उतर जाने की। होने मात्र में उत्तर जाने की। जिसकी समझ मे न आ जाय उसके लिए सामायिक के करने का प्रश्न ही नही उठता। जिसकी समझ मे न आवे वह कुछ भी करता रहे, फर्क नही पड़ता।

साराश यह है कि सामायिक के लिए कुछ भी करने की आवश्यकता नही। कुछ देर के लिए कुछ भी करना नही है, जो हो रहा है, उसे होने देना है। विचार आते हो तो उन्हे आने देना है, भाव उठते हो तो उन्हे उठने देना है। सब होने देना है। थोडी देर के लिए आप कर्ता न रहे, बस साक्षी बन जायँ। सामायिक तभी होगी जब आप बिलकुल ही अप्रयास होंगे।

युद्ध या कुश्ती की एक कला का नाम है जुजुत्सू। जुजुत्सू मे हमला करना नही सिखाते, वरन् यह बतलाते हैं कि जब प्रतिद्वन्द्वी तुम्हारी छाती मे घूसा मारे तो उसके घूसे के लिए जगह बना देना, राजी होकर उसके घूसे को पी जाना। सामायिक का मतलब भी यही है—चित्त पर होने वाले हमलो के लिए राजी हो जाना। चित्त पर विचारो का, क्रोध और वासना का सतत आक्रमण जारी है। सबके लिए राजी हो जाना। कुछ करना ही मत। जो हो रहा है, होने देना। यही सामायिक है।

३

चारित्र-सम्बन्धी शास्त्रगत विचारो से मेरे विचारो का तालमेल नही बैठता। चरित्र की जो धारणा प्रचलित रही है[1] उससे मैं बिलकुल असहमत हूँ। मैं यह भी

१. उदाहरणार्थ: "सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥" रत्नकरंड०।

अर्थात्—'धर्म के प्रवर्तक सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धर्म कहते हैं। इनके विपरीत मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र संसार के मार्ग है।'

कहता हूँ कि महावीर की भी धारणा वसी न थी। वस्तुत असली चीज है अंतर्विवेक। जिसके पास अंतर्विवेक नही है, वह बाह्य आचरण को व्यवस्थित नही कर सकता। अंतर्विवेक हो तो बाह्य आचरण स्वय व्यवस्थित हो जाता है उसे व्यवस्थित करना नही पडता। जिसे करना पडता है, वह इस बात की खबर देता है कि उसके पास अंतर्विवेक नहा है। अंतर्विवेक की अनपस्थिति म बाह्य आचरण अधा है—चाहे हम उसे अच्छा कहें या बुरा, नतिक कहें या अनतिक। हमारा समाज अच्छा आचरण उसे कहता है जिससे उसके जीवन म सुविधा बनती है बुरा आचरण उसे कहता है जिससे असुविधा होती है। समाज को व्यक्ति की आत्मा से कोई मतलब नही है, सिर्फ व्यक्ति के व्यवहार से मतलब है, क्याकि समाज व्यवहार से बनता है, आत्माओ से नही बनता। समाज की चिता यह है कि आप सच बोलें, यह चिता नही है कि आप सत्य हो। आप झूठ हो तो कोई चिता नही, पर बोलें सच। समाज की चिता आपके आचरण से है, धम की चिता आपकी आत्मा से है। समाज के द्वारा आचरण की जो व्यवस्था है वह भय पर आधारित है। पुलिस है, अदालत है कानून है या पाप पुण्य का डर है स्वग है नरक है। परिणामस्वरूप समाज व्यक्ति का केवल पाखडी बना पाता है या अनतिक—नतिक कभी नही। और जो व्यक्ति पाखडी हो गया उसके धार्मिक होने की सम्भावना अनतिक व्यक्ति से भी कम हो जाती है। परम ज्ञानी जसा भीतर होता है वसा ही बाहर भी। अज्ञानी का भी बाह्याभ्यतर एक-सा होता है। बीच म पाखडी होता है जिसका बाहर ज्ञानी जसा किन्तु भीतर अज्ञानी-जसा होता है। उसके भीतर गाली उठती है हिंसा उठती है मगर वह 'अहिंसा परमोधम' की तख्ती लगाकर बठता है चरित्रवान दिखाई पडता है, अनुशासनबद्ध होता है। बाहर का व्यक्तित्व वह ज्ञानी से उधार लेता है और भीतर का व्यक्तित्व अज्ञानी से। वह पाखडी व्यक्ति, जिसे समाज नतिक कहता है, कभी भी धम को उपलब्ध नही होता। अनतिक व्यक्ति उपलब्ध हो भी सकता है। अक्सर पापी पहुँच जाते हैं पुण्यात्माएँ भटक जाती हैं। इसके दोहरे कारण हैं। एक तो पाप दुखदायी है। उसकी पीडा है जो रूपान्तरण लाती है। दूसरी बात यह है कि पाप करने के लिए समाज के विपरीत जाने के लिए भी साहस चाहिए। पाखडी लोग अतिसामान्य—मीडियोकर—होते हैं। उनम साहस नहीं होता। साहस के अभाव मे वे चेहरा वसा बना लेते हैं जैसा समाज चाहता है, समाज के डर के कारण। अनतिक व्यक्ति के पास एक साहस होता है जो कि आध्यात्मिक गुण है और उसके पास पाप की पीडा होती है।

पाखडियो की नैतिकता साहस की कमी के कारण होती है, साहस के कारण नही। एक आदमी चोरी नहा करता। आम तौर से हम उसकी प्रशसा करते हैं। मगर चोरी न करना ही अचार होने का लक्षण नहा है। चोरी न करने का मूल

कारण इतना हो सकता है कि आदमी तो चोर है, लेकिन चोरी करने का साहस नही जुटा पाता। जिन्हे हम नैतिक कहते हैं, अक्सर वे साहसहीन लोग होते है। और, याद रहे, धर्म साहस की यात्रा है। साहसहीन लोग इसलिए नैतिक होते हैं कि उनमे साहस नही है।

तो मेरी दृष्टि यह है कि पापी की सम्भावनाएँ धर्म के निकट पहुँचने की ज्यादा हैं उस व्यक्ति की अपेक्षा जिसे हम नैतिक व्यक्ति कहते हैं। जिस दिन पापी धर्म की दुनिया मे पहुँचता है वह उतनी ही तीव्रता से पहुँचता है जितनी तीव्रता से वह पाप की दुनिया मे गया था। नीत्से ने लिखा है—'जब मैंने वृक्षो को आकाश छूते देखा तो मैंने खोजबीन की। मुझे पता चला कि जिस वृक्ष को आकाश छूना हो उसकी जड़ो को पाताल छूना पडता है। तब मुझे खयाल आया कि जिस व्यक्ति को पुण्य की ऊँचाइयाँ छूनी हो उस व्यक्ति के भीतर पाप की गहराइयो को छूने की क्षमता चाहिए।'

मैं चाहता हूँ कि आदमी सीधा हो, चाहे वह पापी ही क्यों न हो। इसलिए मेरी भविष्यवाणी है कि आनेवाले सौ वर्षों मे पश्चिम मे धर्म का उदय होगा और पूरब मे धर्म प्रतिदिन क्षीण होता चला जायगा। इसका कारण यह है कि पूरब पाखडी है, पश्चिम बुरा है मगर साफ है। यह साफ बुरा होना पीड़ा देनेवाला है। इसलिए उस पीड़ा से पश्चिम को बाहर निकलना ही पडेगा। पाखडी का झूठा अच्छा होना पीडा नही बनता। वह कुनकुनी हालत मे होता है—कभी भाप नही बनता, बर्फ भी नही बनता। पापी आदमी बर्फ भी बन सकता है, भाप भी बन सकता है। मेरा मानना है कि समाज ने नैतिक शिक्षा देकर अपने को किसी प्रकार सुव्यवस्थित तो कर लिया है मगर व्यक्ति की आत्मा को भारी नुकसान पहुँचाया है। और मेरा यह भी मानना है कि समाज व्यवस्थित है, यह सिर्फ दिखाई पडता है। अगर व्यक्ति झूठे है तो व्यवस्था सच्ची कैसे हो सकती है?

अक्सर धार्मिक व्यक्ति को असामाजिक होना पडा है, क्योंकि वह इस झूठे समाज से राजी नहीं हो सकता। इसलिए बुद्ध अपने भिक्षुओ को जो नाम देते हैं वह है 'अनागरिक'। असल मे भिक्षु, साधु, सन्यासी का मतलब ही यह है कि वह किसी अर्थ मे असामाजिक हो गया है। समाज का अब तक का इतिहास झूठी नैतिकता, झूठी व्यवस्था और अराजकता के बीच डोलता रहा है।

मैं यह भी कहता हूँ कि काम-वासना उतनी खतरनाक नही है जितना खतरनाक पाखड है। पाखड मनुष्य की ईजाद है और काम-वासना परमात्मा की।

कहने की आवश्यकता नही कि सत्य से ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है। यदि काम-वासना सत्य है तो उससे भी ब्रह्मचर्य तक पहुँचा जा सकता है। सत्य काम-वासना की समझ से ही उत्पन्न अन्तिम अनुभूति है। काम-वासना व्यक्ति के जीवन का सत्य है। इस सत्य को समझने से हम और बड़े सत्य को उपलब्ध हो सकते है—

याना ब्रह्मचय वासना की ही ऊर्ध्वगमन समझ से हुई निष्पत्ति है। वह वासना के विरुद्ध लड़ी गई बात नहीं है। वासना को ठीक से समझा-पहचाना, वह धीरे धीरे ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो जाता है।[1] जिसने इसे पहचानने से इनकार कर दिया वह अपने ऊपर झूठा ब्रह्मचर्य थोप लेता है। जब मैं साधु-संन्यासियों से मिलता हूँ तो हैरान हो जाता हूँ। लोगों के सामने तो वे आत्मा परमात्मा की बातें करते हैं ब्रह्मचर्य के गुण गाते हैं, परन्तु एकान्त में वे पूछते हैं कि काम-वासना से छुटकारा कैसे हो। इसलिए मैं कहता हूँ कि जो आदमी सेक्स को ठीक से समझ लेता है वह ब्रह्मचारी हुए बिना नहीं रह सकता—उसे ब्रह्मचर्य की ओर जाना ही होगा। अगर किसी को ब्रह्मचर्य की ओर लाना हो तो उसे काम-वासना की पूरी समझ देनी होगी। उसके उस सम्मोहन को तोड़ना पड़ेगा जो उसे काम-वासना दे रही है। यह जानकर हैरानी होगी कि साधारणतया कामुक व्यक्ति उतना कामुक नहीं होता जितना वह साधु-संन्यासी होता है जिसने ऊपर से ब्रह्मचर्य थोप लिया है। वह एक क्षण भी काम से छुटकारा नहीं पा सकता। उसने जिसे दबाया है वह भीतर से निकलने के लिए हजारों उपाय खोज लेगा, वह उसके सारे चित्त को घेर लेगा, उसके पूरे चित्त के रग रग में प्रविष्ट हो जायगा। ऐसा व्यक्ति सेक्स के केन्द्र पर इतना दमन डालता है कि सेक्स की प्रवृत्ति दूसरे केन्द्रों में प्रविष्ट हो जाती है—अर्थात्, वह उसके मन और उसकी चेतना तक में चली जाती है। ब्रह्मचर्य सरल है अगर थोपा न जाय। यह कठिन है

---

१ रजनीश की ब्रह्मचर्य विषयक मान्यताएँ जनधर्म की मूलभूत मान्यताओं का खंडन नहीं करतीं और उनमें काम-वासना की प्रशस्ति है। उनका लक्ष्य विशुद्ध आध्यात्मिक रहस्य है। रजनीश काम-वासना तक रुकने को नहीं कहते, प्रत्युत उसे स्वीकृति देने और समझने की सलाह देते हैं, उसके सत्य को स्वीकार करने की माँग करते हैं। और यह इसलिए करते हैं कि ऐसी स्वीकृति से ही ब्रह्मचर्य फलित हो सकता है, अन्यथा नहीं। काम-वासना को जानना है ताकि उससे मुक्त हुआ जा सके। उसके दमन से ब्रह्मचर्य फलित नहीं होता, उसकी स्वीकृति से उसका अतिक्रमण हो सकता है। वे कहते हैं कि काम-वासना के सत्य को समझो, इससे भागो मत, डरो मत, भयभीत मत होओ—इसे पहचानो, जागो। जागोगे, पहचानोगे, समझोगे तो काम-वासना क्षीण होगी और पूर्ण समझ की स्थिति में रूपान्तरित हो जायगी। हाँ, वे यह नहीं मानते कि मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे स्थान में निवास करे जहाँ एकान्त हो, जो कम बस्ती वाला हो और जो स्त्री आदि से रहित हो।

ज विवित्तमणाइन्नं, रहियं थीजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए॥

(उत्त० अ० १६, गा० १)

अगर थोप लिया जाय। तो मैं कहता हूँ कि समाज को सम्यक् वासना सिखाओ, सम्यक् काम की शिक्षा दो। महावीर भी जिस ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हुए थे, वह जन्म-जन्मान्तरो की वासना की समझ का ही परिणाम था।

किसी चीज को समझने के लिए उससे गुजरना और उसे जीना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य की साधना की प्रक्रिया का सूत्र यह है कि सेक्स के क्षण मे हम जागे हुए कैसे रहे। अगर आप दूसरे क्षणो मे जागे हुए होने का अभ्यास कर रहे हैं तो आप सेक्स के क्षण मे भी जागे हुए हो सकते हैं। ठीक यही बात मृत्यु के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। मृत्यु का भय इतना ज्यादा है कि हम मृत्यु को जागे हुए भोग नही पाते, इसलिए मृत्यु से अपरिचित रह जाते हैं। एक दफा कोई मृत्यु मे जागे हुए गुजर जाय तो मृत्यु खत्म हो गई, आत्मा के अमर स्वरूप का ज्ञान हो गया और उसे पता लगा कि मरा तो कुछ भी नही, सिर्फ शरीर छूटा है। हम सेक्स से मूर्च्छित गुजरते है, इसलिए उससे अपरिचित रह जाते हैं। जो सेक्स से परिचित हो जाय, वह ब्रह्मचर्य को जान लेता है।

प्रकृति ने जिन्दगी के सभी कीमती अनुभवो को बेहोशी मे गुजरवाने का इन्तजाम किया है। यदि ऐसा न होता तो आप उनसे गुजरने से इनकार कर देते। सेक्स प्रकृति की गहरी जरूरत है। वह सन्तति उत्पादन की व्यवस्था है। प्रकृति नही चाहती कि आप उसमे गडबड करे। जिसे आप प्रेम आदि की सज्ञा देते है वह सब बेहोश होने की तरकीबे है, और कुछ नही। प्रेयसी के पास आपको पहले मूर्च्छित होना पड़ता है, उसे मूर्च्छित करना पडता है। प्रेमक्रीडा से गुजरने के पहले सारा गोरख-धधा एक-दूसरे को मूर्च्छित करने का उपाय है।

मेरे कहने का तात्पर्य कुल इतना है कि यदि आप किसी भी क्रिया से मुक्त होना चाहते हो तो याद रखिए—मूर्च्छित हालत मे आप उससे कभी मुक्त नही हो सकते।

अगर महावीर स्त्रियो को छोडकर जगल चले गए है तो हमे लगता है कि हम भी स्त्रियो को छोडे और जगल चले जायँ। हम महावीर की बुनियादी बात समझना भूल गए। वे जब जगल जा रहे है तो पीछे स्त्रियो की स्मृति नही है उनके मन मे। लेकिन आपका जगल जाना कुछ और होता है। वहाँ उनकी स्मृति आपको घेरे हुए होती है और आप समझते है कि आप वही काम कर रहे है जिसे महावीर ने किया था। आप भी जंगल में जाकर बैठ जायँगे। मगर महावीर बैठेंगे तो स्वयं खो जायँगे। आप बैठेंगे तो स्त्रियो मे खो जायँगे। आप कहेगे कि यह तो महावीर ने भी किया था जो हम कर रहे है। हमारी कठिनाई यह है कि हमे ऊपर का रूप ही दिखाई पडता है। महावीर जंगल जाते दिखाई पडते है। उनके भीतर क्या घटी है, यह हमे दिखाई नही पडती। अगर वह दीख पड जाय तो बात कुछ और ही हो जाय।

तो मेरा कहना है कि बिना अनुभव के कोई मुक्ति नहीं। पाप के अनुभव के बिना पाप से भी मुक्ति नहीं। इसलिए भयभीत होकर जो पाप से रुका है, वह पाप से भी मुक्त नहीं होता। वह पाप करने की सिर्फ शक्ति अर्जित करता है। आज नहीं, कल वह पाप करेगा ही और पाप करके पछताएगा। स्वयं पछताकर फिर दमन करने लगेगा और तत्पश्चात—दमन के फलस्वरूप—फिर पाप करेगा और फिर पछताएगा। यह एक बुरा चक्र है—पाप पश्चात्ताप, फिर पाप और पश्चात्ताप। मैं कहता हूं कि पश्चात्ताप भूलकर भी मत करना। मैं कहता हूं जानकर पाप करना, पूरे जागे हुए पाप करना। जो भी करना पूरे जागे हुए करना। गाली भी देना तो पूरा जागे हुए देना। शायद गाली देने का मौका दुबारा न आवे और पश्चात्ताप की भी जरूरत न पड़े। मेरा मतलब केवल इतना है कि हमारा कोई भी अनुभव जितना जागरूक हो सके उतना अच्छा है। दमन का सवाल नहीं है।[१] मेरी धारणा रही है कि अनैतिक व्यक्ति को जितना बुरा कहा गया है, वह उतना बुरा नहीं होता। नैतिक व्यक्ति को जो भला कहा जाता है वह कहना भी गलत है। मेरी समझ में जीवन की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि व्यक्ति को सरल और सहज होने का मौका मिले—न उसकी निन्दा हो, न उसका दमन हो और न उसको जबरदस्ती ढालने-बदलने की चेष्टा हो। समाज उसे समझने का विधान और व्यवस्था दे। शिक्षा उसे समझने का मौका दे। कोई उससे न कहे क्रोध मत करो, क्रोध बुरा है। स्कूलों में उसे सिखाया जाय क्रोध करो लेकिन जागे हुए जानते हुए। अगर ऐसी व्यवस्था हो तो

---

१ रजनीश की मान्यता है कि ज्ञानी शास्त्र नहीं रचते। इसीलिए शास्त्रों का यह कथन कि साधु दमन करता है, ज्ञान से उद्भूत नहीं है। साधुधर्म के सम्बन्ध में एक सूत्र है :

समणं संजयं दंतं, हणेज्जा को वि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति, एवं पेहेज्ज संजए॥
(उत्त० अ० २, गा० २७)

इसमें साधु को इन्द्रियों का दमन करने वाला तथा संयमी कहा गया है। एक अन्य सूत्र में कहा गया है कि साधु कर्म आने के सभी अप्रशस्त द्वारों को सब ओर से बंदकर अनास्रवी हो जाता है और अध्यात्म तथा ध्यान-योग से आत्मा का प्रशस्त दमन एवं अनुशासन करनेवाला होता है :

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो।
अज्झप्पज्झाण जोगेहिं, पसत्थदमसासणो॥
(उत्त० अ० १९, गा० ९४)

व्यक्ति धीरे-धीरे क्रोध के बाहर हो जायगा, क्योंकि समझपूर्वक कोई कभी क्रोध नही कर सकता।

मेरी बात कई दफा उलटी दीखती है। कई दफा ऐसा लगता है कि इससे स्वच्छदता फैल जायगी, अराजकता का वीजवपन होगा। लेकिन अराजकता फैली हुई है, स्वच्छदता व्याप्त है। मैं जो कह रहा हूँ, उससे अराजकता मिटेगी, स्वच्छदता तिरोहित हो जायगी। जिन रास्तो पर हम चल रहे हैं वे हमे साधारण बनाने के रास्ते है। ऐसे रास्ते भी है जो हमे असाधारण बना सकते है। समाज नही चाहता कि व्यक्ति असाधारण बने। उसे साधारण व्यक्ति ही चाहिए, क्योकि साधारण व्यक्ति खतरनाक नही होते, वे विद्रोह नही करते—वे व्यक्ति नही, भीड होते हैं। समाज को भीड की आवश्यकता होती है, व्यक्ति की नही। नेता चाहते है भीड, गुरु चाहते है भीड, शोपक चाहते हैं भीड। और मैं कहता हूँ कि चाहिए व्यक्ति, क्योकि भीड की कोई आत्मा नही होती; मै चाहता हूँ एक ऐसी दुनिया, एक ऐसा समाज जिसमे व्यक्ति ही व्यक्ति हो, भीड़ नही। जो गुरु अनुयायियो को इकट्ठे करते फिरते हैं, वे हिंसक वृत्ति के लोग है। उनका लक्ष्य व्यक्ति को मिटाना होता है, भीड़ इकट्ठी करना होता है। जो उनसे राजी होते है, वे स्वय को मिटाकर अनुयायी बनना स्वीकार करते है। अच्छा आदमी यह नही चाहता कि आप उससे राजी हो। अच्छा आदमी चाहता है कि आप सोचना शुरू करे। मैं यह नही कहता कि आप मेरी बातो को मान ले। मेरा जोर इस बात पर है कि आप भी इस भाँति सोचना शुरु करे। जीवन मे सोचना शुरू हो, जागना शुरू हो, दमन बन्द हो, अनुगमन बन्द हो तो प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा मिलनी शुरू होगी और आत्मा प्रत्येक को असाधारण बना देती है।

प्रश्न उठता है कि इन ढाई हजार वर्पो मे जिन श्रावको और साधुओ ने व्रतो का पालन किया, क्या वे सब-के-सब पाखडी थे, क्या उनके लिए सत्य के ज्ञान की कोई सम्भावना नही थी ?

मैं कहता हूँ—नही, कभी कोई सम्भावना न थी। असल मे व्रत पालनेवाला कभी भी पाखडी होने से बच नही सकता। व्रती पाखडी होगा ही। व्रत लेता वही है जो भीतर सोया हुआ है। जो जग गया है, वह व्रत नही लेता—व्रत आते हैं उसके जीवन मे। कोई व्रती पाखडी न रहा हो, यह असम्भव है। व्रत का मतलब क्या है ? व्रत का मतलब है दमन, चित्त की उस दशा का दमन जिसके विपरीत आप व्रत ले रहे है। मैं कामवासना से भरा हूँ, इसलिए ब्रह्मचर्य का व्रत लेता हूँ; हिंसा से भरा हूँ, इसलिए अहिंसा का व्रत लेता हूँ, परिग्रह से भरा हूँ, अपरिग्रह का व्रत लेता हूँ। न तो परिग्रह का व्रत लेना पडता है और न हिंसा या कामवासना का। जो हम है उसका व्रत लेना नही पडता। जो हम नही है, उसका व्रत

लेना पड़ता है। निश्चित ही व्रत दमन लायगा। व्रती तो निःशल्य हो ही नहीं सकता।[1] उसका व्रत ही एक शल्य है। अव्रती निःशल्य हो सकता है। लेकिन मैं यह नहीं कहता कि अव्रती होने से ही कोई निःशल्य हो जायगा। अव्रती होना हमारे जीवन की स्थिति है। अव्रती दशा में जागना हमारी साधना है। उदाहरण के लिए कुन्दकुन्द को ही लें। वह वैसा ही व्यक्ति है जैसा महावीर। वह कोई व्रत नहीं पालता, केवल समझ को जगाता है। जो समझता है वह छूटता चला जाता है और जो व्यर्थ है आप ही विदा हो जाता है। लेकिन है वह अव्रती व्यक्ति। वह जो व्रती व्यक्ति है, वह सदा झूठा है, निपट पाखंडी है। व्रत पालन से कोई कभी कहीं नहीं पहुँचा। महावीर को भी मैं अव्रती कहता हूँ। कुन्दकुन्द भी अव्रती है। ऐसा ही है उमास्वाति। ऐसे ही हैं कुछ और लोग भी। लेकिन जब तुम कहते हो 'जैन श्रावक', 'जैन साधु' तो न तो कुन्दकुन्द जैन है, न उमास्वाति। जिन्हें जैन होने का पागलपन है, वे कभी नहीं पहुँचते क्योंकि जैन होने का भ्रम व्रत आदि से होता है।

व्रत की व्यर्थता का अनुभव व्रत पालने से ही होता है। अगर हम जाग जायँ तो पता लग कि हमारे सारे व्रत व्यर्थ थे। चित्त वैसा ही रह गया है जैसा था। सत्कर्म को भी मैं व्रत की भाषा मानता हूँ। यह भी व्रत की बात है। प्रेम अव्रत की भाषा है, अव्रत की बात है। लेकिन अव्रत अकेला काफी नहीं है। अव्रत के साथ जागरण हो। जागरण चाहे अव्रती का हो या व्रती का, फलीभूत होता ही है। आप जिस स्थिति में हों उसी में जाग जायँ। हम जो भी कर रहे हैं उसके प्रति जाग जायँ। करने के प्रति जागने से फल आना शुरू हो जाता है। चोरी करनेवाला चोरी के प्रति जाग जाय तो उसका भी जागरण सफल होगा। जागरण के पीछे वह होगा अवश्य। हम मन्दिर जा रहे हों तो भी जागना है, वेश्यालय जा रहे हों तो भी जागना है। हम जो भी करें उसे होशपूर्वक करें। होशपूर्वक करने से जो बच रह जाता है वह धर्म है और जो मिट जाता है वह अधर्म। नींद तोड़ने से बड़ा और कोई पौरुष नहीं है। हमारा कोई आन्तरिक शत्रु नहीं है सिवा निद्रा के, मूर्च्छा और प्रमाद के। इसलिए महावीर से कोई पूछे कि धर्म क्या है तो वे कहेंगे—अप्रमाद। और अधर्म क्या है? वे कहेंगे—प्रमाद। कोई पूछे कि साधुता क्या है? वे जवाब

---

१ शास्त्र कहते हैं कि व्रती को निःशल्य होना है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित सूत्र ध्यातव्य है :

खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं॥ (द०अ० ८, गा०२७)

अर्थात्—क्षुधा, तृषा, दुःशय्या, सरदी, गरमी, अरति (राग का अभाव), भय आदि सभी कष्टों को साधक अदीन भाव से सहन करे। (समभाव से सहन किए गए) दैहिक कष्ट महाफलदायी होते हैं।

देगे : अमूर्च्छा। असाधुता क्या है ? वे कहेंगे : मूर्च्छा। उनकी सारी साधना का सूत्र है विवेक—कोई कैसे जागे, कैसे होश से भरा हुआ हो।

महावीर का पौरुष काम, क्रोध, लोभ आदि से लड़ने में न था। ये तो लक्षण है सिर्फ। इनसे कोई पागल ही लड़ेगा। मूर्च्छा है मूल वस्तु। काम, क्रोध, लोभ इससे ही पैदा होते हैं। मूर्च्छा टूटेगी तो ये आप ही विदा हो जायेंगे। अगर मूर्च्छा से बचते हुए व्रत लेकर इन्हे खत्म करने की कोशिश की गई तो ये कभी खत्म न होंगे, क्योंकि मुर्च्छा भीतर जारी है। वह नए-नए रूपों में इन्हें पैदा करती रहेगी। एक कोने से न निकलकर दूसरे दरवाजे से ये फूट पड़ेंगे। महावीर तो बहुत स्पष्ट हैं कि साधना है अमूर्च्छा, संघर्ष यानी मूर्च्छा, संकल्प यानी जागरण।

आचारांग के एक वाक्य का अर्थ है कि 'तू बाह्य शत्रुओं से क्यों लड़ता है, अपनी आत्मा के शत्रुओं से ही लड़।' मैं सूत्रों की फिक्र नहीं करता, क्योंकि जो लोग उन्हे संगृहीत करते हैं वे कोई बहुत समझदार लोग नहीं होते। इसलिए उनसे तालमेल बिठाने का सवाल पैदा नहीं होता। यदि बैठ जाय तो यह आकस्मिक बात होगी। न बैठे तो मुझे इसकी परवा नहीं। 'आन्तरिक शत्रुओं से लड़' में कहीं-न कहीं बुनियादी भूल हो गई है, क्योंकि आन्तरिक शत्रु सिर्फ मूर्च्छा है। महावीर बार-बार यही कहते हैं। शत्रु एक ही है और मित्र भी एक। जागरण मित्र है और मूर्च्छा शत्रु। इसलिए सुनने वाले ने कहीं-न-कहीं भूल कर दी है। 'आन्तरिक शत्रु' से लड़ना है, न कि 'शत्रुओं' से। जो बहुत शत्रुओं से लड़ रहा है, वह बुनियादी भूल कर रहा है, क्योंकि मजे की बात तो यह है कि अगर काम चला जाय तो लोभ स्वतः चला जाता है, क्रोध चला जाता है, मोह चला जाता है। यानी ये चार जो तुम्हे दिखाई पड़ रहे हैं—काम, क्रोध, लोभ और मोह—संयुक्त है और उन सबका जो संयुक्त तना है नीचे, वह मूर्च्छा है। वहाँ से शाखाएँ निकलती रहती हैं। गहराई में उतरने वाले कहेंगे 'मूर्च्छा से लड़ना है।' और लड़ना क्या है, जागना है। जागा हुआ आदमी कभी लोभी नहीं पाया गया और सोया हुआ आदमी कभी अलोभी नहीं हुआ, अकामी नहीं हुआ। और, याद रहे, व्रत से कभी कुछ नहीं मिटता, क्योंकि व्रत शाखाओं से लड़ाई है। महावीर और कृष्ण मुक्त हुए होंगे तो दमन से नहीं, जागरण से। फ्रॉयड के शोधों से यह बात पहली बार स्पष्ट हुई है। इस नियम को उसने पहली बार वैज्ञानिक ढंग से कहा है। इसलिए अब जो लोग महावीर को समझने के लिए फ्रॉयड के पूर्व की भाषा का उपयोग करेंगे वे महावीर को आज के युग के लिए उपयोगी बनने न देंगे। यह निश्चित है कि महावीर की मुक्ति जब भी घटी होगी, वह दमन से घटी न होगी। दमन से मूर्च्छा पर विजय पाना एक वैज्ञानिक असम्भावना है। यानी—अगर कोई कहे कि दमन से महावीर उपलब्ध हुए हैं तो फिर महावीर उपलब्ध न हुए होंगे और अगर वे उपलब्ध हुए तो उन्होंने दमन न

किया होगा। मैं मानता हूँ कि वे उपलब्ध हुए क्योंकि जैसी शान्ति, जैसा आनन्द और जैसी ज्योति उनके व्यक्तित्व में आई वैसी दमित व्यक्ति को आ ही नहीं सकती। दमित व्यक्ति के चेहरे पर, मन पर सब ओर तनाव ही तनाव होता है। सिर्फ विमुक्त आदमी के मन में वैसी शान्ति हो सकती है जैसी महावीर के मन में है।

४

प्रश्न किए जाते हैं कि जिसे मैं सामायिक या आत्म स्थिति कहता हूँ, क्या वह वीतरागता ही नहीं है? आत्म स्थिति में होनेवाले लोग क्या जीवन व्यवहार में आकर अपनी आत्म स्थिति खो नहीं देते? मेरा उत्तर है—नहीं, वे इसे नहीं खोते। आप चाहे जागे हों या सोए, काम कर रहे हों या शान्त बैठे हों, आपकी सांस चलती ही रहती है, क्योंकि वह जीवन की स्थिति है। ऐसी ही चेतना की स्थिति है। एक बार वह हमारे खयाल में आ जाय तो फिर कभी मिटती नहीं। यानी जीवन-व्यवहार में उसका ध्यान नहीं रखना पड़ता कि वह बनी रहे—वह हमेशा बनी ही रहती है। धनपति को चौबीस घंटे यह याद रखना नहीं पड़ता कि वह धनपति है। लेकिन धनपति होने की वह स्थिति बनी रहती है चौबीस घंटे। हमारी स्थितियां हमारे साथ ही चलती हैं। एक पल के हजारवें हिस्से में भी अगर हमें आत्म स्थिति का अनुभव हुआ है तो वह अनुभव बराबर बना रहेगा, क्योंकि हमारे पास पल के हजारवें हिस्से से बड़ा कोई समय होता ही नहीं।

सामायिक को मैं मार्ग कहता हूँ वीतरागता की मंजिल। सामायिक द्वार है वीतरागता उपलब्धि। साधन और साध्य अन्ततः अलग अलग नहीं हैं। साधन ही विकसित होते होते साध्य हो जाता है। वीतरागता में परम उपलब्धि होगी उसकी जिसे सामायिक में धीरे धीरे उपलब्ध किया जाता है। सामायिक में पूरी तरह स्थिर हो जाना वीतरागता में प्रवेश करना है।

कृष्ण ने जिसे स्थिर या 'स्थितप्रज्ञ' कहा है वह वही है जो वीतराग है। दोनों शब्द बहुमूल्य हैं। वीतराग वह है जो सब द्वन्द्वों के पार चला गया है, जो दो के पार चला गया है जो एक में ही पहुंच गया है। अब ध्यान रहे कि स्थिर या स्थितप्रज्ञ वह है जिसकी प्रज्ञा ठहर गई है, जिसकी प्रज्ञा कांपती नहीं। प्रज्ञा उसकी ही कांपती है जो द्वन्द्व में जीता है—दो के बीच जीता है। जहाँ द्वन्द्व है वहां कम्पन है। महावीर ने द्वन्द्व के निषेध पर जोर दिया है, इसलिए 'वीतराग' शब्द का उपयोग किया है, कृष्ण ने द्वन्द्व की बात ही नहीं की स्थिरता पर जोर दिया। एक ही चीज को दो तरफ से पकड़ने की कोशिश की है दोनों ने। कृष्ण पकड़ रहे हैं दीए की स्थिरता से, महावीर पकड़ रहे हैं द्वन्द्व के निषेध से। लेकिन द्वन्द्व का निषेध हो तो प्रज्ञा स्थिर हो जाती है प्रज्ञा स्थिर हो जाय तो द्वन्द्व का निषेध हो जाता है। ये दोनों एक ही अर्थ रखते हैं।

यह भी न भूले कि जीवन-व्यवहार हमसे निकलता है। हम जैसे है वैसा ही हो जाता है। हम मूर्च्छित हैं तो हमारा जीवन-व्यवहार मूर्च्छित होता है। जो हम करते है, उसमे मूर्च्छा होती है। अगर हम ज्ञान मे पहुँच गए तो हमारा जीवन-व्यवहार ज्ञान से भर जाता है। अगर मूल स्रोत अमृत से भर गया तो फिर जो लहरें छलकेंगी, उनमे अमृत भरा होगा।

मैने ऊपर जिस अन्तर्ज्योति की बात कही, वह ऐसी ज्योति नही जो कभी बुझती है। वह अभी भी जल रही है। वह कभी बुझी नही, क्योंकि वह हमारी चेतना का अन्तिम हिस्सा है— वह हमारा स्वभाव है। पीठ फेरेंगे, लौटकर देखेंगे तो उसे जली हुई पायेंगे।

———

पंचम अध्याय

कर्मवाद

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बज्झगं ॥[1]

—उत्त० अ० ३३ गा० १८

१

कर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ समझना जरूरी है, क्योंकि जितनी नासमझी इस बात के सम्बन्ध में है उतनी शायद किसी बात के सम्बन्ध में नहीं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि किसी सत्य चिंतन के आसपास असत्य की कितनी दीवारें खड़ी हो सकती हैं! साधारणतः कर्मवाद ऐसा कहता हुआ प्रतीत होता है कि जो हमने किया है, उसका फल हमें भोगना पड़ेगा। हमारे कर्म और हमारे भोग में एक अनिवार्य कार्य-कारण सम्बन्ध है। यह बिल्कुल सत्य है कि जो हम करते हैं उससे अन्यथा हम नहीं भोगते—भोग भी नहीं सकते। कर्म भोग की तैयारी है। असल में, कर्म भोग का प्रारम्भिक बीज है। फिर वही बीज भोग में वृक्ष बन जाता है।

कर्मवाद का जो सिद्धान्त प्रचलित है, उसमें ठीक बात को भी इस ढंग से रखा गया है कि वह बिल्कुल गलत हो गई है। उस सिद्धान्त में ऐसी बात न मालूम किन कारणों से प्रविष्ट हो गई है कि कर्म तो हम अभी करेंगे और भोगेंगे अगले जन्म में। कार्य-कारण के बीच अन्तराल नहीं होता—अन्तराल हो ही नहीं सकता। अगर अन्तराल आ जाय तो कार्य-कारण विच्छिन्न हो जायेंगे उनका सम्बन्ध टूट जायगा। आग में मैं अभी हाथ डालूं और जलूं अगले जन्म में—यह समझ के बाहर की बात होगी। लेकिन इस तरह के सिद्धान्त का, इस तरह की भ्रान्ति का कुछ कारण है। वह यह है कि हम एक ओर तो भले आदमियों को दुख झेलते देखते हैं वहां दूसरी ओर हम बुरे लोग सुख उठाते दीखते हैं। अगर प्रतिपल हमारे कार्य और कारण परस्पर जुड़े हैं तो बुरे लोगों को सुखी होना और भले लोगों का दुखी होना, कैसे समझाया जा सकता है? एक आदमी भला है सच्चरित्र है ईमानदार है और दुख भोग रहा है कष्ट पा रहा है, दूसरा आदमी बुरा है, बेईमान है, चरित्रहीन है और

---

१ सभी जीव अपने आसपास छहों दिशाओं में स्थित कर्मपुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सब प्रदेशों के साथ सब कर्मों का सब प्रकार से बंधन हो जाता है।

सुख पा रहा है, वह धन-धान्य से भरा-पूरा है। अगर अच्छे कार्य तत्काल फल लाते हैं तो अच्छे आदमी को सुख भोगना चाहिए और यदि बुरे कार्यों का परिणाम तत्काल बुरा होता है तो बुरे आदमी को दुःख भोगना चाहिए। परन्तु ऐसा कम होता है।

जिन्होने इसे समझने-समझाने की कोशिश की उन्हें मानो एक ही रास्ता मिला। उन्होने पूर्व जन्म मे किए गए पुण्य-पाप के सहारे इस जीवन के सुख-दुख को जोड़ने की गलती की और कहा कि अगर अच्छा आदमी दुःख भोगता है तो वह अपने पिछले बुरे कार्यों के कारण और अगर कोई बुरा आदमी सुख भोगता है तो अपने पिछले अच्छे कर्मों के कारण। लेकिन इस समस्या को सुलझाने के दूसरे उपाय भी थे और असल मे दूसरे उपाय ही सच हैं। पिछले जन्मो के अच्छे-बुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दुःख की व्याख्या करना कर्मवाद के सिद्धान्त को विकृत करना है। सच पूछिए तो ऐसी ही व्याख्या के कारण कर्मवाद की उपादेयता नष्ट हो गई है।

कर्मवाद की उपादेयता इस बात मे है कि वह कहता है—तुम जो कर रहे हो, वही तुम भोग रहे हो। इसलिए तुम ऐसा करो कि सुख भोग सको, आनन्द पा सको। अगर तुम क्रोध करोगे तो दुःख भोगोगे, भोग ही रहे हो। क्रोध के पीछे ही दुःख भी आ रहा है छाया की तरह। अगर प्रेम करोगे, शान्ति से रहोगे और दूसरो को शान्ति दोगे तो शान्ति अर्जित करोगे : यही थी उपयोगिता कर्मवाद की। किन्तु इसकी गलत व्याख्या की गई। कहा गया कि इस जन्म के पुण्य का फल अगले जन्म मे मिलेगा, यदि दुःख है तो इसका कारण पिछले जन्म मे किया गया कोई पाप होगा। ऐसी बातो का चित्त पर बहुत गहरा प्रभाव नही पड़ता। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति इतने दूरगामी चित्त का नही होता कि वह अभी कर्म करे और अगले जन्म मे मिलने-वाले फल से चिन्तित हो। अगला जन्म अँधेरे मे खो जाता है। अगले जन्म का क्या भरोसा ? पहले तो यही पक्का नही कि अगला जन्म होगा या नही। फिर, यह भी पक्का नही कि जो कर्म अभी फल दे सकने मे असमर्थ है, वह अगले जन्म मे देगा ही। अगर एक जन्म तक कुछ कर्मों के फल रोके जा सकते है तो अनेक जन्मो तक क्यो नही ? तीसरी बात यह है कि मनुष्य का चित्त तत्कालजीवी है। वह कहता है : ठीक है, अगले जन्म मे जो होगा, होगा; अभी जो हो रहा है, करने दो। अभी मैं क्यो चिन्ता करूँ अगले जन्म की ?

इस प्रकार कर्मवाद की जो उपयोगिता थी, वह नष्ट हो गई। जो सत्य था, वह भी नष्ट हो गया। सत्य है कार्य-कारण सिद्धान्त जिस पर विज्ञान खड़ा है। अगर कार्य-कारण के सिद्धान्त को हटा दो तो विज्ञान का सारा भवन धराशायी हो जाय।

ह्यूम नामक दार्शनिक ने इंगलैंड मे और चार्वाक ने भारतवर्ष मे कार्य-कारण के सिद्धान्त को गलत सिद्ध करना चाहा। अगर ह्यूम जीत जाता तो विज्ञान का जन्म

नहीं होता। अगर चार्वाक जीत जाता तो धर्म का जन्म नहीं होता, क्योंकि चार्वाक ने भी कार्य-कारण के सिद्धान्त को न माना। उसने कहा : 'खाओ, पिओ, मौज करो, क्योंकि कोई भरोसा नहीं कि जो बुरा करता है, उसे बुरा ही मिले। देखो, एक आदमी बुरा कर रहा है और मजा भोग रहा है। चोर मजा कर रहा है, बेचारा दुखी है। जीवन के सभी कर्म असम्बद्ध हैं। बुद्धिमान आदमी जानता है कि किसी कर्म का किसी फल से कोई सम्बन्ध नहीं।'

चार्वाक के विरोध में ही महावीर का कर्म सिद्धान्त है।

धर्म भी विज्ञान है और वह भी कार्य-कारण सिद्धान्त पर खड़ा है।

विज्ञान कहता है : अभी कारण, अभी कार्य। परन्तु जब तथाकथित धार्मिक कहते हैं : 'अभी कारण, कार्य अगले जन्म में' तो धर्म का वैज्ञानिक आधार खिसक जाता है। यह अन्तराल एकदम झूठ है। कार्य और कारण में अगर कोई सम्बन्ध है तो उनके बीच में अन्तराल नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तराल हो गया तो सम्बन्ध क्या रहा? चीजें असम्बद्ध हो गईं, अलग-अलग हो गईं। यह व्याख्या नैतिक लोगों ने खोज ली, क्योंकि वे समझा नहीं सके जीवन को।

मेरी अपनी समझ यह है कि प्रत्येक कर्म तत्काल फलदायी है। जैसे—यदि मैंने क्रोध किया तो मैं क्रोध करने के क्षण में ही क्रोध को भोगना शुरू करता हूँ। ऐसा नहीं कि अगले जन्म में इसका फल भोगूँ। क्रोध का करना और क्रोध का दुख भोगना साथ-साथ चल रहा है। क्रोध विदा हो जाता है लेकिन दुख का सिलसिला देर तक चलता है। यदि दुख और आनन्द अगले जन्म में मिलेंगे और उनके लिए प्रतीक्षा करनी होगी तो कहीं किसी को हिसाब-किताब रखने की जरूरत होगी। परन्तु फल के लिए प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं होती। वह तत्काल मिलता है। हिसाब-किताब रखने की जरूरत नहीं होती। इसलिए महावीर भगवान् को भी विदा कर गये। अगर जन्म-जन्मान्तर का हिसाब-किताब रखना है तो फिर नियन्ता की व्यवस्था जरूरी है। नियन्ता की जरूरत वहीं होती है जहाँ नियम का लेखा-जोखा रखना पड़ता है। आप कि अभी कर्म और फल मुझे किसी दूसरे जन्म में मिले तो इसका हिसाब कौन रखेगा? इसलिए कुछ लोगों ने कहा : परमात्मा के पास। उन लोगों का परमात्मा महालेखिक है जो हमारे पुण्य-पाप का हिसाब रखता है और देखता है कि ठीक पूरे हो रहे हैं या नहीं।

महावीर ने यही वैज्ञानिक बात कही है। उनके अनुसार नियन्ता नहीं है, नियन्ता की जरूरत नहीं है। अगर नियन्ता है तो फिर उसमें रिश्वत देने की सम्भावना बनी रहेगी। लोग उसकी प्रार्थना करेंगे, खुशामद करेंगे और वह प्रसन्न होकर नियमों में उलट-फेर करना चाहेगा। कभी ब्राह्मण उसे दक्षिणा दें, या भोग में [illegible] और [illegible] हो [illegible] का [illegible] आशा दे। [illegible]

गिराओ तो उसके पैर नही टूटते, किसी दूसरे व्यक्ति को गिराओ तो उसके पैर टूट जाते है। प्रह्लाद की कथा पक्षपात की कथा है। उसमे अपने आदमी की फिक्र की जा रही है और नियम के अपवाद बनाए जा रहे हैं। महावीर कहते है कि अगर प्रह्लाद-जैसे अपवाद हैं तो फिर धर्म नहीं हो सकता। धर्म का आधार समानता है. नियम है जो भगवान के भक्तो पर उसी बेरहमी से लागू होता है जिस बेरहमी से उन लोगो पर जो उसके भक्त नही है। यदि अपवाद की बात मान ली जाय तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि क्षय के कीटाणु किसी दवा से न मरे। हो सकता है कि क्षय के कीटाणु भी प्रह्लाद की तरह भगवान् के भक्त हो और कोई दवा काम न करे। यदि धर्म है तो नियम है और अगर नियम है तो नियन्ता मे बाधा पड़ेगी। इसलिए महावीर नियम के पक्ष मे नियन्ता को विदा कर देते है। वे कहते है कि नियम काफी है और नियम अखड है। प्रार्थना, पूजा उनसे हमारी रक्षा नही कर सकती। नियम से बचने का एक ही उपाय है कि नियम को समझ लो। यह जान लो कि आग मे हाथ डालने से हाथ जलता है, इसलिए हाथ मत डालो।

महावीर न तो चार्वाक को मानते है और न नियन्ता के माननेवालो को। चार्वाक नियम को तोड़कर अव्यवस्था पैदा करता है और नियन्ता के माननेवाले नियम के ऊपर किसी नियन्ता को स्थापित कर अव्यवस्था पैदा करते हैं। महावीर पूछते हैं कि यह भगवान् नियम के अन्तर्गत चलता है या नही ? अगर नियम के अन्तर्गत चलता है तो उसकी जरूरत क्या है ? यानी—अगर भगवान् आग मे हाथ डालेगा तो उसका हाथ जलेगा कि नही ? अगर जलता है तो वह भी वैसा ही है जैसा हम हैं, अगर नही जलता तो ऐसा भगवान् खतरनाक है। यदि हम उससे दोस्ती करेंगे तो आग मे हाथ भी डालेंगे और शीतल होने का उपाय भी कर लेंगे। इसलिए महावीर कहते हैं कि नियम को न मानना अवैज्ञानिक है और नियन्ता की स्वीकृति नियम मे बाधा डालती है। विज्ञान कहता है कि किसी भगवान् से हमे कुछ लेना-देना नही, हम तो प्रकृति के नियम खोजते है। ठीक यही बात ढाई हजार साल पहले महावीर ने चेतना के जगत् मे कही थी। उनके अनुसार नियम शाश्वत, अखड और अपरिवर्तनीय है। उस अपरिवर्तनीय नियम पर ही धर्म का विज्ञान खड़ा है। यह असम्भव ही है कि एक कर्म अभी हो और उसका फल अगले जन्म मे मिले। फल इसी कर्म की शृखला का हिस्सा होगा जो इसी कर्म के साथ मिलना शुरू हो जायगा। हम जो भी करते हैं उसे भोग लेते हैं। यदि मेरी अशान्ति पिछले जन्म के कर्मो का फल है तो मैं इस अशान्ति को दूर नही कर सकता। इस प्रकार मैं एकदम परतन्त्र हो जाता हूँ और गुरुओ के पास जाकर शान्ति के उपाय खोजता हूँ। मगर सही बात यह है कि जो मैं अभी कर रहा हूँ उसे अनकिया करने की सामर्थ्य भी मुझमे है। अगर मैं आग मे हाथ डाल रहा हूँ और मेरा हाथ जल रहा है, और अगर मेरी मान्यता यह है कि

पिछले जन्म के किसी पाप का फल भोग रहा हूँ तो मैं हाथ डाल चला जाऊँगा, क्योंकि पिछले जन्म के कर्म को मैं बदल कैसे सकता हूँ? जिन गुरुओं की यह मान्यता है कि पिछले जन्म के किसी कर्म के कारण मेरा हाथ जल रहा है वे यह नही कहेंगे कि हाथ बाहर खींचो तो जलना बन्द हो जाय। इसका मतलब यह हुआ कि हाथ अभी डाला जा रहा है और अभी डाला गया हाथ बाहर भी खींचा जा सकता है लेकिन पिछले जन्म में डाला गया हाथ आज उसे बाहर खींचा जा सकता है? हमारी इस व्याख्या ने कि अनन्त जन्मों तक कर्म के फल चलते हैं, मनुष्य को एकदम परतन्त्र कर दिया है। किन्तु मेरा मानना है कि सब कुछ किया जा सकता है इसी वक्त, क्योंकि जो हम कर रहे हैं वही हम भोग रहे हैं।

जिन्दगी की विषमता को समझने के लिए ऊटपटांग व्यवस्थाएँ मान ली जाती हैं। मेरी समझ में यदि कोई बुरा आदमी सफल होता है, सुखी है तो इसका भी कारण है। मैं बुरे आदमी को एक बहुत बड़ी जटिल घटना मानता हूँ। हो सकता है, वह झूठ बोलता हो, बेईमानी करता हो, लेकिन उसमें कुछ और गुण होंगे जो हमें दिखाई नहीं पड़ते। वह साहसी हो सकता है, बुद्धिमान हो सकता है, एक-एक कदम को समझकर उठानेवाला हो सकता है। उसके एक पहलू को देखकर ही कि वह बेईमान है आपने निर्णय करना चाहा तो आप गलती कर लेंगे। हो सकता है कि अच्छा आदमी चोरी न करता हो, बेईमानी भी न करता हो, लेकिन वह कायर हो। बुद्धिमान् आदमी के लिए अच्छा होना अक्सर मुश्किल हो जाता है। बुद्धिमान आदमी अच्छा होने के लिए मजबूर होता है। मेरी मान्यता है कि सफलता मिलती है साहस से। अगर बुरा आदमी साहसी है तो सफलता ले आयेगा। अच्छा आदमी अगर साहसी है तो वह बुरे आदमी की अपेक्षा हजार गुनी सफलता ले आयेगा। सफलता मिलती है बुद्धिमानी से। अगर बुरा आदमी बुद्धिमान है तो उसे सफलता मिलती है। अगर अच्छा आदमी बुद्धिमान है तो उसे हजार गुनी सफलता मिलेगी। लेकिन सफलता अच्छे भर होने से नहीं आती। सफलता आती है बुद्धिमानी से, विचार से, विवेक से। कोई आदमी अच्छा है, मन्दिर जाता है, प्रार्थना करता है लेकिन उसके पास पैसे नहीं हैं। अब मन्दिर जाने और प्रार्थना करने से पैसा होने का क्या सम्बन्ध? अगर कोई अच्छा आदमी यह कहे कि मैं सुखी नहीं हूँ, क्योंकि मैं अच्छा हूँ और यह दूसरा आदमी सुखी है क्योंकि यह बुरा है तो अच्छा लगनेवाला यह आदमी बुरे होने का सबूत दे रहा है। यह ईर्ष्या से भरा हुआ आदमी है। बुरे आदमी को जो जो मिला है वह सब पाना चाहता है और अच्छा रहकर पाना चाहता है। यानी चालाकी ही बड़ी अनूठी है। यदि बुरे आदमी ने दस लाख रुपए कमा लिए तो इसके लिए उसने बुरे होने का कष्ट सहा। दुबारा बुरे होने की पीड़ा होगी, बुरे होने का दंड होगा। अच्छा आदमी मन्दिर में पूजा करता रहता है पर म

बैठना चाहता है और बुरे आदमी को दस लाख रुपए मिले हैं, वह भी चाहता है। जब उसे रुपये नही मिलते तो कहता है कि मैं अपने पिछले जन्म के बुरे कर्मों का फल भोग रहा हूँ। उसे झूठी सान्त्वना भी मिलती है कि जहाँ वह अगले जन्म मे स्वर्ग मे होगा वही वह बुरा आदमी नरक मे।

मैं कहता हूँ कि कर्म का फल तत्काल मिलता है, लेकिन कर्म बहुत जटिल बात है। साहस भी कर्म है और उसका भी फल होता है, साहसहीनता भी कर्म है और उसके भी फल है। इसी प्रकार बुद्धिमानी भी कर्म है, बुद्धिहीनता भी कर्म। इनके भी अपने-अपने फल है। यदि असफलता के कारण उनके भीतर होंगे तो अच्छे आदमी भी असफल हो सकते है। बुरे आदमी भी सुखी हो सकते हैं यदि सुख के कारण उनके भीतर वर्तमान होंगे। किसी और का दुख तो हमे दिखता नही, दुख सिर्फ अपना और सुख सदा दूसरे का दिखता है। ऐसे ही शुभ कर्म हमे अपना और अशुभ कर्म दूसरे का दिखता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म को शुभ मानता है, क्योकि इससे उसके अहकार की तृप्ति होती है। सुख के हम आदी होते जाते हैं, दुख के कभी आदी नही हो पाते। आदमी दूसरे का देखता है अशुभ और सुख, अपना देखता है शुभ और दुख। उपद्रव हो गया तो वह कर्मवाद के सिद्धान्त का आश्रय लेता है। मेरी मान्यता यह है कि अगर वह सुख भोग रहा है तो उसमे कुछ ऐसा जरूर है जो सुख का कारण है, क्योकि अकारण कुछ भी नही होता। अगर एक डाकू सुखी है तो इसका भी कारण है। साधु के दुखी होने का भी कारण है। अगर दस डाकू साथ होंगे तो उनमे इतना भाई-चारा होगा जितना दस साधु मे कभी सुना नही गया। लेकिन अगर दस डाकुओ मे मित्रता है तो वे मित्रता के सुख अवश्य भोगेगे। साधु कैसे भोगेगा उस सुख को? डाकू कभी एक-दूसरे से झूठ नही बोलेगे, लेकिन साधु एक-दूसरे से बिलकुल झूठ बोलते रहेगे। सच बोलने का जो सुख है वह साधु नही भोग सकता।

अन्त मे मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अकस्मात् कुछ भी नही होता। यदि कुछ घटनाओ को अकस्मात् होना मान ले तो कार्य-कारण का सिद्धान्त व्यर्थ हो जाता है। यहाँ तक कि लॉटरी भी किसी को अकस्मात् नही मिलती। हो सकता है कि जिन लाख लोगो ने लॉटरी लगाई उनमे सबसे ज्यादा सकल्पवाला आदमी वही हो जिसे लॉटरी मिली। ऐसे ही हजार कारण हो सकते है जो हमे दीख नही पडते। वस्तुत उस घटना को ही अकस्मात् कहते है जिसके कारण का हमे पता नही होता। ऐसी घटनाएँ होनी है जिनका कारण हमारी समझ मे नही आता। जीवन सचमुच बहुत जटिल है। इसमे कोई घटना कैसे घटित हो रही है यह ठीक-ठीक कहना एकदम मुश्किल है, लेकिन इतना तो निश्चित है कि जो घटना हो रही है उसके पीछे कोई-न-कोई कारण है, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात। कर्म के सिद्धान्त

का बुनियादी आधार यह है कि अकारण कुछ भी नही होता। दूसरा बुनियादी आधार यह है कि जो हम कर रहे हैं वही भोग रहे हैं और उसमें जमा के फासले नहीं हैं। हम जानना चाहिए कि हम जो भोग रहे हैं उसके लिए हमने कुछ उपाय किया है, चाहे सुख हो या दुख, चाहे शांति हो या अशांति।

२

मेरी मान्यता है कि लाटरी भी किसी को अकारण नही मिलती। हो सकता है कि जिस व्यक्ति की इच्छा शक्ति सबसे अधिक प्रबल हो उसे ही लॉटरी मिले। इच्छा शक्ति पर हजारों प्रयोग किए गए और यह निर्णीत हो गया है कि भीतर का संकल्प पाँसे तक को प्रभावित करता है, ताश के पत्तो तक को प्रभावित करता है। यह भी आकस्मिक नही है कि किसी व्यक्ति को भीतरी संकल्प मिल जाता है और किसी को नहीं। भीतरी संकल्प भी उसके उन हजारों अनुभवों का फल होता है जिनसे वह गुजरा है।

प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा नही कहा जा सकता कि किसी एक व्यक्ति को लॉटरी मिलनी है, इसलिए उसे मिल गई? नहीं यदि लाटरी का मिलना निपट संयोग है तो उसकी भविष्यवाणी नही की जा सकती। लेकिन ऐसे भी लोग हैं जो बता देंगे कि लाटरी किसको मिलेगी। हिटलर की मृत्यु को बतानेवाले लोग थे। चीन भारत पर किस दिन हमला करेगा, इसकी भी भविष्यवाणी की गई थी। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि संयोग जैसी कोई चीज नही है। यहा तक कि हिरोशिमा मे दो लाख व्यक्तियों का एक साथ मरना भी संयोग नहीं है। हिरोशिमा में दो लाख व्यक्तियों का मरना आकस्मिक दीखता है क्योंकि इन दो लाख व्यक्तियो के भीतर हमारा कोई प्रवेश नही है। लेकिन पूछा जा सकता है कि अणु बम हिरोशिमा पर ही क्यों गिरा? हिरोशिमा कोई महत्वपूर्ण नगर न था। टोकियो पर गिर सकता था पर नागासाकी पर क्यों गिरा? जब तक हम इनके कारणों के भीतर—हिरोशिमा के लोगों के भीतर—प्रवेश नही करते तब तक हमारे लिए कुछ कहना असम्भव होगा। हो सकता है कि हिरोशिमा में ही जापान के सबसे ज्यादा आत्मघातेच्छुक लोग रहे हों और उन्होंने ही अणु बम को आकर्षित किया हो।

यह जानने की जिज्ञासा भी बहुत स्वाभाविक है कि जो बच्चे अगहीन, अंधे या अस्वस्थ पैदा होते हैं, इसमे उनका क्या कसूर? उन्होंने कौन सा कर्म किया है जिसकी वजह से वे कष्ट भोगते हैं? इसके उत्तर में वैज्ञानिक कहेगा कि माँ-बाप के जिन अणुओं से बच्चे का जन्म हुआ उनमें अंधेपन की गुंजाइश थी, उनमें कोई रासायनिक कमी या किसी कारण आँख नहीं बन पाई। धार्मिक व्यक्ति का उत्तर कुछ और होगा। उसकी दृष्टि में अन्धा होने के पीछे भी कारण है जिससे अंधा होना न

पीछे ही नही। धर्म कहता है कि मरते वक्त आदमी की ऐसी स्थितियाँ हो सकती है कि वह खुद आँख न चाहे या उसके कर्मों का पूरा योग हो सकता है उस क्षण मे कि आँख सम्भव न रहे। जब ऐसे आदमी की मृत्यु होती है तो उसकी आत्मा उसी माँ-बाप के शरीर मे प्रवेश करती है जिसमे अंधे होने के सभी सयोग जुड गए हो।

अब प्रश्न उठता है कि जब आत्मा उसी माँ-बाप के शरीर मे प्रवेश करती है जिसमे उसके लिए अधे होने के सयोग जुडे है तो क्या इससे यह सिद्ध नही होता कि कर्मों के फल दूसरे जन्म तक जाते है ?

मेरा कहना है कि एक जन्म से दूसरे जन्म मे कर्म के फल नही जाते। लेकिन जो कर्म और फल हमने किए और भोगे, उनकी एक सूखी रेखा हमारे साथ रह जाती है। उस सूखी रेखा को मैं सस्कार कहता हूँ। कर्मों के फल दूसरे जन्म तक नही जाते। यदि मैंने पिछले जन्म मे गाली दी थी तो फल उसी जन्म मे भोग लिया था, फिर भी मैं उस व्यक्ति से भिन्न हूँ जिसने गाली नही दी थी। मेरे पास एक सूखी रेखा है, गाली देने और गाली का फल भोगने की। इस जन्म मे मेरे साथ सम्भावना है कि कोई गाली दे तो मैं फिर गाली दूँ, क्योकि वह सूखी रेखा जो है ! न्यूनतम प्रतिरोध की वजह से मैं उसे फौरन पकड लूँगा। हमने जो किया और भोगा है, उसने हमे एक खास परिस्थिति दी है, एक खास संस्कारबद्धता को जन्म दिया है। वही सस्कारबद्धता हमे खास मार्गो पर प्रवाहित करती है। वे खास मार्ग सब रूपो मे कारण से बँधे होगे।

इसे एक उदाहरण से समझे। जैसे, यदि कोई आग मे हाथ डालता है तो उसे उसी वक्त जलना पडता है। लेकिन मेरा कहना है कि यह आदमी आग मे हाथ डालने की प्रवृत्तिवाला है। दूसरे जन्म मे भी इससे डर है कि कही यह आग मे हाथ न डाल दे। आग मे बार-बार हाथ डालने की इसकी आदत भय पैदा करती है। फिर भी इसका यह मतलब नही कि यह आदमी आग मे हाथ डालने को बँधा है। यह चाहे तो न डाले ! इसका मतलब यह हुआ कि कर्मों की निर्जरा नही करनी है आपको। कर्मों की निर्जरा हर कर्म के साथ होती चली जाती है। पीछे सूखी रेखा रह जाती है। इस सूखी रेखा से आपको ज्ञान हो जाना काफी है। इसलिए मोक्ष या निर्वाण तत्काल हो सकता है, पुरानी धारणा के अनुसार वह तत्काल नही हो सकता, क्योकि आपने जितने कर्म किए है उनके फल आपको भोगने ही पडेगे। जब आप सारे फल भोग लेगे तभी आपकी मुक्ति हो सकती है। और यदि इन फलो को भोगने मे आपने फिर कुछ कर्म कर लिये तो आप फिर बँध जायेंगे। इस शृखला का कभी अन्त न होगा। यदि पुरानी व्याख्या सही है तो कोई कभी मुक्त हो ही नही सकता। कारण कि कल मैंने जितने पाप किए, जितनी बुराइयाँ की, उनका फल भोगना अनिवार्य है। किन्तु, उनका फल कैसे भोगूंगा ? जब कोई मुझे गाली देगा

(क्योंकि मैंने पिछले जन्म में उसे गाली दी थी) तो फिर मेरा कर्म शुरू हो जायगा, क्योंकि गाली देने की मेरी वृत्ति—सूखी रेखा—मेरे साथ है ही। अब अगर वह मुझे गाली देगा तो मैं फिर उसे गाली दूंगा और यह सिलसिला अनन्त जन्मों तक चलता रहेगा, क्योंकि अगर एक कर्म भी शेष रह गया तो उसे आगे में फिर नए-नए कर्म निर्मित होने चले जायेंगे। अगर कर्मवाद की पुरानी व्याख्या सही है तो दुनिया में कभी कोई मुक्त हुआ ही नहीं। लेकिन दुनिया में मुक्त लोग हुए हैं और वे इसलिए मुक्त हो सके हैं कि कर्मों के फल आगे के लिए शेष नहीं रह जाते। सिर्फ रह जाती है सोयी हुई वृत्ति। और अगर आदमी सोया ही रह जाता तो वह उन्हीं कर्मों को दोहराता चला जायगा। जाग जाय तो दुहराना बन्द कर देगा। यानी मुझे कोई मजबूर नहीं कर रहा है कि मैं क्रोध करूँ सिवा मेरी मूर्च्छा के। अगर मैं जाग गया हूँ तो कहता हूँ कि ठीक है इस रास्ते से बहुत बार जा चुके बहुत दुःख उठा चुके।

इसलिए महावीर ने कोशिश की थी कि प्रत्येक व्यक्ति को पिछले जन्मों का स्मरण हो, ताकि उसे इस बात का पूरा-पूरा एहसास हो जाय कि उसने क्या-क्या किया था। अगर किसी व्यक्ति को दो चार जन्मों का स्मरण हो जाय तो उसे पता लगेगा कि उसने बहुत बार धन कमाया, बेईमानी की, प्रेम किया, यश कमाया, अपमान सहा—उसने वे सारे कर्म-कुकर्म किए थे जिन्हें वह इस जन्म में कर रहा है। ऐसा एहसास होते ही वह जाग उठेगा और फिर इनकी ओर उन्मुख न होगा। उसे यह साफ साफ दीख पड़ेगा कि धन, यश, प्रेम आदि सब व्यर्थ हैं। उसने धन कमाया था, परन्तु क्या हुआ उस धन का? उसे पिछले जन्मों में यश मिला था, परन्तु कहाँ गया वह यश? यदि वे न रहे तो फिर इस जन्म के धन और यश भी न रहेंगे। फिर इनके लिए इतनी परेशानी क्या? तो यह जागरण उसकी सूखी रेखा को तोड़ने का कारण बन जायगा। इसमें तत्काल क्रांति की सम्भावना है। सच तो यह है कि जब भी मुक्ति होती है, वह तत्काल होती है।

इसी सन्दर्भ में एक बात और समझ लेनी चाहिए कि अन्याय कुछ भी नहीं है क्योंकि जो हम कर रहे हैं वही हम माँग रहे हैं। पुराना ख्याल था कि अगर मैं किसी को चाँटा मारूँ तो किसी जन्म में वह भी मुझे चाँटा मारेगा। इसका मतलब यह हुआ कि अगर मैंने किसी को चाँटा मार दिया तो जबतक वह मुझे चाँटा न मार दे, तब तक वह भी मुक्त नहीं हो सकता। यानी मेरा कृत्य उसकी भी अमुक्ति का कारण बन जायगा। वह इसी जन्म में मुक्त हो सकता था, मगर अब वह तब तक मुक्त न होगा जब तक वह मुझे चाँटा न मार दे। क्योंकि मुझे चाँटा मारेगा कौन? हिसाब कैसे पूरा होगा? उसे जन्म तो लेना ही पड़ेगा और वह भी मेरे कारण।

ऐसे तर्क सर्वथा निराधार होते हैं। मेरा कहना यह है कि जब मैं किसी को चाँटा मारूँ तो वह मुझे चाँटा मारे ही, यह अनिवार्य नहीं है। चाँटा मारने में मैं

जिस वृत्ति से गुजरता हूँ, वह मुझे दुख दे जाती है। चाँटा लौटाने का सवाल नही उठता। यदि वह भी चाँटा मारता है तो उसका यह कर्म मेरे चाँटा मारने का फल नही है। वह उसका कर्म है जिसका फल उसे भोगना पड़ेगा। इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है। मैने किसी को चाँटा मारा है। अगर वह चुपचाप खडा रहे और यह सोचकर कि मारनेवाला बेचारा पागल है, वह कुछ न करे और चाँटे को साक्षी भाव से देखता रहे, तो उसने कोई कर्मबन्ध नही किया। मेरे कर्मो की शृखला से उसने कोई सम्बन्ध नही जोडा। लेकिन अगर मेरे चाँटे के उत्तर मे वह भी चाँटा मारे तो वह मेरे चाँटे का उत्तर नही है। अपने चाँटे का उत्तर तो मै ही भोग रहा हूँ। वह अपने चाँटे का उत्तर स्वय भोगता है। यह उसकी कर्म-शृखला है। इससे मुझे कुछ लेना-देना नही है। इसमे कुछ अन्याय भी नही।

इस सम्बन्ध मे दो प्रश्न उठते है . एक तो यह कि क्या ऐसे लोग नहीं होते जो चाँटा भी मारे और उसका आनन्द भी ले ? दूसरा यह कि जिसे हम चाँटा मारते है उसे क्या दु ख नही होता ? मै कहता हूँ कि मैं चाँटा उसी को मारता हूँ जो चाँटे को आकर्षित करता है। यह असम्भव है कि मैं उसको चाँटा मारूँ जो चाँटे को आकर्षित न करे। आकर्षित करने की वजह से वह दु ख उठाता है। आकर्षण उसका हिस्सा है। यानी कोई आदमी इस दुनिया मे अकेले मालिक नहीं होता। गुलाम भी उसके साथ गुलाम होना चाहता है। नही तो यह सम्बन्ध बन ही नही सकता। जो गुलाम बनना नही चाहता उसे असम्भव है गुलाम बनाना। इसलिए मैं कहता हूँ कि अन्याय असम्भव है। फिर भी हमे एक ऐसी दुनिया बनाने की कोशिश करनी चाहिए जिसमे न कोई चाँटे को आकर्षित करता हो और न कोई चाँटा मारने को उत्सुक हो। अन्याय का कुल मतलब इतना हो सकता है कि अभी दुनिया मे ऐसे लोग वर्तमान है जो चाँटा मारने को उतना ही उत्सुक है जितना चाँटा खाने को। जब भी कोई घटना घटती है तब उसके दो पहलू होते है। किन्तु हमारी दृष्टि एक ही पहलू पर जाती है और हम उस एक पहलू को देखकर ही किसी को अपराधी और किसी को निरपराध कह देते है। दूसरा पहलू भी जिम्मेदार होता है। जैसे, हम कहते है कि अँगरेजो ने आकर हमे गुलाम बना लिया। यह तो हमारी गुलामी की घटना का आधा हिस्सा है। उसका दूसरा हिस्सा यह है कि हम गुलाम होने की तैयारी मे थे। इसी प्रकार सती की प्रथा थी। अन्याय कुछ भी न था। जो स्त्रियाँ जलने को राजी थी, वे ही जलती थी। जो जलने को आज भी राजी है वे स्टोव से आग लगा लेती है, जहर खा लेती है, कुछ भी करती है। मेरा कहना यह है कि उन दिनो भी सभी स्त्रियाँ सती नही हो जाती थी। वस्तुत सती की व्यवस्था आग मे जलने वाली औरतो के लिए एक सुविधा थी। लेकिन इसका मतलब यह नही कि सती-प्रथा रहनी चाहिए। दुनिया ऐसी होनी चाहिए जहाँ न कोई जलाना चाहे और

न करना। अन्याय सिर्फ यह है कि जो हमारी जीवन-व्यवस्था है, वह हम बहुत दुःख में डाल रही है। और दुखी हम ही बने रहे हैं, कोई बना नहीं रहा है। दुनिया में ऐसे भी लोग हैं जो चाँटा मारने में ही आनन्दित हों। ऐसा लगता है कि ऐसे लोगों को कम कष्ट भोगने नहीं पड़ते। लेकिन हम खयाल नहीं कि जो आदमी चाँटा मारने में आनन्दित होता है वह आदमी नहीं रह गया। वह आदमी के तल से बहुत नीचे उतर जाता है। उसने चाँटा मारने में इतना खोया जितना कि चाँटा मारकर दुखी होनेवाला नहीं खोता। जो चाँटा मारकर दुखी होता है, वह उतना कष्ट नहीं भोगता जितना वह व्यक्ति भोगता है जो चाँटा मारकर आनन्दित होता है। चाँटे में आनन्द लेनेवाला व्यक्ति जंगली हो जाता है—उसका विकास तल नीचे चला जाता है। उसने गत बीस पच्चीस हजार वर्षों में जो विकास किया था, वह विकास खो जाता है।

२

जहाँ तक मनुष्य के कर्म और विकास का सम्बन्ध है, मेरा कहना है कि विकास दो तलों पर चल रहा है। मेरा खयाल है कि डार्विन की खोज गहरी है सही, लेकिन एकदम अधूरी है। उसने शरीर के विकास पर सारा सिद्धान्त निर्धारित किया है। चूँकि विज्ञान आत्मा की फिक्र नहीं करता, इसलिए बात अधूरी है और आधे सत्य असत्य से भी ज्यादा खतरनाक होते हैं। इसका कारण यह है कि आधे सत्यों में पूर्ण सत्य के होने का भ्रम पैदा होता है। यह विकास का आधा हिस्सा है। इसके दूसरे हिस्से की खोज महावीर जैसे लोगों की देन है। वे कहते हैं कि चेतना भी विकसित हो रही है। दूसरी बात—जहाँ चेतना है वहाँ विकास यान्त्रिक नहीं हो सकता। पत्ते का चलना यान्त्रिक है उसके पास न चेतना है और न इच्छा। यदि उसके पास चेतना होती तो पत्ता भी कह सकता था कि आज बहुत सर्दी है, मैं नहीं चलता। मनुष्य के पास चेतना है इसलिए उसका निन्यानबे प्रतिशत विकास स्वेच्छा पर निर्भर होता है। इसलिए मनुष्य कोई पचास हजार वर्षों से ठहर गया है। अब उसमें कोई विकास लक्षित नहीं होता। निम्नतम योनि में भी एक अंश स्वेच्छा का है जो उसे चेतन बनाता है। नहीं तो चेतन होने का कोई अर्थ नहीं। चेतन होने का अर्थ यही है कि विकास में हम भागीदार हैं और अपने पतन में स्वयं जिम्मेदार। चेतना का मतलब यही है कि हमारा दायित्व है हमारी जिम्मेदारी है।

पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों की इच्छा भी उनके विकास में सक्रिय होकर काम कर रही है। पहचानना मुश्किल है। हम कैसे पहचानें कि पशु-पक्षी भी मानव-योनि में प्रवेश कर रहे हैं। कई रास्ते हो सकते हैं, लेकिन सरलतम रास्ता यह है कि मनुष्य को पिछले जन्मों में उतारा जाय। इससे उसे इस बात की प्रतीति हो जायगी

कि वह पिछले जन्मो मे कई बार पशु हुआ था और उसने भी कभी पौधे की जिन्दगी बसर की थी। महावीर ने जातीय स्मरण के गहरे प्रयोग किए थे। जो व्यक्ति उनके निकट जाता, उसे वे पिछले जन्मो मे उतारते और बतलाते कि वह उन जन्मो मे क्या था, और यदि वह पशु था तो अपने किस कर्म के कारण मनुष्य हो सका। ऐसा ज्ञान ऊपर जाने के लिए आवश्यक सोपान हो सकता है। यदि मुझे उस कर्म का ज्ञान हो जाय जिसके कारण मै पशु से मनुष्य बना था तो मै पुन ऐसे ही कर्म करना चाहूँगा जिनसे मै ऊपर उठ सकूँ।

एक रात महावीर के साथ हजारो साधु-सन्यासी एक बडे धर्मशाले मे ठहरे। उनमे एक राजकुमार भी दीक्षित था। धर्मशाले मे पुराने साधुओ को अच्छी जगह मिल गई परन्तु राजकुमार को गलियारे मे सोना पडा। जब भी कोई गलियारे से निकलता, उसकी नीद टूट जाती और वह सोचता कि बेहतर है मै लौट जाऊँ, मै जो था, वही ठीक था। सुबह महावीर ने उसे बुलाया और कहा—तुझे पता है कि पिछले जन्म मे तू कौन था? उसने जवाब दिया कि मुझे कुछ पता नही। तब महावीर ने उसके पिछले जन्म की कथा कह सुनाई और बताया कि वह पिछले जन्म मे हाथी था। एक दिन जगल मे आग लगी। सारे पशु-पक्षी भाग चले। हाथी का एक पैर उठा ही था कि एक छोटा-सा खरगोश आ पहुँचा और उसने उसके पैर की शरण ली। खरगोश ने सोचा कि पैर छाया है, बचाव हो जायगा। हाथी भी हिम्मतवर था। उसने देखा कि उसके पैर के नीचे एक खरगोश बैठा है। उसने पैर फिर नीचे नही रखा। आग बढती गई और हाथी जलकर राख हो गया। उसने मरते दम तक यही चेष्टा की कि खरगोश किसी तरह बच जाय। उस कृत्य की वजह से वह आदमी बना। अन्त मे महावीर ने कहा—आज तू इतना कमजोर है कि गलियारे मे सोने की वजह से भागने का विचार करने लगा? पिछले जन्म की कथा सुनते ही राजकुमार के लिए मानो सब-कुछ बदल गया! भयभीत होने और पलायन करने की बात खत्म हो गई! अब वह अपने दृढ सकल्प पर खडा हो गया। उसे एक नई भूमि मिल गई।

दूसरा रास्ता बहुत कठिन है। वह यह है कि हम बीस पशुओ के निकट रहे और उनसे अपना आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करे। हमे पता चलेगा कि उनमे भी कुछ अच्छे और कुछ बुरे है। यहाँ तक कि सडको पर दिखाई पडने वाले कुत्ते भी सब एक-जैसे नही होते। उनका अपना-अपना व्यक्तित्व होता है। और, स्मरण रहे, उनका भी विकास स्वेच्छा से हो रहा है। यही कारण है कि सारे प्राणी विकसित नही हो पाते। जो श्रम करते है वे विकसित हो पाते है। जो श्रम नही करते वे उसी योनि मे पुनरुक्ति करते रहते है। अनन्त पुनरुक्तियाँ भी हो सकती है। लेकिन कभी-न-कभी वह क्षण भी आ जाता है जब पुनरुक्ति ऊबा देती है और ऊपर उठने की आकाक्षा पैदा हो जाती है।

डार्विन शरीर के विकास को स्वचालित समझता था। किन्तु उसकी यह धारणा नितान्त गलत है। चेतना श्रम कर रही है विकास के लिए और वह जितनी विकसित होती जा रही है शरीर भी उसी अनुपात में विकसित होता जाता है। जितना तीव्र विकास चेतना के तल पर होता है उतना ही तीव्र विकास शरीर के तल पर होना अनिवार्य सा हो जाता है। लेकिन वह होता है पीछे, पहले नहीं। बन्दर का शरीर अगर कभी आदमी का शरीर बनता है तो तभी जब किसी बन्दर की आत्मा इसके पूर्व आदमी की आत्मा बनने के लिए कदम उठा चुकी होती है। उस आत्मा की जरूरत के लिए ही पीछे से शरीर भी विकसित होता है। मनुष्य आगे भी गति कर सकता है और ऐसी चेतना विकसित हो सकती है जो मनुष्य से श्रेष्ठतर शरीरों को जन्म दे सके। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन मनुष्य तक आ जाना ही कोई साधारण घटना नहीं है। लेकिन मनुष्य को इसका ख्याल न रहा। वह अपनी जिन्दगी इस तरह गँवाता है मानो वह उसे मुफ्त मिल गई हो! लम्बी प्रक्रियाओं, लम्बी चेष्टाओं, लम्बे श्रम और लम्बी यात्रा से मनुष्य की चेतना स्थिति उपलब्ध होती है। लेकिन उसने ऐसा मान लिया है कि यह उसे मुफ्त मिल गई है!

मेरी मान्यता है कि एक जन्म में हम जो कमाते हैं वही दूसरे जन्म में हमारी सहज उपलब्धि होती है। दूसरे जन्म में वह हमें सम्पत्ति की तरह मिलती है और पिछला जन्म हम वैसे ही भूल जाते हैं जैसे बेटे को बाप का श्रम भूल जाता है। बाप कमाता है बेटा गँवाता है क्योंकि बेटे को अमीरी जन्म से उपलब्ध हुई होती है। उसे कभी ख्याल भी नहीं होता कि कितने श्रम से वह अमीरी खड़ी की गई है।

चूँकि विकास चेष्टा पर निर्भर है संकल्प और साधना की चीज है इसलिए इतने बड़े प्राणी-जगत में मनुष्यों की संख्या कम है। बढ़ती भी है तो बहुत धीरे धीरे।

मैं यह भी कहता हूँ कि जन्म एक ही रहा है। जन्मों की एक लम्बी यात्रा होती है। हम आज के ही नहीं हैं। हम कल भी थे, परसों भी थे। एक अर्थ में हम सदा थे। कभी पक्षी थे, कभी पत्थर कभी खनिज कभी इस ग्रह पर, कभी उस ग्रह पर। हम सदा थे। होने के साथ हम एक हैं। अस्तित्व में हमारी प्रतिध्वनि सदा थी। यह जरूरी नहीं कि हम महावीर के पास थे जरूरी नहीं कि महावीर के प्रदेश में थे लेकिन सदा थे। यह भी हो सकता है कि हममें से कोई महावीर के निकट भी रहा हो उस गाँव में भी रहा हो जहाँ से महावीर गुजरे थे। जरूरी नहीं कि हम उनसे मिलने गए हों। लेकिन हम सदा थे और सदा रहेंगे। अगर मूर्च्छित रहे हों तो हमारा होना न होना बराबर था। जब से हम अमूर्च्छित होने हैं जागते हैं चेतन होते हैं तभी से हमारे होने का कोई अर्थ होता है और हम जितना चेतन होते चले जाते हैं उतना ही हमारा होना प्रगाढ़ और समृद्ध होता जाता है। शायद हम

अर्थ मे हमारा होना अभी भी नही हुआ। होने की लम्बी यात्रा मे बहुत बार शरीर वदलने होते हैं। कारण शरीर क्षणभगुर है, उसकी सीमा है, वह चूक जाता है। असल मे पदार्थ से निर्मित कोई भी वस्तु शाश्वत नही हो सकती। पदार्थ से जो भी निर्मित होगा, वह विखरेगा, जो वनेगा वह मिटेगा। शरीर वनता है, मिटता है। लेकिन इसके पीछे जो जीवन है, वह न वनता है और न मिटता है। वह सदा नए-नए वनाव लेता है। पुराने वनाव नष्ट होते है, उनकी जगह नए वनाव आते हैं। यह नया वनाव उसके सस्कार का—उसने क्या दिया, क्या भोगा, क्या किया, क्या जाना, इन सवका—इकट्ठा सार है।

जो शरीर दिखाई पडता है, वह हमारा ऊपरी शरीर है। ऐसी ही आकृति का एक और शरीर है जो इस वाहरी शरीर मे व्याप्त है। उसे सूक्ष्म शरीर कहे, कर्म शरीर कहे, मनोशरीर कहे, कुछ भी नाम दे—काम चलेगा। वह सूक्ष्म परमाणुओ से निर्मित शरीर है। जव यह वाहरी शरीर गिर जाता है तव भी वह शरीर कायम रहता है और आत्मा के साथ ही यात्रा करता है। उस शरीर की विशेषता यह है कि आत्मा की जैसी मनोकामना होती है वह वैसा ही आकार ले लेता है। हम जो कर्म करते और फल भोगते है, उनकी सूक्ष्म रेखाएँ उस सूक्ष्म शरीर पर वनती जाती है। इसलिए महावीर इस सूक्ष्म शरीर को कार्मण शरीर कहते है। उनका खयाल था कि हम जो भी जीते और भोगते है, उसके कारण विशेष प्रकार के परमाणु हमारे शरीर से जुड जाते है। विज्ञान भी कहता है कि जव आप क्रोध मे होते है तो आपके खून मे एक विशेष प्रकार का जहर छूट जाता है और प्रेम मे वह अमृत से भर उठता है। इस शरीर के छूट जाने पर हमारा सूक्ष्म शरीर ही सूखी रेखाओ की तरह हमारे भोगे हुए जीवन को लेकर नई यात्रा शुरू करता है और वह सूक्ष्म शरीर ही नए शरीर ग्रहण करता है। जिस दिन सूक्ष्म शरीर मर जाता है, उसी दिन व्यक्ति को मोक्ष मिलता है। स्थूल शरीर तो वार-वार मरता है, मगर सूक्ष्म शरीर हर वार नही मरता। वह तभी मरता है जव उस शरीर के रहने का कोई अर्थ नही रह जाता। जव व्यक्ति न कुछ करता है, न भोगता है, न कर्ता वनता है, न किसी कर्म को ऊपर लेता है और न कोई प्रतिक्रिया करता है, जव वह साक्षी-मात्र रह जाता है, तव उसका सूक्ष्म शरीर पिघलने लगता है। साक्षी की प्रक्रिया मे सूक्ष्म शरीर वैसे ही पिघलता है जैसे सूरज के निकलने से वर्फ पिघलती है। सूक्ष्म शरीर को गलाना ही तपश्चर्या है।

महावीर को हम महातपस्वी कहते है, परन्तु इसका यह मतलव नही कि उन्होने धूप मे खडा होकर अपने शरीर को सताया था। यह ठीक है कि वे 'काया को मिटाने-वाले' थे, किन्तु उस काया का इस वाहरी काया से कोई मतलव नही है। उस काया का मतलव है भीतरी काया, जो असली काया है। महावीर भली भाँति जानते थे कि यह शरीर कई वार वदला जाता है, लेकिन एक और काया है जो कभी नही वदलती।

यह एक ही बार खत्म होती है, बदलती नहीं। तो उस भीतरी काया के पिघलाने में लगा हुआ श्रम ही तपश्चर्या है और उस काया को पिघलाने की प्रक्रिया का नाम ही साक्षीभाव, सामायिक या ध्यान है। ऐसा हो सकता है कि पुनर्जन्म न हो। हम विराट जीवन के साथ एक हो जायें। एक होने में हम मिट नहीं जाते। यदि मिटते हैं तो बूंद की तरह ताकि सागर की तरह रह जायें। इसलिए महावीर कहते हैं कि आत्मा ही परमात्मा हो जाती है। लोग इसका मतलब नहीं समझे। इसका मतलब यह है कि आत्मा की बूंद परमात्मा के महासागर में मिलकर एक हो जाती है। उस एकता में, उस परम अद्वैत में परम आनन्द है, परम शान्ति है, परम सौख्य है।



षष्ठ अध्याय

महावीर के व्यक्तित्व के नए आयाम

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुण ॥[1]

—उत्त० अ० १० गा० १८

१

क्या महावीर को ऐसा कोई व्यक्ति न मिला जिसके चरणो मे वे आत्म-समर्पण कर सके ? क्या कारण था कि उन्होने किसी गुरु की शरण न ली ?—इन प्रश्नो के उत्तर बडे सरल है। महावीर को पता था कि जो दूसरे से पाया जा सकता है, उसका कोई महत्त्व नही। सत्य के फूल कभी उधार नहीं मिलते। इसलिए जो भी सत्य की खोज मे निकला हो, वह गुरु को खोजने नही निकलता। हाँ, असत्य की खोज करनी हो तो गुरु की खोज बहुत जरूरी है। सत्य की खोज मे गुरु अनावश्यक है। सीखने की क्षमता बहुत आवश्यक है। असली सवाल सीखने की क्षमता का ही है। जिसके पास ऐसी क्षमता है वह गुरु नही बनाता, सीखता चला जाता है। गुरु बनाना एक तरह का बन्धन निर्मित करना है। मेरा मानना है कि सत्य कोई ऐसी चीज नही जो किसी एक व्यक्ति से प्रवाहित हो। वह पूरे जीवन पर छाया हुआ है। अगर हम सीखने को उत्सुक हो तो सत्य सब जगह से सीखा जा सकता है।

महावीर मे सीखने की अद्भुत क्षमता थी, इसलिए उन्होने कोई गुरु नही बनाया। गुरु खोजा भी नही। बस सीखने निकल पड़े। उधार भी कभी ज्ञान हो सकता है ? सब चीजे उधार हो सकती है, लेकिन ज्ञान उधार नही हो सकता। ज्ञान उसका ही होता है जो पाता है। वह दूसरे को देते ही व्यर्थ हो जाता है।

गुरुओ और शास्त्रो की कमी न थी, वे सब तरफ मौजूद थे। सिद्धान्तो की कमी न थी, सिद्धान्त भी मौजूद थे। लेकिन महावीर ने सबकी ओर पीठ कर दी, क्योंकि

---

१. विनीत शिष्य आचार्य की पंक्ति मे न बैठे, उनसे आगे भी न बैठे, उनके पीठ पीछे भी न बैठे और वह इतना निकट भी न बैठे कि उनकी जाँघ से जाँघ मिल जाय। यदि गुरु ने किसी कार्य का आदेश दिया हो तो वह शय्या पर सोते-सोते अथवा बैठे-बैठे न सुने।

शास्त्र की ओर या सिद्धान्त की ओर या गुरु की ओर मुँह करना—बासी और उधार ज्ञान के लिए उत्सुक होना था। दूसरों को, ज्यादा से ज्यादा, शब्द मिल सकते थे, सिद्धान्त मिल सकते थे, लेकिन सत्य नहीं मिल सकता था। इसलिए महावीर ने किसी गुरु के प्रति आत्म समर्पण नहीं किया। यह भी समझ लेने जैसी बात है कि समर्पण ही करना हो तो क्षुद्र और सीमित के प्रति क्या किया जाय? समस्त के प्रति क्यों नहीं? एक के प्रति समर्पण में शर्त है। ऐसा समर्पण सौदा है। जिससे हमें मिलेगा, जिससे हम पा सकते हैं ऐसी आकांक्षा को ध्यान में रखकर अगर समर्पण किया गया तो समर्पण कैसा हुआ? वह सौदा हुआ, लेन-देन हुआ। समर्पण का अर्थ है बिना किसी शर्त या आकांक्षा के स्वयं को छोड़ देना। इसलिए कोई किसी व्यक्ति के प्रति कभी समर्पित नहीं हो सकता। समर्पित हो सकता है सिर्फ परमात्मा के प्रति और परमात्मा का मतलब है समस्त। अगर परमात्मा भी एक व्यक्ति है तो उसके प्रति भी समर्पण नहीं हो सकता। समर्पण सदा बेशर्त होता है।

मैं मानता हूँ कि महावीर ने समर्पण किया, लेकिन किसी एक व्यक्ति के प्रति नहीं, समस्त के प्रति और समस्त के प्रति जिनका समर्पण है, उनका हम पता नहीं करता। जो समस्त के प्रति समर्पित है उसका समर्पण हमारी पहचान में नहीं आता क्योंकि हमारा मापदंड सीमित होने का है। अगर मैं किसी व्यक्ति से प्रेम करूँ तो यह बात समझ में आ सकती है लेकिन अगर मेरा प्रेम समस्त के प्रति हो तो इसे समझना मुश्किल हो जायगा। हम प्रेम को पहचान ही तब पाते हैं जब वह व्यक्ति से बँध जाय। इसलिए हम महावीर के प्रेम का ठीक-ठीक समझ नहीं पाते।

मेरा मानना है कि महावीर पूर्ण समर्पित व्यक्ति थे। लेकिन पूर्ण समर्पित व्यक्ति किसी एक के प्रति समर्पित नहीं होता। वह किसी एक के आगे सिर नहीं झुकाता, इसलिए नहीं कि उसमें अहंकार है बल्कि इसलिए कि उसका सिर झुका ही हुआ है सब ओर। और ध्यान रहे कि जो व्यक्ति किसी एक के प्रति झुकता है वह दूसरे के प्रति सदा अकड़ा रहता है और जो व्यक्ति किसी एक के चरण छूता है वह दूसरों से चरण छुलाने को आतुर है। आपने देखा होगा कि जो आदमी किसी की खुशामद करता है वह अपने पीछे वालों से खुशामद की माँग करता है। जो आदमी नम्रता दिखलाता है वह दूसरों से नम्रता की माँग करता है।

महावीर किसी को न तो महात्मा मानते हैं और न हीनात्मा। वे इस विचार में ही नहीं पड़ते। उनके लिए कोई महात्मा नहीं, क्योंकि कोई हीनात्मा नहीं। एक को महात्मा बनाओ तो शेष अनगिनत लोगों को हीनात्मा बनाना जरूरी हो जाता है नहीं तो काम नहीं चलता। एक महात्मा को पैदा करने के लिए करोड़ों हीनात्माओं को पैदा करना पड़ता है। चूँकि महावीर ने किसी को गुरु नहीं बनाया, इस लिए जिन लोगों ने उन्हें गुरु बनाया है उन सब ने महावीर के साथ अन्याय किया

है। वे समझ ही नही पाए महावीर को। जिस आदमी ने कभी किसी को अपना गुरु नही बनाया, वह कभी किसी को शिष्य बनाने की बात भी नहीं सोच सकता। दोनो सयुक्त बाते है। जब वह अपने लिए यह ठीक नहीं मानता कि किसी को गुरु की तरह स्थापित करे तो वह कैसे मान सकता है कि कोई उसे गुरु की तरह स्थापित करे? जिस महावीर ने किसी शास्त्र को नहीं माना उस महावीर का शास्त्र बना लेना कहाँ का न्याय है?

पूछा जा सकता है कि महावीर को किस चीज की खोज थी जिसके कारण उन्होने गुरु की शरण न ली? इसमे सन्देह नहीं कि वे जिस चीज की खोज कर रहे थे उसे किसी ने अपने गुरु से नहीं पाया। हाँ, कुछ चीजें है जो गुरु से मिल जाती है। जीवन का बाह्य ज्ञान—गणित, भूगोल आदि—गुरु से मिल जाता है, लेकिन सत्य का ज्ञान गुरु से नही मिल सकता। अगर मैं सत्य की खोज मे हूँ तो मै किसी को बीच मे लेना नही चाहूँगा। अगर मै सौन्दर्य की तलाश मे हूँ तो मैं अपनी आँखों से सौन्दर्य देखना चाहूँगा। महावीर उस सत्य की खोज मे थे जो स्वयं मे ही छिपा रहता है, किसी के पास जाकर माँगने, हाथ जोडने और प्रार्थना करने मे नहीं मिलता। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि महावीर बडे अहकारी व्यक्ति रहे होंगे। उनका-सा विनम्र व्यक्ति मिलना मुश्किल है। वे न तो आदर माँगते थे और न किसी व्यक्ति-विशेष को गुरु मानकर आदर देते थे। जो समस्त के सम्मुख झुक चुका हो, उसे आदर देने-लेने से क्या मतलब? आदर देनेवाले आदर पाने को इच्छुक रहते है और नम्रता का मुखौटा पहनकर अपने अहकार को छिपा रखते है। जो न गुरु बनाता या बनता है, जो न शास्त्र रचता या मानता है, उसे अहकारी कैसे कहा जा सकता है?

सत्य की खोज करनेवालो के लिए न तो कोई मित्र होता है और न सगी-साथी। सत्य की खोज तो 'अकेले की उडान है अकेले की तरफ।' इसलिए महावीर बहुत सचेत थे। उनको मानने और प्रेम करनेवाले भी अगर इतने ही सचेत होते तो दुनिया ज्यादा बेहतर होती। तब दुनिया मे विशुद्ध धर्म होता—यहाँ न कोई जैन होता, न हिन्दू, न ईसाई और न मुसलमान। अगर गुरु की धारणा ही टूट जाय तो दुनिया मे आदमियत होगी, धर्म होगा, लेकिन पथ न होगे। आज एक ईसाई के लिए महावीर अपने नही मालूम पडते क्योकि दूसरे लोगो ने उन्हे अपना लिया है। अगर गुरुके आसपास पागलपन पैदा न हो, श्रद्धा और अन्धभक्ति पर आधारित गिरोह न बने, तो सम्प्रदाय एक-एक कर विदा हो जायँ। तब क्राइस्ट भी हमारे हो और मुहम्मद भी हमारे। महावीर ने दरिद्र होना नही चाहा, इसलिए उन्होने किसी एक को नही पकडा। वे पूर्ण समृद्ध हो गए, क्योकि सब कुछ उनका था।

लोग पूछते है कि क्या कारण था कि भिक्षाटन के पूर्व महावीर कुछ शर्तें लगा

किया करते थे और, उदाहरणार्थ, कहते थे कि आज मैं ऐसे घर से भोजन लूंगा जिसके सामने दो गौवें लड़ रही हों उनका रंग काला हो, घर के दरवाजे पर एक स्त्री खड़ी हो उसका एक पैर बाहर हो और दूसरा भीतर उसकी आँखों से आंसू बहते हों पर होठों पर मुस्कान हो? जैसा मैंने कहा, महावीर की खोज पहले ही जन्म में पूरी हो चुकी थी। इस जन्म में वे सिर्फ बांटने आए थे। इसलिए उन्होंने यह प्रयोग किया कि अगर मैं बांटने ही आया हूँ और मेरा स्वार्थ नहीं है तो विश्वसत्ता मुझे भोजन देगी ही। यदि वह न दे तो मैं भोजन भी क्या लूं? यदि वह जीवन देना चाहे तो ठीक, न देना चाहे तो मेरे जीवन का क्या मूल्य? इसलिए महावीर कठिन दांव लगाकर ही निकलते। उनमें जिजीविषा का लेश भी न था। इसलिए वे विश्व की समग्र सत्ता की इच्छा पर अपने को छोड़ देते। उनका कहना था कि अगर विश्व की समग्र सत्ता को मेरा जीना मंजूर है तो वह भोजन दे। मैं अपनी ओर से नहीं जीता और न अपने भोजन के लिए ही किसी का अनुग्रह मानूंगा।

गहरी बात यह है कि जो व्यक्ति पूर्णता को उपलब्ध हुआ लौट आया है, उसके लिए कर्म-जैसी कोई चीज नहीं। कर्म होता है इच्छा से, उसका जन्म होता है आकांक्षा से। महावीर कहते हैं कि मैं यह भी इच्छा नहीं करता कि मुझे भोजन मिलना चाहिए। मैं इसे भी विश्व-सत्ता पर छोड़ देता हूँ।

यह समस्त के प्रति समर्पण है। अगर पूरी हवाएँ, पहाड़, पत्थर, मानवीय चेतना, पशु-पक्षी, देवी-देवता चाहते हैं कि महावीर एक दिन और जीएँ तो उन्हें उनके भोजन का इंतजाम करना ही होगा। इसीलिए महावीर दांव लगा देते हैं, ताकि वे जान सकें कि विश्व-सत्ता को उनका जीवित रहना मंजूर है और पूरे जगत के अस्तित्व ने उन्हें भोजन दिया। बहुत अनूठा था उनका यह प्रयोग। जैन मुनि आज भी ऐसा करते हैं लेकिन श्रावक उनको पहले ही बता जाते हैं या कुछ ऐसे प्रबन्ध कर रखते हैं ताकि उनकी शर्तें पूरी हो जायें। दस-पांच लोग अपने घरों के सामने कलश लटका देते हैं, एक-दो स्त्रियाँ बच्चे लेकर खड़ी हो जाती हैं। लेकिन महावीर की शर्तें कठिन हुआ करती थीं और उनकी पूर्ति किसी व्यक्ति विशेष या श्रावकों के सामूहिक यत्न से होना असम्भव था। जब तक विश्वसत्ता राजी न होती तब तक वे शर्तें कभी पूरी न होतीं। इस तरह महावीर का जीना परमात्मा की मर्जी पर था। वे प्रत्येक पल उसकी मर्जी से ही जीना चाहते थे, अपने लिए नहीं। उनका पूरा जीवन इस बात का प्रमाण है कि विश्वसत्ता को जिस व्यक्ति की जरूरत होती है, उसके जीवन के लिए वह स्वयं आयोजन करती है।

बुद्ध के गृह त्याग की कथा प्रचलित है। कहते हैं कि जिस घोड़े पर सवार होकर वे घर से निकले थे, उसके पैरों की टाप बारह कोस तक सुनी जा सकती थी। किन्तु उस रात जब बुद्ध उस पर सवार हो निकले, तो उसकी टाप के नीचे देवता फूल रखते

चले गए। टाप फूलो पर पडी ताकि गांव जाग न जाय। बहुत कल्पो के बाद ही प्रव्रज्या के लिए किसी का ऐसा अभिनिष्क्रमण होता है। इसलिए देवता राजमहल के दरवाजे भी खोल देते हैं जैसे ये कभी बन्द ही न रहे हों। द्वार की जो कीलें पागल हाथी के धक्के से भी न खुलती वे खुल जाती हैं और जिन दरवाजो से खुलते समय इतनी आवाज होती है कि उसे सारा नगर सुन लेता है, वे चुपचाप खुल जाती हैं। ऐसी सारी कहानियां कपोलकल्पित हैं, लेकिन साथ ही ये इस बात की सूचना देती हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए सारा जगत्, सारा अस्तित्व सुविधा देने लगता है, क्योंकि समस्त अस्तित्व को ऐसे व्यक्ति की जरूरत होती है। मगर हम सबके लिए, अस्तित्व की ही आवश्यकता रहती है। हमारी सांस चले, इसलिए हवा की जरूरत होती है, प्यास बुझे, इसलिए पानी की आवश्यकता होती है, गर्मी मिले इसलिए सूर्य की जरूरत होती है—सारे अस्तित्व की जरूरत होती अपने ही लिए। लेकिन अस्तित्व को ही जरूरत थी महावीर की। इसलिए वे कहते थे कि अगर जिन्दा रखना हो तो मेरी शर्तें पूरी करो, नही तो हम वापस लौट जायेंगे। न कोई शिकायत है पीछे लौटने से, न कोई नाराजगी है।

लोग पूछते है कि महावीर के गृहत्याग के पीछे कौन-सा असतोष था और क्या उनका गृहत्याग जीवन और इसके नाना दायित्वों से पलायन नही है? पहली बात यह है कि महावीर को न तो कोई पारिवारिक असन्तोष था और न कोई सामाजिक असन्तोष। इस जन्म मे तो कोई व्यक्तिगत असन्तोष भी न था। पारिवारिक असन्तोष से घिरा व्यक्ति कभी धार्मिक नही हो सकता। धार्मिक होता है वह व्यक्ति जिसके असन्तोष का न तो समाज से कोई सम्बन्ध होता है और न परिवार, सम्पत्ति या शरीर से। धार्मिक व्यक्ति का उदय तब होता है जब उसके भीतर असतोष की आग भभक उठती है और उसे चिन्ता इस बात की होती है कि क्या ऐसा होना ही काफी है? अगर हिंसक हूँ तो हिंसक होना ही काफी है? अगर दुखी और अशान्त हूँ तो क्या दुखी और अशान्त होना ही पर्याप्त है? इस जीवन मे महावीर को यह असन्तोष भी न था, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति का जन्म पहले ही हो चुका था। पिछले जन्मो मे भी उनका असन्तोष नितान्त आध्यात्मिक था, सामाजिक या पारिवारिक नही। आध्यात्मिक असन्तोष बहुत कीमती चीज है और वह जिनमे नही है वह व्यक्ति कभी उस यात्रा पर नही जा सकता जिसका अन्त आध्यात्मिक सन्तोष की उपलब्धि मे होता है। जिस असन्तोष से हम गुजरते है उसी तल का सन्तोष हमे उपलब्ध हो सकता है। अगर धन का असन्तोष है तो ज्यादा-से-ज्यादा धन मिलने का सन्तोष उपलब्ध हो सकता है। लेकिन बडे मजे की बात है कि जिस तल पर हमारा असन्तोष होगा उसी तल पर हमारा जीवन भी।

महावीर को इस जीवन मे किसी बात का असंतोष न था, लेकिन पिछले सारे

जन्मों में उनके असंतोष की यात्रा बहुत लम्बी थी। वह असंतोष यह न जानने के कारण था कि मेरा अस्तित्व, मेरा सत्य, मेरी वह स्थिति जहाँ मैं परम मुक्त हो जाऊँ, जहाँ न कोई सीमा रहे और न कोई बंधन, कहाँ है? महावीर उसी की खोज में थे और यह निर्विवाद है कि ऐसी खोजवाला व्यक्ति दूसरा के पारिवारिक और सामाजिक असंतोष को मिटाने के लिए ही अधिक उत्सुक रहता है, न कि स्वयं की चिंता करता है। अगर हम खोजने जायें तो ऐसा आदमी मुश्किल से मिलेगा जिसे न मकान से अतृप्ति है, न कपड़ा से, न पत्नी से न अपने प्रियजनों से। जब आदमी अपने प्रति ही असंतुष्ट हो जाता है तब उसके जीवन में धर्म की यात्रा शुरू होती है। महावीर पिछले जन्मों में निरंतर असंतुष्ट रहे। वही यात्रा उन्हें वहाँ तक लाई जहाँ तृप्ति और संतोष उपलब्ध होता है। जिस दिन व्यक्ति अपने को यथार्थतः वस्तुतः उसे पा लेता है जो वह वस्तुतः है उस दिन उसके लिए परम तृप्ति का क्षण आ जाता है। अगर वह फिर एक क्षण भी जीता है तो दूसरों के लिए ही, ताकि वह उन्हें तृप्ति के मार्ग की दिशा बता सके।

पूछा जाता है कि क्या महावीर का गृहत्याग दायित्व से पलायन नहीं है? मेरा कहना है कि महावीर ने कभी गृहत्याग किया ही नहीं। गृहत्याग वे लोग करते हैं जिन्हें गृह के प्रति आसक्ति होती है। महावीर ने तो उसे ही छोड़ा जो घर न था। मिट्टी, पत्थर के घरों को ही हम घर समझ लेते हैं जो सर्वथा गलत है। वस्तुतः यह शब्द—'गृहत्याग'—ही गलत है। असल में महावीर घर की खोज में निकले थे। जो घर नहीं था उसे ही छोड़ा था और जो घर था उसकी तलाश की थी। जो घर नहीं है, हमने उसे ही पकड़ रखा है। जो घर है उससे हम दूर जा पड़े हैं। इसलिए शब्द के सच्चे अर्थ में पलायनवादी हम हैं, महावीर नहीं। पलायन का मतलब क्या है? एक आदमी कंकड़ों और पत्थरों को पकड़कर कहता है, ये ही हमारे हीरे हैं और वह असली हीरों को छोड़ देता है। दूसरा असली हीरे की खोज में निकल पड़ता है। इन दोनों में पलायनवादी कौन है? क्या आनन्द की खोज पलायन है? क्या ज्ञान की खोज पलायन है? महावीर जैसा आदमी दूकान पर बैठकर व्यवसाय चलाए लेन देन करे, क्या यही दायित्व होगा उसका जगत के प्रति, जीवों के प्रति? महावीर-जैसा व्यक्ति घर में बैठकर चार बच्चों को बड़ा करता रहे क्या यही दायित्व होगा उसका? जब बड़े दायित्व पुकारते हैं तब छोटे दायित्वों को छोड़ देना पड़ता है। महावीर जैसा व्यक्ति जब एक घर को छोड़ता है तब उसे करोड़ों घर मिल जाते हैं वे उसके ही हो जाते हैं। पत्नी, बेटे और प्रियजनों को छोड़ता है तो सारा जगत उसका प्रियजन और मित्र हो जाता है।

अपने दुःख के भार को दूसरों पर लादना ही हमारा दायित्व है। अनन्त की यात्रा में औरों को गति देना ही हम दायित्व समझते हैं। पलायन यह करता है जो

दुखी हो। भागता वह है जो डरता हो, भयभीय हो, जिसे शक हो कि मैं जीत न सकूँगा। महावीर उस घर से निकलते है जिसमे आग लगी है। जब घर मे आग लगती है और उसमे रहनेवाले लोग उसे छोडकर बाहर निकल आते है तब उनका पलायन पलायन नही कहलाता, विवेक की सज्ञा पाता है। जिस घर मे आग लगी हो उसमे रहना ही अपनी विवेकहीनता का परिचय देना है। हम बीमार आदमी को कभी यह नही कहते कि तुम पलायनवादी हो, बीमारी से भाग रहे हो, डाक्टरो के यहाँ जाते हो। एक अँधेरे मे पडा व्यक्ति जब सूरज की ओर जाता है तब हम यह नही कहते कि तुम पलायनवादी हो, सूरज की ओर भागते हो। वस्तुत हम वहाँ खडे है जहाँ जिन्दगी है ही नही। दूसरो को पलायनवादी कहकर हम यही सिद्ध करना चाहते है कि हम जहाँ खडे है, वहाँ से हटने की हमे जरूरत नही। हम बहादुर लोग है महावीर और बुद्ध की तरह भगोडे नही। परन्तु स्मरण रहे कि जिन लोगो ने महावीर को 'महावीर' नाम दिया था, उनकी दृष्टि मे महावीर पलायनवादी न थे। इसका कारण शायद यह था कि हम अपनी कमजोरी की वजह से जहाँ से हट नही सकते, वहाँ से महावीर अपने अदम्य पौरुष की वजह से हट गए थे। वह उस व्यक्ति के समान है जिसे हीरो की खदान दिखाई पड गई है और वह उसी की ओर भाग रहा है। ऐसे व्यक्ति का भागना पलायन नही है। ऐसा भागना उस व्यक्ति के भागने-जैसा नही है जिसके पीछे बन्दूक लगी हो। लेकिन यह भी सत्य है कि सौ सन्यासियो मे निन्यानवे सन्यासी पलायनवादी ही होते है। उन निन्यानवे सन्यासियो के कारण सौवे सन्यासी को ठीक-ठीक समझना मुश्किल हो जाता है

२

महावीर ने न तो नियन्ता को स्वीकार किया है, न समर्पण को, न गुरु को और न शास्त्र को। क्या यह महावीर का घोर अहकार नही था ? क्या वे अहवादी नही थे ?

ऐसे प्रश्न स्वाभाविक है। जो नियन्ता, गुरु, शास्त्र, परम्परा आदि के प्रति झुकता है, वह साधारणत हमे विनीत और निरहकार प्रतीत होता है। इस सदर्भ मे मेरी पहली बात यह है कि परमात्मा के प्रति झुकनेवाला भी अहकारी हो सकता है और यह अहकार की चरम घोषणा हो सकती है कि मैं परमात्मा से एक हो गया हूँ। 'अह ब्रह्मास्मि' की घोषणा अहकार की चरम घोषणा है। दूसरी बात यह है कि समर्पण मे अहकार सदा मौजूद रहता है, समर्पण करनेवाला मौजूद है। समर्पण का कृत्य ही अहकार का कृत्य है। जब कोई कहता है कि मैंने परमात्मा के प्रति स्वय को समर्पित कर दिया है तब हमे लगता है कि परमात्मा ऊपर है और समर्पण करने-वाला व्यक्ति नीचे। यह हमारी भूल है। समर्पण करनेवाला व्यक्ति कभी नीचा

नहीं हो सकता, कल चाहे तो वह अपना समर्पण वापस लौटा सकता है—कल वह कह सकता है कि अब मैं समर्पण नहीं करता।

महावीर में इतना भी अहंकार नहीं कि वे कहें—मैं समर्पण करता हूँ। समर्पण के लिए 'मैं' तो चाहिए ही। उनमें 'मैं' का—कर्ता होने का—भाव बिलकुल नहीं। और, जैसा मैंने कहा, जो व्यक्ति समर्पण करता है वह समर्पण की माँग करता है। यह माँग एक ही सिक्के का दूसरा हिस्सा है। लेकिन महावीर ने न तो समर्पण किया और न माँगा। मेरी दृष्टि में यह परम निरहंकारिता है। आखिर मैं ही समर्पित होऊँगा, नियन्ता को मैं ही स्वीकृत करूँगा। महावीर के अस्वीकार में ऐसा नहीं है कि नियन्ता नहीं है। अस्वीकार का कुल मतलब इतना ही है कि वह स्वीकार नहीं है। 'अस्वीकार' पर जोर नहीं है। महावीर यह सिद्ध करते नहीं घूमते कि परमात्मा है। उनका अस्वीकार फलित है, घोषणा नहीं। स्वीकृति और समर्पण के लिए भी अहंकार चाहिए। अगर कोई व्यक्ति नितान्त अहंकारशून्य हो जाय तो समर्पण कैसा? कौन करेगा समर्पण? समर्पण कृत्य है, कृत्य के लिए कर्ता चाहिए। अगर कर्ता नहीं है तो समर्पण-जैसा कृत्य भी असम्भव है। जब कोई कहता है कि मैंने समर्पण किया तो समर्पण से भी वह अपने 'मैं' को ही भरता है—उसका समर्पण भी उसके 'मैं' का ही पोषक है। वह समझता है कि मैं कोई साधारण नहीं हूँ, मैं ईश्वर के प्रति समर्पित हूँ।

महावीर के पास एक सम्राट गया। उसने महावीर से कहा—सब है आपकी कृपा से। राज्य है, सम्पदा है, सैनिक हैं, शक्ति है, सब है, लेकिन सुना है कि मोक्ष जैसी भी कोई चीज होती है, वह मेरे पास नहीं। मैं चाहता हूँ कि उसको भी विजय कर लूँ। क्या उपाय है? कितना खर्च पड़ेगा? हँसे होंगे महावीर उसके पागलपन पर। उन्होंने कहा कि खरीदने को ही निकले हो तो अपने गाँव को लौट जाओ। वहीं एक श्रावक है, उससे पूछ लेना कि एक सामायिक कितने में बेचेगा। वह नासमझ सम्राट उस आदमी के घर पहुँचा और हैरान हुआ देखकर कि वह श्रावक बहुत दरिद्र आदमी है। उसने सोचा कि इसे तो पूरा ही खरीद लेंगे। उसने श्रावक से वह बात कही जिसे महावीर ने कहा था और पूछा कि वह एक ध्यान का मूल्य क्या लेगा? श्रावक हँसने लगा। उसने कहा कि चाहो तो मुझे खरीद लो, लेकिन सामायिक खरीदने का कोई उपाय नहीं। सामायिक पाई जा सकती है, उसे खरीदा नहीं जा सकता। लेकिन अहंकार उसको भी खरीदना चाहता है, भगवान और धर्म को भी खरीदना चाहता है। हमारे मन में दो चीजें हैं, अहंकार और नम्रता। नम्रता अहंकार का ही रूप है, यह बात हमारे खयाल में नहीं आती। महावीर नियन्ता के प्रति, गुरु और परम्परा के प्रति न तो नम्र हैं और न अनम्र। दोनों बातें असंगत हैं महावीर के लिए। मैं एक वृक्ष के पास [illegible] और नमस्कार न करूँ तो आप मुझे अनम्र न कहेंगे। लेकिन एक [illegible] से निकलूँ और नमस्कार

हमारे सब सवाल उल्टे होते हैं क्योंकि हमारे प्रश्न वहां से उठते हैं जहां चीजें बिल्कुल उल्टी हैं। महावीर के प्रेम में कोई दान नहीं है। शायद उनका केन्द्रगत प्रेम बना हुआ ही नहीं। उनकी सभी शर्तें अपने अस्तित्व के लिए हैं, तुम्हारे प्रेम के लिए नहीं। यह इसलिए कि कहीं ऐसा न हो जाय कि तुम्हारा प्रेम विदा हो चुका हो और अस्तित्व को मेरी जरूरत न हो और मैं जिए चला जाऊँ। तब बमानी हो जायगी बात। महावीर किसी परमात्मा को मानते नहीं जो कि खबर कर दे और कह दे, बस लौट आओ। इसलिए अस्तित्व से ही यह खबर लेनी है। उस ही बताना है कि उसे मेरी जरूरत है या नहीं। इसलिए शर्तें लगा लेता हूँ ताकि मुझे पता चलता जाय कि अब आगे जीना है या लौट जाना ही श्रेयस्कर है।

जगत को इस बात की जरूरत है कि महावीर दुबारा आएं। जब कोई व्यक्ति आनन्द को उपलब्ध हो जाता है तो सारे जगत के प्राणियों की पुकार घूम-घूमकर उसके पास पहुँचने लगती है कि जगत कष्ट में है, दुखी है, इसलिए अपना आनन्द बांटो। यह बांटना ही लौटाता है। लोगों की पुकार ही उसे पुनः बुला लेती है। लेकिन यह दिखाई नहीं पड़ता। लोग पूछते हैं कि आप किसलिए बोलते हैं? यह ध्यान में आना कठिन है कि कोई सुनने को आतुर हो गया है इसलिए मैं बोलता हूँ। कोई सुनने वाला पुकारेगा, तभी मैं बोलूंगा। संसार में घटनाएँ उल्टी घटती हैं। मैं बोलूंगा तब सुनने वाला आयगा, लेकिन अन्तर्जगत में घटनाएँ ऐसे नहीं घटतीं। अन्तस्तल में सुनने वाला पहले मौजूद हो जाता है तब बोलने वाला आता है। यदि महावीर तुम्हारे गांव में आ जायें तो तुम कहोगे कि क्यों आए हैं आप यहां? मजे की बात तो यह है कि तुम्हीं ने बुलाया था उन्हें। महावीर को यह पीड़ा भी झेलनी पड़ेगी कि तुम्हीं ने बुलाया था उन्हें और तुम्हीं पूछोगे कि कैसे आप आए हैं यहां?

यह सच है कि महावीर ने किसी की शारीरिक सहायता नहीं की। इसके कारण को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। परम अहिंसा की स्थिति में व्यक्ति किसी को दुख ही पहुँचाना नहीं चाहता, सुख भी पहुँचाना नहीं चाहता। बहुत गहरे में सुख और दुख एक ही चीज के दो रूप हैं। जिसे हम सुख कहते हैं उसकी मात्रा अगर थोड़ी बढ़ा दी जाय तो वह दुख में बदल जाता है। भोजन करना सुखद होता है, लेकिन आप ज्यादा भोजन कर लें तो सुख दुख में बदल जाता है। आप प्रेम से आकर मिले तो मैंने आपको गले से लगा लिया। बड़ा सुखद है क्षण दो क्षण का ऐसा मिलन। लेकिन जब मैं आपको पकड़े रखूंगा और आप छूटने के लिए तड़पने लगेंगे तब आपकी क्या दशा होगी? आप सुखी हो सकेंगे? आधा घंटा हुआ कि आप चाहेंगे, चिल्लाएंगे कि कोई पुलिसवाला आए और आपको बचाए। सुख कब दुख में बदल जाता है, यह कहना मुश्किल है। सब सुख दुख में बदल सकता और ऐसा कोई दुख नहीं

जो सुख मे न वदल सके। किसी माँ को ही लीजिए। वह बच्चे को गर्भ मे ढोती है, नौ महीने पेट मे रखती है, दुख उठाती है, प्रसव की पीड़ा सहती है। बच्चे का जन्म होता है, वह उसका लालन-पालन करती है, बच्चे का बोझ सुख की तरह स्वीकारती है। बच्चे को बड़ा करना लम्बे दुख की प्रक्रिया है। लेकिन माँ का मन उसे सुख वना लेता है। अगर आशा, सम्भावना, आकाक्षा, कामना तीव्र हो तो दुख सुख वन जाता है।

सुख और दुख मे कोई मौलिक भेद नही है, हमारी दृष्टि का भेद है। आशा हो तो दुख को सुख वनाया जा सकता है। आशा क्षीण हो जाय तो सुख दुख मे परिणत हो जाता है। महावीर कहते है कि न तो तुम किसी को सुख पहुंचाओ और न दुख। जिस दिन कोई व्यक्ति उस स्थिति मे पहुँच जाता है जिसमे वह न किसी को सुख पहुँचाना चाहता है, न दुख, उस दिन वह सबको आनन्द पहुँचाने का कारण वन जाता है। इसे समझ लेना जरूरी है। आनन्द पहुँचाने का कारण ही तभी कोई व्यक्ति वनता है जव वह सुख और दुख के चक्कर से मुक्त हो जाता है और उस दृष्टि को उपलब्ध होता है जिसमे सुख-दुख का कोई मूल्य नही। सुख-दुख पहुँचाने वाले को हम अच्छा वुरा तो कहते है, लेकिन चूँकि हमे आनन्द को पहचानने नही आता इसलिए आनन्द देनेवाला व्यक्ति हमसे विलकुल अपरिचित रह जाता है। आनन्द चेतना से सहज ही विकीर्ण होने लगता है जो सुख-दुख के द्वन्द्व के पार चली जाती है। निश्चित ही जिनके पास आँखे होती है वे उस आनन्द को देख पाते है।

महावीर की गहरी समझ यह है कि कभी-कभी किसी को सुख पहुँचाने से भी उसको दुख पहुँच जाता है—अर्थात् कभी कभी आक्रामक रूप से किसी को सुख पहुँचाने की चेष्टा भी उसको दुख पहुँचा सकती है। यह जरूरी नही कि आप सुख पहुँचाना चाहते हो तो इससे दूसरे को सुख पहुँच जाय। सच तो यह है कि अगर कोई किसी को सुख पहुँचाने की कोशिश करे तो उसको दुख पहुँचाता ही है। अगर वाप अपने वेटे को सुख पहुँचाने की कोशिश मे लग जायँ, उसके सुधार की व्यवस्था करने लगे और सोचे कि इससे उसे सुख पहुँचेगा तो सम्भावना इस वात की है वेटा को दुख पहुँचेगा और वेटा अपने पिता के ठीक विपरीत जायगा। इसलिए अच्छे वाप अच्छे वेटो को पैदा नही कर पाते। अच्छे वाप के घर अच्छा वेटा पैदा होना अपवाद है। अच्छा वाप वेटे को अनिवार्यत विगाडने का कारण वनता है। सुख इतनी सूक्ष्म चित्त-दशा है कि कोई पहुँचाना चाहे तो नही पहुँचा सकता। मैं लेना चाहूँ तभी ले सकता हूँ। इसलिए महावीर ने सुख पहुँचाने पर जोर ही नही दिया, वात ही छोड दी, और कहा कि अगर कोई तुमसे सुख लेना चाहे तो दे देना, वह भी सिर्फ इसलिए कि अगर तुम न दोगे तो उसे दुख होगा। लेकिन तुम सुख पहुँचाने मत चले जाना।

थे। कारण है कि महावीर ने जिसे छुआ वह वहां उतरा, भूख का रोना वहां नहीं और न पीड़ा रही वहां। वे पूरे तौर बदल गए। लेकिन उनके चुनाव भी ... में इतनी किरणें हट गई ... इतना तक दीन हो सकते हैं जितना कोई भी प्राण ... । जो व्यक्ति की दृष्टि में जो गंभीर होता है उसे व्यक्ति में कोई ... नहीं पहुंच सकता। यह भी ... है ... है। लेकिन हम ... कि दुख ... ही पहुंचता। ... हैं इस भाव से हम दिखाते हैं और कहते हैं कि आप उधर और ठीक कर देंगे, उस बाई ... ही जाय। ... जरूरी है ... यह महावीर को अच्छी तरह मालूम था। इसलिए जितनी घटनाएं उस व्यक्ति पर घट रही थीं, वे ... हैं। अगर कोई परम स्थिति को उपलब्ध हो जाता है उसका होना मात्र करुणा है। उसकी मौजूदगी मात्र काफी है। जो भी होता है उसकी छाया से होता है। जिनके पास ऐसी छाया नहीं है उन्हें तो कुछ करना पड़ता है गाड़ियों की मालिश करनी पड़ती है अस्पताल खोलने पड़ते हैं। ये बिल्कुल कौड़ियों की बातें हैं। असल बात में इनका कुछ भी मूल्य नहीं।

महावीर की अहिंसा उस तल पर है जिस तल पर कुछ-कुछ पहुंचने का भाव विलीन हो जाता है जहां स्थित महावीर जाते हैं। विज्ञान में उस तरह का कैटेलिटिक (उत्प्रेरक) एजेन्ट कहते हैं जिनकी मौजूदगी से ही कुछ हो जाता है। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन और ऑक्सीजन को लें। यदि आप इन दोनों को आस-पास ले आएं तो वे अलग अलग ही रहेंगे, लेकिन यदि बीच में बिजली चमक जाय तो दोनों मिल जायेंगे और इनके इस मिलन से पानी तैयार हो जायगा। बिजली की चमक कोई योगदान नहीं करती, सिर्फ उसकी मौजूदगी से ही ये मिल जाते हैं। जिस भांति भौतिक तल पर कैटेलिटिक एजेन्ट है, उसी भांति आध्यात्मिक तल पर महावीर जैसे लोग होते हैं जिनकी सिर्फ मौजूदगी काम करती है। उनकी मौजूदगी ही हजारों लोगों की चेतनाओं को जगा देती है, स्वस्थ कर देती है।

महावीर ने कभी किसी की सेवा नहीं की, यह इल्जाम रहेगा। इसे मिटाया नहीं जा सकता। यह अभियोग तब तक रहेगा जब तक हम केवल तांबे के सिक्के पहचानते रहेंगे। जिस दिन हम सौ सौ रुपए के नोट पहचानना शुरू कर देंगे उस दिन महावीर एक नई अवस्था लेकर प्रकट होंगे और उन पर अभियोग लगानेवाले लोग दो कौड़ी के हो जायेंगे।

४

लोग पूछते हैं कि यद्यपि पृथ्वी बहुत विशाल है फिर भी क्या कारण है कि दो तीन प्रदेशों में ही चौबीसों तीर्थंकर हुए? इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त

होगा कि प्रत्येक की मौजूदगी दूसरे के होने के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करती है। इस प्रकार एक शृखला-सी निर्मित हो जाती है। जिस क्षेत्र मे किसी तीर्थंकर का अवतरण होता हे उस क्षेत्र की चेतना ऊँची उठ जाती है जिससे दूसरा तीर्थंकर पैदा होता है, और उस दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा। इस तरह तीर्थंकरो की शृखला वन जाती है। यह भी जानकर आप हैरान होगे कि जब दुनिया मे महापुरुष पैदा होते है तो करीब-करीब एक शृखला की तरह सारी पृथ्वी को घेर लेते है। महावीर, बुद्ध, गोशाल, अजित, सजय आदि सब-के-सब बिहार मे ही हुए और वह भी पाँच सौ वर्षो के अन्दर। इन्ही पाँच सौ वर्षो मे एथेन्स मे सुकरात, अरस्तू, प्लेटो आदि तथा चीन मे कन्फ्यूसियस और लाओत्से हुए। पाच सौ वर्षो मे सारी पृथ्वी पर प्रतिमा का मानो शृंखलाबद्ध विस्फोट हुआ। जब महावीर की कीमत का कोई इन्सान पैदा होता है तो वह अपने-जैसे सैकडो लोगो के पैदा होने की सम्भावना भी पैदा करता है। ऊपर से दीखता है कि महावीर और बुद्ध परस्पर विरोधी है। लेकिन महावीर के विस्फोट का फल है बुद्ध—फल इस अर्थ मे कि अगर महावीर न होते तो बुद्ध का होना मुश्किल था। ऊपर से लगता है कि अजित, पूर्ण काश्यप, गोशाल सब विरोधी है। लेकिन किसी को खयाल नही कि वे सब एक ही शृखला के हिस्से है। एक का विस्फोट हुआ है तो हवा बन गई है। उसकी उपस्थिति ने सारी चेतनाओ को इकट्ठा कर दिया हे और आग पकड़ गई है। प्रतिमा के विस्फोट के लिए उपयुक्त हवा चाहिए।

यह भी स्मरणीय है कि तीर्थंकरो का सख्या से कोई सम्बन्ध नही। पच्चीसवाँ तीर्थंकर भी हो सकता था, लेकिन जैनो ने उसे स्वीकार नही किया। वही नई शृखला का पहला पैगम्बर बना। यदि जैन पच्चीसवाँ तीर्थंकर मान लेते तो बुद्ध को एक अलग शृखला मे रखने की जरूरत न पडती। वे पच्चीसवे तीर्थंकर हो जाते। कठिनाई यह है कि जब भी कोई परम्परा अपने अन्तिम पुरुष को पा लेती है तो फिर वह उसके बाद दूसरो के लिए द्वार बन्द कर देती है। चूँकि नई प्रतिभा नए-नए उपद्रव लाती है, इसलिए उसे पुरानी शृखला मे स्थान पाना मुश्किल हो जाता है। इसलिए पच्चीसवे को नई शृखला की पहली कडी होना पड़ता है। बुद्ध पच्चीसवे हो गए होते, कोई बाधा न थी अगर जैनो ने द्वार खोल रखे होते। एक और कारण हो गया कि बुद्ध उसी वक्त मौजूद थे, इसलिए द्वार बन्द कर देना एकदम जरूरी था। अगर वे पुरानी शृखला मे आते तो सब अस्त-व्यस्त हो जाता, महावीर की बाते भी अस्त-व्यस्त हो जाती, नई व्यवस्था बनानी पडती और वह नई व्यवस्था मुश्किल मे डाल देती। इस वजह से दरवाजा बन्द कर दिया गया और कहा गया कि चौबीस से ज्यादा तीर्थंकर हो ही नही सकते और यह कि चौबीसवाँ तीर्थंकर हो चुका।

यह सारी व्यवस्था अनुयायियो की है। उन्हे डर होता है कि यदि नई प्रतिभा

स्वीकृत हुई तो उनकी पुरानी व्यवस्था, पुरानी शृखला अस्त व्यस्त हो जायगी। इस लिए व दरवाजे व द कर रखते ह जिनसे उनकी शृखला मे नई प्रतिमाओं का प्रवेश न हो। उनकी पुरानी शृखला म जो लोग सम्मिलित हो पाते हैं उनम भी अस्त व्यस्त करने की प्रवृत्ति थी, लेकिन अनुयायी उनकी बातो को शृखलाबद्ध कर लेत ह उनम सगति बिठा लेते हैं। मुहम्मद के बाद मुसलमानो न दरवाजा ब द कर लिया, जीजस के बाद ईसाइयो ने और बुद्ध के बाद बौद्धो ने। कहा जाता है कि बुद्ध मत्रेय के रूप म एक और अवतार लेंगे, लेकिन वह अवतार भी बुद्ध ही लेंगे, कोई दूसरी आत्मा नही।

इन दो तीन सौ वर्षों म रमण और कृष्णमूर्ति सबसे ज्यादा प्रतिभाशाली आदमी हुए, लेकिन न तो रमण के पीछे कोई शृखला बन सकी और न कृष्णमूर्ति क पीछे। कृष्णमूर्ति ऐसी शृखला बनाने के विरोध म ह और रमण के पीछे कोइ शृखला बन न पाई। इस कीमत का कोइ आदमी न मिला जो रमण के स देश को आगे बढा सके। रामकृष्ण को विवेकान द मिले। विवेकान द शक्तिशाली पुरुष थे, अनुभवी नहा। शक्तिशाली होने की वजह से उ होने चक्र तो चला दिया, लकिन चक्र मे ज्यादा जान नही है। वह चलनेवाला नही है। रामकृष्ण बहुत अनुभवी थ, लेकिन तीथ कर होने की कोई स्थिति नहा थी उनकी। इसलिए उ होने विवेकान द क कधे पर हाथ रखकर शिमक का काय विवेकान द से ही लिया। लेकिन चूकि विवेकान द अनु भवी न थे, इसलिए शृखला बन न पाई। रामकृष्ण की मत्यु हो गई। फिर विवेका न द रह गए और उ होने ही रामकृष्ण के अनुभवो को व्यवस्था दी। वह व्यवस्था विवेकान द की है। यदि विवेकान द के पास रामकृष्ण के अनुभव होते तो एक शृखला शुरू हो जाती।

सप्तम अध्याय

अस्तित्व और अहिंसा

एगो ह नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवं अदीण-मणसो, अप्पाणमणु सासइ ॥[1]

१

महावीर उन थोडे से चिन्तको मे है जिन्होने जीवन के प्रारम्भ की बात को स्वीकार नही किया। उनकी दृष्टि मे अस्तित्व का कोई प्रारम्भ नही हो सकता। अस्तित्व सदा से है और सदा रहेगा। प्रारम्भ की धारणा हमारी नासमझी से पैदा होती है। हमारा भी कोई प्रारम्भ नही, कोई अन्त नही। जब कोई चीज बनती और मिटती है तो हमे ऐसा प्रतीत होता है कि जो भी बनता है वह मिटता है। लेकिन बनना और मिटना प्रारम्भ और अन्त का पर्याय नही है, क्योकि जो चीज बनती है, वह बनने के पहले किसी दूसरे रूप मे मौजूद होती है। इसी तरह जो चीज मिटती है वह मिटने के बाद किसी दूसरे रूप मे मौजूद हो जाती है। महावीर कहते है कि जीवन मे सिर्फ रूपान्तरण होता है। प्रारम्भ असम्भव है, क्योकि अगर हम यह माने कि कभी प्रारम्भ हुआ तो यह भी मानना पडेगा कि उसके पहले कुछ भी न था। फिर प्रारम्भ कैसे होगा ? अगर उसके पहले कुछ भी न हो तो प्रारम्भ होने का उपाय भी नही। अगर हम यह मान ले कि कुछ भी न था—न तो समय था और न स्थान ही—तो प्रारम्भ कैसे हुआ ? प्रारम्भ होने के लिए कम से कम समय तो पहले चाहिए ही ताकि प्रारम्भ हो सके। और अगर समय पहले है, स्थान पहले है तो सब पहले हो गया।

इस जगत् मे मौलिक रूप से दो ही तत्त्व है--समय और स्थान। महावीर की दृष्टि मे प्रारम्भ की बात हमारी नासमझी से उठी है। अस्तित्व का कभी कोई प्रारम्भ नही हुआ और, याद रहे, जिसका कभी कोई प्रारम्भ नही हुआ उसका कभी अन्त भी नही हो सकता, क्योकि अन्त होने का मतलब होगा कि एक दिन कुछ भी न बचे। यह कैसे होगा ?

---

१. 'मै अकेला हूँ, मेरा कोई नही है और मै किसी दूसरे का नही हूँ,'—इस प्रकार अदीन मन से विचारता हुआ आत्मा को समझाये (समझाना चाहिए)।

अस्तित्व अनादि है, अनन्त है, सनातन है। लेकिन रूपान्तरण रोज होता है। कल जो रेत थी वही आज पहाड है, आज जो पहाड है, कौन जाने वही कल रेत म परिवर्तित हो जाय! लेकिन होना नही मिटेगा। रेत म भी वही था, पहाड मे भी वही होगा। अस्तित्व का अनस्तित्व होना उतना ही असम्भव है जितना अनस्तित्व का अस्तित्व होना। इसलिए महावीर ने स्रष्टा की धारणा ही नही मानी। उन्होने कहा कि जब सृष्टि की शुरुआत ही नहीं होती तो शुरुआत करनेवाले की धारणा को बीच मे लाना ठीक नही। जब शुरुआत ही नही होती तो स्रष्टा की क्या जरूरत? यह बडे साहस की बात थी उन दिनो। उन्होने कहा—सृष्टि है, पर स्रष्टा नहीं, क्योंकि अगर स्रष्टा है तो प्रारम्भ की बात माननी पडेगी। यदि स्रष्टा है तो भी शून्य से उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता। और फिर मजे की बात यह है कि अगर स्रष्टा था तो फिर शून्य कहना व्यर्थ है।

आस्तिको का कहना है कि यदि कोई चीजो को बनाने वाला है तो परमात्मा भी होना चाहिए। लेकिन नास्तिको ने एक गहरा सवाल किया—अगर चीजो का बनानेवाला कोई है तो फिर परमात्मा को बनानेवाला भी होना चाहिए। और फिर उस बनानेवाले का बनानेवाला फिर उसका, फिर उसका। इस प्रकार एक अन्तहीन विवाद खडा हो जायगा। इसलिए, महावीर कहते हैं कि आस्तिक भूल म है और अपनी भूल के कारण ही वह नास्तिको के प्रश्न का उत्तर नही दे पाता।

स्वय महावीर परम आस्तिक है। लेकिन व कहते ह कि बनानेवाले को बीच मे लाने की जरूरत नहीं है। अस्तित्व पर्याप्त ह। कोई बनानेवाला नही है। हो सकता है कि हमका पता चल जाय कि पृथ्वी का प्रारम्भ कब हुआ और इसका अत कब होगा लेकिन पृथ्वी जीवन नही है, जीवन का एक रूप है। इसी प्रकार म भी जीवन नही हूँ जीवन का सिर्फ एक रूप हूँ। अनन्त जो है गहराई म, वह सदा से है। उसके ऊपर की लहर आई है, गई है, बदली ह। आएँगी, जाएँगी, बदलेंगी। परन्तु जो गहराई म है जो केन्द्र म है, वह सदा म है और सदा रहेगा। ऐसा ही समझ लें कि अस्तित्व एक सागर है, उस पर लहर उठती हैं आती हैं, जाती हैं लेकिन पूरे अस्तित्व का कभी प्रारम्भ हुआ हो, न ऐसा है और न हो सकता है। इसी बात को हम थोडा इस प्रकार समझ सकते हैं। हम यहाँ लकडी के तख्ता पर बैठे हुए है। कोई हमसे पूछ सकता है कि आपको किसने सँभाल रखा है? हम कहेंगे—लकडी ने सम्भाल। फिर वह पूछ सकता है कि लकडी के तख्ता को कौन सम्हाले हुए है? हम कहेंगे—जमीन। वह पूछ सकता है जमीन को कौन सम्हाले हुए है? हम उत्तर देंगे—ग्रह उपग्रहो का गुरुत्वाकर्षण। फिर वह पूछ सकता है कि ग्रह उपग्रहो को कौन सम्हाले हुए है तो शायद हम और खोजते चले जायें। अन्तत यदि कोई पूछे कि हम समझको, इस पूरे को किसने सम्हाले उपग्रह आ गए हैं कौन सम्हाले हुए है तो

कहना पडेगा कि अब बात जरा ज्यादा हो गई। यह प्रश्न असगत है कि इस समग्र को किसने सँभाल रखा है, क्योकि 'समग्र' और 'किसने' की धारणा ही परस्पर विरोधी है। समग्र के बाहर यदि कुछ है तो समग्र की समग्रता पूरी कहाँ हुई ? अगर सँभालनेवाले को हम बाहर रखते है तो समग्र अभी पूरा नही हुआ और अगर सब-कुछ उसके भीतर है तो बाहर कोई बचता नही जो उसे सभाले। सबको कोई भी सँभाले हुए नही है——सब स्वय सँभला हुआ है। इसलिए महावीर कहते है कि जीवन स्वयभूहै——न इसको बनानेवाला है और न मिटानेवाला। यह स्वयं है।

मेरी अपनी समझ है कि जो लोग अस्तित्व की गहराइयो मे जाएँगे वे स्रष्टा की धारणा को कभी स्वीकार नही कर सकते। चूँकि हम लहरो का हिसाब रखते है इसलिए हम परम सत्य के सम्बन्ध मे भी पूछना चाहते है कि वह कब शुरु हुआ, उसका कब अन्त होगा। सूरज बनेगा, सूरज मिटेगा। वह भी एक लहर है। पृथ्वी दो अरब वर्ष चलेगी। वह भी मिटेगी, बनेगी। वह भी एक लहर है। हजारो पृथ्वियाँ बनी है और मिटी है। हजारो सूरज बने है और मिटे है। प्रतिदिन कही-न-कही कोई सूरज ठडा हो रहा है और किसी-न-किसी कोने मे कोई नया सूरज जन्म ले रहा है। इस वक्त भी अभी जब यहाँ बैठे है, कोई सूरज बूढा हो रहा है। आकार बनेगे और बिगडेगे, आकृति उठेगी और गिरेगी। सपने पैदा होगे और खोएँगे। लेकिन जो सत्य है, वह सदा है। वस्तुत यह कहना भी गलत है कि सत्य है, क्योकि जो है वही सत्य है। सत्य के साथ 'है' को भी जोडना बेमानी है, क्योकि 'है' उसके साथ जोडा जा सकता है, जो 'नही है' हो सकता है। हम कह सकते है कि 'यह मकान है', क्योकि 'मकान नही है' यह भी हो सकता है। लेकिन 'सत्य है'——ऐसा कहने मे कठिनाई है, क्योकि 'सत्य नही है'——यह कभी नही हो सकता। इसलिए 'सत्य' और 'है' पर्यायवाची है। इनका एक साथ दोहरा उपयोग करना पुनरुक्ति है।

इस तथ्य का थोडा सा खयाल आ जाय तो सब बदल जाता है। तब पूजा और प्रार्थना नही उठती, तब मस्जिद और मन्दिर खडे नही होते——तब आदमी ही मन्दिर बन जाता है। आदमी का उठना-बैठना, चलना-फिरना सब पूजा और प्रार्थना हो जाती है। इस बात का बोध हो जाता है कि मेरे भीतर जो सदा है, वही सार्थक है और वह सबके भीतर है, वह एक ही है। इस बोध के बाद व्यक्ति खो जाता है, अहकार मिट जाता है। और तब जिसका जन्म होता है उसी का नाम है 'बदला हुआ चित्त'।

२

मेरी दृष्टि मे जड और चेतन दो पृथक् चीजे नही है। वे केवल पृथक् दिखाई पडती है। जड का मतलब है इतना कम चेतना कि हम उसे अभी चेतन नही कह

पात, चेतन का अर्थ है इतना कम जड़ कि हम उसे अभी जड़ नहीं कह पाते। वे एक ही चीज के दो छोर हैं। जड़ता चेतन होती चली जा रही है। उसके भीतर भी चेतन छिपा है। फर्क सिर्फ प्रकट और अप्रकट का है। जिसे हम जड़ कहते हैं वह अप्रकट चेतन है—यानी जिसकी अभी चेतना प्रकट नहीं हुई। जड़ में हम चेतन दिखाई नहीं पड़ता, कारण कि हमारी देखने की क्षमता बहुत सीमित है। पदार्थ चेतन की अप्रकट स्थिति है और चेतना पदार्थ की प्रकट स्थिति। इसलिए मेरी दृष्टि में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का झगड़ा अर्थ नहीं रखता। वह आधे गिलास का झगड़ा है। कोई कह सकता है कि गिलास आधा खाली है और वह गिलास के खाली होने पर जोर दे सकता है। वही दूसरा व्यक्ति इस बात पर जोर दे सकता है कि गिलास आधा भरा है। दोनों ही ठीक कहते हैं सिर्फ उनका जोर भिन्न है। एक खाली पर जोर देकर चला है, दूसरा भरे पर। इसलिए अध्यात्मवाद और पदार्थवाद में बुनियादी भेद नहीं है। भेद सिर्फ इस बात का है कि पदार्थवाद आदमी को रोक सकता है विकास से। अध्यात्मवाद विकासशील बना सकता है आदमी को। जहाँ पदार्थवाद मनुष्य को एकदम उदास कर सकता है वहाँ अध्यात्मवाद गति देता है विकास के द्वार खोलता है।

दूसरी बात—मैं कहता हूँ कि अंत नहीं हो सकता, अंत असम्भव है। अंत इसलिए असम्भव है कि किसी चीज का अन्त सदा दूसरे का प्रारम्भ होता है। और प्रारम्भ की अवधारणा असम्भव है क्योंकि प्रारम्भ के लिए भी पहले कुछ सत्ता में होना चाहिए नहीं तो प्रारम्भ हो ही नहीं सकता। यानी प्रारम्भ के सम्भव के लिए भी प्रारम्भ के पहले अस्तित्व चाहिए। और जब पहले अस्तित्व चाहिए तो वह प्रारम्भ नहीं रह गया। जहाँ कुछ अंत होता है, वहीं प्रारम्भ होता है यानी प्रत्येक अंत प्रारम्भ को जन्म देता है और प्रत्येक प्रारम्भ अंत को जन्म देता है। अगर किसी दिन हमने पता भी लगा लिया कि इस दिन पृथ्वी का प्रारम्भ हुआ तो हम पाएँगे कि उसके पहले कुछ था जिससे प्रारम्भ हुआ। फिर जब उसका पता लगा लिया तो पता चलेगा कि उससे भी पहले कुछ था जिससे प्रारम्भ हुआ। ताकि प्रारम्भ शून्य से नहीं हो सकता और अगर शून्य से प्रारम्भ हो सकता है तो शून्य को शून्य कहना गलत होगा। उसका मतलब होगा कि शून्य बीज की तरह कुछ छिपा है जो प्रकट होगा। फिर वह शून्य न रहा। चाहे कितना ही पीछे जाएँ, प्रारम्भ का पाना असम्भव है। प्रारम्भ कभी है ही नहीं।

३

इस सबके बाद में यह प्रश्न उठ सकता है कि आत्मा की भिन्न-भिन्न गुणात्मक अभिव्यक्ति परिस्थितियों में महावीर-जैसे व्यक्ति का विकास क्या होगी? उत्तर साथ में

मे आज जो साहित्य उपलब्ध है, उसमे उसका कोई उल्लेख नही है। उल्लेख न होने का कारण बहुत गहरा और बुनियादी है। महावीर-जैसी चेतना की अभिव्यक्ति मे परिस्थितियो से कोई भेद नही पडता। इसलिए 'भिन्न-भिन्न परिस्थिति' कहने का कोई अर्थ नही। भिन्न-भिन्न अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियो मे चित्त सदा समान है। प्रत्येक स्थिति मे साधारण आदमी का चित्त रूपान्तरित होता रहता है। जैसी स्थिति होती है वैसा चित्त हो जाता है। इसी को महावीर बन्धन की अवस्था कहते है। स्थिति दुख की होती है तो उसे दुखी होना पडता है, सुख की होती है तो वह सुखी हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि चित्त की अपनी कोई दशा नही है। सिर्फ बाहर की स्थिति जैसा मौका देती है चित्त वैसा ही हो जाता है। इसका मतलब यह भी हुआ कि चेतना अभी उपलब्ध ही नही हुई।

असल मे महावीर होने का मतलब ही यही है कि भीतर अब कुछ भी नही होता। जो होता है वह सब बाहर होता है। यही महावीर, क्राइस्ट, बुद्ध या कृष्ण होने का अर्थ है। भीतर बिलकुल अछूता छूट जाता है। वे दर्पण-मात्र रह जाते है।

दो तरह के चित्त है जगत् मे—फोटो-प्लेट की तरह या दर्पण की तरह। फोटो-प्लेट की तरह जो काम कर रहे है उन्ही को राग-द्वेष-ग्रस्त कहते है। असल मे फोटो-प्लेट बड़ा राग-द्वेष रखती है। वह जकडती है जल्दी, फिर छोडती नही। राग भी पकडता है, द्वेष भी पकडता है। समाविस्थ व्यक्ति दर्पण की तरह जीता है। वह न सम्मान को पकडता है और न गाली को। इसलिए महावीर के चित्त की अलग-अलग स्थितियाँ नही है जिनका वर्णन किया जाय। इसलिए वर्णन नही किया गया। कोई स्थिति ही नही है। एक समता आ गई है चित्त की। गाली देनेवाले या कान मे कीले ठोकनेवाले भी उस चित्त को विचलित नही कर पाते। ऐसा कहना गलत है कि महावीर ने ऐसे लोगो को क्षमा कर दिया और आगे बढ गए। क्षमा तभी की जा सकती है जब मन मे क्रोध आ गया हो। क्षमा अकेली बेमानी है। तो मै आपसे कहता हूँ कि महावीर क्षमावान् नही थे क्योकि महावीर क्रोधी नही थे। वे शून्य भवन की तरह थे। भवन मे आवाज गूँजती थी, निकल जाती थी और फिर भवन शून्य हो जाता था। हम फर्नीचर से भरे लोग है, फोटो-प्लेट ने भीतर बहुत इकट्ठा कर लिया है, इसलिए आवाज गूँजती ही नही।

अक्सर ऐसा होता है कि परम स्थिति को उपलब्ध व्यक्ति ठीक जड-जैसा मालूम पडे, क्योकि हम जड को ही पहचानते है। परम ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति भी बच्चे-जैसा मालूम होने लगे। उतना ही सरल, उतना ही निर्दोष! शायद बच्चे-जैसा व्यवहार भी करने लगे और तब हमारे लिए यह तय करना मुश्किल हो जाय कि यह आदमी मन्दबुद्धि है या परम ज्ञानी! लेकिन दोनो मे बुनियादी फर्क है। सन्त की सरलता ज्ञान की है। उसकी सरलता पूर्ण उपलब्धि की सरलता है। वह उन

अनुभवों से गुजर चुका है जिनसे बच्चे को गुजरना पड़ेगा। बच्चे की सरलता अज्ञान की है। वह अभी निर्दोष दीखता है, लेकिन उसकी निर्दोषता जाती रहेगी। वह जटिल होता चला जायगा। किन्तु संत की सरलता लौट आई है वह फिर निर्दोष हो गया है। अब इस निर्दोषता के खो जाने का सवाल नहीं है।

अब एक अन्य प्रश्न पर विचार करें। पूछा जाता है कि क्या महावीर की अहिंसा पूर्ण विकसित है? क्या महावीर के बाद अहिंसा का उत्तरोत्तर विकास नहीं हुआ? पहली बात यह है कि कुछ ऐसी चीजें हैं जो कभी विकसित नहीं होतीं—विकसित हो ही नहीं सकतीं। बुद्ध को ज्ञान उपलब्ध हुए पच्चीस सौ साल हो गए। यह पूछना व्यर्थ है कि अब जिन्हें ज्ञान उपलब्ध हुआ है वह बुद्ध के ज्ञान से विकसित है या नहीं? ध्यान ज्ञान के विकसित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ध्यान है स्वयं में उतर जाना। स्वयं में चाहे लाख साल पहले उतरा हो और चाहे अब उतरे—फर्क नहीं पड़ता। स्वयं में उतरने का अनुभव एक है स्वयं में उतरने की स्थिति एक है। महावीर की अहिंसा उनकी स्वानुभूति का ही बाह्य परिणाम है। भीतर उन्होंने जाना जीवन की एकता को और बाहर उनके व्यवहार में जीवन की एकता अहिंसा के रूप में प्रतिफलित हुई। अहिंसा का मतलब है जीवन की एकता का सिद्धांत। इस बात का सिद्धांत कि जो जीवन मेरे भीतर है, वही तुम्हारे भीतर है। तो मैं अपने को ही चोट कैसे पहुंचा सकता हूं? मैं ही हूं तुममें भी फैला हुआ। जिसे यह अनुभव हुआ कि मैं ही सबमें फैला हुआ हूं, या सब मुझसे ही जुड़े हुए जीवन हैं—उसमें व्यवहार में अहिंसा फलित होती है। अहिंसा कम और ज्यादा नहीं हुआ करती। वह वृत्त के समान होती है या प्रेम के समान। जो वृत्त कम है वह वृत्त ही नहीं है। प्रेम या तो होता है या नहीं होता—उसके टुकड़े नहीं होते, प्रेम विकसित तभी हो सकता है जब वह थोड़ा थोड़ा हो। अक्सर हमारी पसन्द विकसित होती है इसलिए हम सोचते हैं कि प्रेम विकसित हो रहा है। पसन्द और प्रेम में बहुत फर्क है। पसन्द कम और ज्यादा हो सकती है लेकिन प्रेम न कम होता है न ज्यादा। चाहे तो वह होता है या नहीं होता। दुनिया में अहिंसा, प्रेम-जैसी चीजें जब उपलब्ध होती हैं तो पूर्ण ही, अन्यथा बिलकुल उपलब्ध नहीं होतीं।

अज्ञान की डिग्रियाँ होती हैं, ज्ञान की नहीं। कोई कम अज्ञानी हो सकता है और कोई ज्यादा अज्ञानी। लेकिन एक आदमी कम ज्ञानी हो और दूसरा ज्यादा ज्ञानी—यह बिलकुल ही असंगत, निरर्थक बात है। दो अज्ञानियों में भी ज्ञान का फर्क नहीं होता, सिर्फ सूचना का फर्क होता है। चूँकि हम अज्ञानी हैं इसलिए छोटे-बड़े मापों में जीते हैं और ज्ञानियों के भी छोटे बड़े होने का हिसाब लगाते रहते हैं। इसलिए ही तो पूछते हैं कि कबीर बड़े कि नानक, बुद्ध बड़े कि महावीर, राम बड़े कि कृष्ण, क्राइस्ट बड़े कि मुहम्मद? ज्ञानियों में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। एक

सीमा है मनुष्य की। उस सीमा के बाहर मनुष्य छलाँग भर लगा जाय तो फिर परमात्मा की कशिश उसे खीच लेती है। उसे कुछ करना नही पडता। उस सीमा के बाद कोई छोटा-बडा नही रह जाता। फिर सब पर बराबर कशिश काम करती है। उसी सीमा को मै कहता हूँ विचार। जिस दिन आदमी विचार से निर्विचार मे कूद जाता है उस दिन के बाद उसके लिए कोई छोटा-बडा नही रह जाता। हमारे सब भेद-भाव कूदने के पहले के भेदभाव है।

महावीर ने जो छलाँग लगाई है वही कृष्ण की छलॉग है, वही क्राइस्ट की। इसलिए अहिंसा का कोई विकास नही होता। महावीर ने इसका कोई विकास किया हो, इस भूल मे भी नही पडना चाहिए। अनुभव की अभिव्यक्ति मे भेद है, अहिंसा का अनुभव समान है। ऐसा कुछ नही है कि महावीर ने पहली बार अहिंसा का अनुभव किया हो। लाखो लोगो ने पहले भी किया था और लाखों लोग पीछे करेगे। यह अनुभव किसी की बपौती नही है। परिवर्तनशील जगत् मे विकास होता है। शाश्वत, सनातन अन्तरात्मा के जगत मे विकास नही होता। महावीर-जैसे व्यक्ति चाक की कील के निकट पहुँच गए है—जहा कोई लहर नही, कोई तरग नही, जहाँ कभी विकास नही होता, गति नही होती। याद रहे—कील नही चलती, इसलिए चाक चल पाता है। जो कील का सहारा पकड लेता है, वह कभी चूर नही होता। अस्तित्व के विकासचक्र की कील का ही नाम परमात्मा, धर्म या आत्मा है।

४

आप कहते है कि अहिंसक व्यक्ति का भी विरोधी पैदा होना अहिंसा के विषय मे सदेह पैदा करता है। ऐसी धारणा रही है कि जो अहिसक है उसका कोई विरोधी नही होता। जिसके मन मे द्वेष, विरोध, घृणा, हिंसा न हो, उसके प्रति घृणा, हिंसा और द्वेष कैसे हो सकता है? ऊपर से यह बात बहुत सीधी और साफ मालूम पडती है। लेकिन जीवन ज्यादा जटिल है, सिद्धान्त जितने सरल होते है जीवन उतना सरल नही है। सच तो यह है कि पूर्ण अहिंसक व्यक्ति के विरोधी पैदा होने की सम्भावना अधिक है। उसके कई कारण है। पहला कारण तो यह है कि चूँकि हम सब हिंसक है, इसलिए हिंसकों से हमारा ताल-मेल बैठ जाता है, चूँकि अहिसक व्यक्ति हमारे बीच अजनबी है, इसलिए उसे बरदाश्त करना भी मुश्किल है। अहिंसक व्यक्ति की मौजूदगी मे हम इतने ज्यादा निन्दित प्रतीत होने लगते है कि इसका बदला लिये बिना नही रह सकते। पूर्ण अहिंसक व्यक्ति हिसक व्यक्ति के मन मे, अनजाने ही, तीव्र बदले का भावना पैदा करता है।

महावीर के लाखो विरोधी रहे होगे। यह स्वाभाविक है। लेकिन इससे उनकी अहिंसा पर सन्देह नही होता। इससे खबर मिलती है कि आदमी पूर्ण अजनबी था,

ऐसे अजनबी को स्वीकार कर सकना कठिन था। जिसके लिए स्वीकार करना सरल था उसके लिए वे भगवान थे। भगवान बनाना भी अस्वीकार करने की ही एक तरकीब है। यह दूसरी और आखिरी तरकीब है जिससे हमने उन्हें मनुष्य-जाति से बाहर निकाल दिया है। अगर बहरे तक मेरी आवाज न पहुँचे तो यह नहीं कहा जा सकता कि मैं गूंगा था। मेरे बोलने पर इसलिए शक नहीं किया जा सकता कि बहरों तक मेरी आवाज नहीं पहुँची। महावीर के अहिंसक होने में इसलिए शक नहीं हो सकता कि हिंसक चित्त तक उनकी आवाज नहीं पहुँची। बहुत गहरे में हम बहरे हैं।

इसी सम्बन्ध में यह भी पूछा जाता है कि महावीर के प्रेम में क्या कुछ कमी थी जो वे मक्खली गोशालक को समझा न पाए? निश्चित ही, पूर्ण प्रेम समझाने की पूरी व्यवस्था करता है। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पूर्ण प्रेमी समझा ही पाए। क्योंकि दूसरी तरफ पूर्ण घृणा भी हो सकती है जो समझने को राजी न हो, पूर्ण बहरापन भी हो सकता है जो सुनने को तैयार न हो। महावीर की अहिंसा की जाँच करनी हो तो दूसरे की तरफ से जाँच करना गलत है। सीधे महावीर को ही देखना उचित है। सूरज को जानना हो तो किसी अंधे आदमी को माध्यम बना कर जानने की कोशिश करना अनुचित है। लेकिन कई बार ऐसा होता है कि हमारी खुद की आँखें इतनी कमजोर होती हैं कि सीधा देखना मुश्किल हो जाता है। इसलिए हम बीच के गुरुओं को खोजते हैं, आचार्यों से सम्पर्क कायम करते हैं, टीकाकारों की सहायता लेते हैं। गीता को सीधा नहीं देखते, टीकाकारों के माध्यम से देखते हैं।

यह भी याद रहे कि महावीर ने 'सिद्धान्तों की चर्चा नहीं की और न अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अचौर्य आदि सिद्धान्त ही हैं। इसलिए इनके सीधे प्रयोग की बात ही गलत है। इनका सीधा प्रयोग हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए उस आदमी को लें जो भूसा इकट्ठा करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति को गेहूँ बोना पड़ता है, भूसा नहीं। अगर वह भूसा पैदा करने के लिए भूसा ही बो दे तो जो पास का भूसा है वह भी खेत में सड़ जायगा, कुछ भी पैदा न होगा। अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, अस्तेय—ये सिद्धान्त नहीं हैं, उप-उत्पत्तियाँ हैं भूसे की तरह। जहाँ समाधि पैदा होती है वहाँ ये सब भूसे की तरह आप ही पैदा हो जाते हैं। अहिंसा, सत्य आदि छाया की तरह आते हैं समाधि के अनुभव में। प्यार आया कि उसके पीछे छाया की तरह ये सब आ जाते हैं। महावीर ने अहिंसा नहीं साधी क्योंकि अहिंसा साधने वाले सिर्फ हिंसा को दबाते हैं। और दबी हुई हिंसा से कोई अहिंसक नहीं होता। अगर किसी व्यक्ति ने काम को रोका और ब्रह्मचर्य साधा तो उसके ब्रह्मचर्य के भीतर अब्रह्मचर्य और व्यभिचार ही मिलेंगे। महावीर के भीतर है समाधि और बाहर है

ब्रह्मचर्य। अगर उन्होने ब्रह्मचर्य की साधना की होती तो ब्रह्मचर्य होता बाहर और भीतर होता व्यभिचार। महावीर जैसे व्यक्ति को समझना हो तो बाहर से भीतर की ओर देखने की कोशिश न करना। भीतर से बाहर की ओर देखना।

महावीर की जो उपलब्धि है, वह है समाधि। उपलब्धि की जो उप-उत्पत्तियाँ है वे है सत्य, अहिसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि। न तो ये सिद्धान्त है और न इनके सीधे प्रयोग की ही कोई जरूरत है। हाँ, करने की कोशिश की है बहुत लोगो ने और वे कोशिश मे विफल हुए है, विकृत हुए है। प्रयोग तो करना है ध्यान का। सत्य, ब्रह्मचर्य आदि आएँगे छाया की तरह। अहिसा नही साधनी है, साधना है ध्यान। अहिसा फलित होती है। जैसे ही समाधि फलित होती है वैसे ही कुछ चीजे विदा हो जाती है। हिसा विदा हो जाती है, क्योकि समाधिस्थ चित्त के साथ हिसा का सम्बन्ध नही जुडता।

अक्सर हमे लगता है कि महावीर साधु बने और दूसरो को भी साधु बनाने के लिए कहते रहे। यह हमे इसलिए लगता है कि हम असाधु है और हमारी धारणा है कि अगर हमे साधु होना हो तो साधु बनना पडेगा। सच्चाई यह है कि साधुता आती है, साधु बनना नही पडता। जो साधु बनता है उसकी साधुता थोथी, झूठ, आडम्बर-मात्र होती है। साधु बनना अभिनय की बात है। 'महावीर साधु बने'—यह उनके लिए गलत शब्दों का प्रयोग है। बनना होता है चेष्टा से; महावीर साधु हुए आत्म-परिवर्तन से। महावीर ने किसी को भी साधु बनने के लिए नही कहा। उन्होने कहा कि जागो असाधुता के प्रति और तुम पाओगे कि साधुता आनी शुरू हो गई है। प्रयास करके हम चाहे कुछ भी बन जायँ, पर साधु नही बन सकते। साधुता तो आत्मपरिवर्तन है, पूरा-का-पूरा आत्मपरिवर्तन। शायद महावीर को पता भी न चला होगा कि वे साधु हो गए है। होने की जो प्रक्रिया है वह अत्यन्त धीमी, शान्त और मौन है। बनने की जो प्रक्रिया है वह अत्यन्त घोषणापूर्ण है, बैंड-बाजे के साथ चलती है।

आप ध्यान का छोटा-सा प्रयोग करे। यह आत्म-स्मरण का प्रयोग हो। आधा घटा रोज बैठकर स्वय रह जाएँ, सब भूल जाएँ। मन मे जुआ न खेले, उतनी देर मन मे शराब न पीएँ, मास न खाएँ—बस इतना बहुत है। छह महीने के प्रयोग के बाद आप कहेगे—जो आनन्द मैंने उस आधे घटे मे पाया वह सारे जीवन मे न मिला। तब आप मास नही खा सकते, शराब नही पी सकते। महावीर का ध्यान ऐसा ही था। जो उस ध्यान से गुजरेगा वह मासाहार नही कर सकता। महावीर किसी को नही कहते कि मांसाहार न करो। वह ध्यान ही ऐसा है कि उससे गुजरनेवाला व्यक्ति मासाहार कर ही नही सकता। वह ध्यान इतने जागरण और आनन्द मे ले जाता है कि शराब का क्षणिक आनन्द उसके सामने ठहर नही पाता।

५

लोग कहते हैं कि यद्यपि महावीर समानता के समर्थक थे फिर भी उनके संघ में साध्वी-संघ उपेक्षित रहा था। इस सम्बन्ध में कुछ बुनियादी बातें ध्यान में रखनी होंगी। पहली बात तो यह है कि महावीर के मन में स्त्री पुरुष के बीच असमानता का कोई भाव न था। समानता की पकड़ इतनी गहरी थी कि मनुष्य और पशु में या मनुष्य और पौधे में भी वे असमानता का भाव नहीं रखते थे। फिर भी स्त्री पुरुष के बीच साधु-संघ में उन्होंने कुछ भेद किया था जिसके कुछ सूक्ष्म कारण हैं। महावीर स्त्री के विरोध में नहीं हैं स्त्री चित्त के विरोधी हैं। वे पुरुष के पक्ष में नहीं हैं लेकिन पुरुष होने का एक गुण है उसके पक्ष में हैं। पुरुषत्व का अर्थ है सक्रियता। महावीर का मार्ग सक्रियता का मार्ग है। उनकी पूरी साधना—जैसा मैंने पहले भी कहा है—संकल्प और श्रम की साधना है। तो महावीर कहते हैं कि स्त्री को भी अगर सत्य पाना है तो पुरुष होना पड़ेगा। इसी बात को लोगों ने गलत समझ लिया। ऐसा समझ लिया कि स्त्री योनि से मोक्ष असम्भव है। बात बिलकुल दूसरी है। पुरुष योनि से ही मोक्ष हो सकता है महावीर के मार्ग पर लेकिन पुरुष योनि का मतलब शरीर से पुरुष हो जाना नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है निष्क्रियता का त्याग। जिस प्रकार लता को वृक्ष का सहारा चाहिए उसी प्रकार स्त्री भी पुरुष का सहारा माँगती है। महावीर सहारे के एकदम खिलाफ हैं। तुमने सहारा माँगा कि तुम पंगु हुए।

जैनों के एक तीर्थंकर हैं—मल्लीबाई। मल्लीबाई स्त्री थीं, लेकिन दिगम्बरों ने उन्हें मल्लीनाथ कहा है। उन्हें स्त्री कहना वास्तव में बेमानी है। उन्होंने कोई सहारा नहीं माँगा। इसलिए स्त्री कैसी? मल्लीबाई कहा ही नहीं दिगम्बरों ने। उन्होंने कहा—मल्लीनाथ। पीछे झगड़ा खड़ा हो गया कि मल्लीबाई स्त्री थी या पुरुष? दिगम्बरों ने कहा—पुरुष, श्वेताम्बरों ने कहा—स्त्री। दोनों ठीक हैं। मल्लीबाई स्त्री था लेकिन उनका चित्त वैसा स्त्रियों जैसा न था।

रवीन्द्रनाथ पुरुष थे मगर उनके पास स्त्रियों का-सा चित्त था। वे स्त्रीरूप भी हो सकते हैं। शायद सभी कवियों के पास ऐसा ही स्त्रीचित्त होता है। असल में शायद काव्य का जन्म ही नहीं हो सकता पुरुष चित्त से। स्त्री का पूरा चित्त काव्य, स्वप्न और कल्पना का है। असल में कवि का मतलब भी है निष्क्रिय चित्त।

महावीर की दृष्टि में न पुरुष ऊँचा है और न स्त्री नीची है। असल में यह भी कहते हैं कि स्त्री चित्त को मोक्ष नहीं है। स्त्री भी मोक्ष की अधिकारिणी है लेकिन चित्त पुरुष का होना चाहिए। हाँ, यदि मीरा के मार्ग से जाना हो तो स्त्री चित्त होना चाहिए। उस मार्ग से पुरुष के लिए कोई गति नहीं है। महावीर का मार्ग पुरुष का मार्ग है इसलिए उस मार्ग पर स्त्री के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। यह भी गलत है

कि अधिक लोग वीच का रास्ता पकड़ते हैं जिसमे वे ध्यान भी करते हैं और पूजा-पाठ भी। ध्यान पुरुषमार्ग का हिस्सा है और पूजा स्त्री-मार्ग का हिस्सा। दोनो के घोल-मेल से मुक्त होना मुश्किल है। महावीर के मार्ग पर स्त्रियाँ उपेक्षित हैं, ऐसा नही है, वल्कि स्त्री-चित्त उपेक्षित है जैसा कि मीरा के मार्ग पर पुरुष-चित्त उपेक्षित है।

एक साध्वी ने कहा है कि महावीर के मार्ग पर यह वडी वेवूझ वात है कि एक दिन के दीक्षित साधु को भी सत्तर वर्ष की दीक्षित साध्वी प्रणाम करेगी। यह पुरुष के लिए वहुत सम्मान की वात जान पड़ती है और लगता है कि इससे स्त्री को वहुत अपमानित कर दिया गया। वात उलटी है। महावीर ने यहाँ अद्भुत मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय दिया है। फ्रॉयड के पहले किसी आदमी ने ऐसी सूझ नही दिखलाई। लेकिन सूझ इतनी गहरी है कि दिखलाई नही पडती। चूँकि आक्रामक पुरुष-चित्त ही पाप मे ले जा सकता है, स्त्री कभी नही, इसलिए महावीर ने वड़ा सुगम उपाय किया है कि स्त्री पुरुष को आदर दे। स्त्री जिस पुरुष को आदर देती है, उस पुरुष के अहकार को कठिनाई हो जाती है उस स्त्री को पाप की ओर ले जाने मे। इसलिए महावीर ने कहा कि स्त्री कितनी ही वृद्धा हो, पुरुष को आदर दे, उसके पैर छू ले, ताकि उसके अहकार को कठिनाई हो जाय और वह स्त्री को पाप मे ले जाने की कल्पना भी न कर सके। अगर ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि झुकती तो स्त्री है, किन्तु सम्मान उसे ही मिलता है, पुरुष का अनादर होता है। लेकिन यह देखना जरा मुश्किल मामला है। यह भी ध्यान रखे कि महावीर के तेरह हजार साधु थे ओर चालीस हजार साध्वियाँ। यह अनुपात हमेशा ऐसा ही रहा है। साध्वियाँ जितनी साध्वियाँ होती है, साधु उतने साधु नही होते। चूँकि वे किसी भी काम मे पहल नही करती, इसलिए जहाँ भी होती हैं वे वही रुक जाती हैं। अगर स्त्री को काम-वासना मे दीक्षित न किया जाय तो वह आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन कर सकती है। स्त्री को काम-वासना मे भी दीक्षित करना पडता है, धर्म-साधना मे भी दीक्षित करना पडता है—वह पहल लेती ही नही। इसलिए निर्दोष लडकियाँ मिल जाती हैं, निर्दोष लडके वहुत मुश्किल से होते है। चूँकि लडकियाँ कभी कोई पहल नही दे सकती, इसलिए महावीर ने व्यवस्था की कि हर स्थिति मे साध्वी साधु को आदर दे। इससे पुरुष के अहकार की भी वडी तृप्ति हुई। साधुओ ने समझा होगा कि हमारा वड़ा सम्मान हुआ। वे आज भी यही समझ रहे है। लेकिन इस व्यवस्था का कारण विलकुल मनोवैज्ञानिक था। अगर एक स्त्री आपके पैर छू ले तो आप उस स्त्री को काम की दिशा मे ले जाने मे एकदम असमर्थ हो जायँगे, आपके अहकार को वडी वाधा होगी। आप उस सम्मान की रक्षा करना चाहेगे। यदि इस विधान के विपरीत पुरुष ही स्त्री के पैर छूता तो वात

उलटी होती। याद रहे कि स्त्री की कामुकता उसके पूरे शरीर म व्याप्त होती है। चूंकि पुरुष की कामुकता सिफ काम केन्द्र के पास होता है इसलिए उसे सिफ सम्भोग से आनन्द आता है। अगर पुरुष स्त्री के पर भी छू ले तो स्त्री म काम की सम्भावना जाग्रत हो सकती है।

महावीर की इस मनोवैज्ञानिक व्यवस्था की एसी व्याख्या किसी और न नही की। अब तक के व्याख्याकार यही कहते रहे हैं कि महावीर की इस व्यवस्था का कारण यह है कि पुरुष की योनि ऊँची है और स्त्री की नीची, इसलिए स्त्री ही पुरुष योनि को नमस्कार करे।

महावीर ने मनुष्य के चार वर्गीकरण किए हैं—श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी। उनकी साधना पद्धति श्रावक से शुरू होती है या श्राविका से। कोई सीधे ही एकदम साधु नही हो सकता। पहले उस श्रावक बनना होगा। साधना, ध्यान और सामायिक श्रावका के लिए हैं। जब वे इनस गुजर जाएँ तब व साधु-जीवन म प्रवेश कर सकते हैं। महावीर किसी को पहले ही साधु की दीक्षा नही देते। यह भी आवश्यक नही कि कोई साधु बने ही। श्रावक रहकर भी मोक्ष पाया जा सकता है। सिर महावीर ने ही यह कहने की हिम्मत की है। साधु होना अनिवाय नहीं है। मान लीजिए कि आप गहरे ध्यान म गए और आपको वस्त्र पहनना ठीक मालूम पडता है तो आप वस्त्र पहनना जारी रखें। यदि वस्त्र अनावश्यक प्रतीत हो तो छोड दें, अन्यथा नही। अथात—महावीर की आस्था है कि घर म रहकर ही यदि कोई ध्यानस्थ हो जाता है तो वह घर न छोडे। अगर उसे लगता है कि घर व्यथ है तो वह उसे छोड दे।

परम्परा से प्रामाणिक एव निर्णीत' महावीर के जीवन का यह बौद्धिक एव तथ्यपूण विश्लेषण समाज को स्वीकृत हो यह आवश्यक नहा। समाज को मेरी बातें स्वीकृत हो इसका मुझे ध्यान नही। समाज का स्वीकृत होने स ही यह विश्लेषण ठीक हो सकता है ऐसी भी कोई बात नहा। प्राथमिक रूप से जो मैं कह रहा हूँ समाज से उसकी अस्वीकृति की ही अधिक सम्भावना है लेकिन अगर जो मैं कह रहा हू वह बुद्धिमत्ता पूण, वज्ञानिक एव तथ्यगत है तो अस्वीकृति को टूटना पडेगा—अस्वीकृति जीत नहा सकती। और अगर यह तथ्यपूण नहा है अवज्ञानिक है तो अस्वीकृति जीत जायगी। मैं इस पर ध्यान नहा देता कि मेरी बातों को कौन स्वीकार करता है कौन अस्वीकार। मुझे जो सत्य मालूम पडता है, वह मैं कह देता हूँ। अगर वह सत्य होगा तो आज नहा कल स्वीकार कर लिया जायगा। असत्य करोडो वर्षों तक चले तो भी वह असत्य ही है। सत्य किन्तु न चल पाए तो भी वह सत्य है। असत्य स्वीकृति म जाता है, किन्तु सत्य स्वीकृति की परवा नहीं करता। वह अस्वीकृति म जी लेता है क्योंकि उसक पास अपने पर हैं, अपना सांस

है, अपने प्राण है और वह अनन्त काल तक प्रतीक्षा कर सकता है। मुझे चिन्ता नही कि लोग मेरी बातो को माने ही। जिस व्यक्ति को ऐसी चिन्ता होती है वह कभी सत्य बोल ही नही सकता। जैसा हमारा समाज है, उसके जीने के लिए असत्य अनिवार्य-सा हो गया है। यदि दुख, पीडा, शोषण, अहकार, द्वेष आदि से भरे हुए इस समाज को जिलाना हो तो वह असत्य पर ही जी सकता है। अगर ऐसे समाज को बदल कर प्रेम से भरे हुए एक नए समाज की स्थापना करनी हो जिसमे ईर्ष्या-द्वेष, घृणा-महत्त्वाकाक्षा आदि न हो तो फिर इसकी नीव सत्य पर कायम करनी होगी।

सभी चाहते है कि आनन्द मिले, लेकिन वे स्वय को बदलना नही चाहते। वे चाहते है कि प्रकाश मिले, लेकिन उन्हे आँख न खोलनी पडे। याद रहे कि महत्त्वाकाक्षी चित्त कभी भी आनन्दित नही हो सकता। उसे जो भी मिल जायगा उससे उसकी तृप्ति न होगी और जो नही मिलेगा उसके लिए वह पीडित रहेगा। महत्त्वाकाक्षा और आनन्द मे विरोध है। प्रेम देना कोई भी नही चाहता, प्रेम माँगना चाहता है। यह भी ध्यान रहे कि जो आदमी प्रेम देने की कला सीख जाता है, वह कभी माँगता ही नही। माँगता सिर्फ वही है जो दे नही पाता। हमारी यही कठिनाई है कि हम हमेशा से यही चाहते रहे है कि आनन्द हो, शान्ति हो, प्रेम हो, लेकिन जो हम करते है वह इनका एकदम उलटा होता है। उससे न शान्ति हो सकती है, न प्रेम और न आनन्द। प्रत्येक व्यक्ति द्वेष मे जी रहा है, ईर्ष्या मे जी रहा है और चाहता है कि उसे आनन्द मिले। मगर ईर्ष्यालु चित्त कभी आनन्द नही पा सकता। ईर्ष्या और आनन्द परस्पर विरोधी अनुभूतियाँ है। उनके विरोध के प्रति सजग हो जाना ही साधना की शुरुआत है। जैसे ही कोई इस बोध को उपलब्ध हो जाता है कि ईर्ष्या से भरे हुए चित्त मे आनन्द का वास नही हो सकता, वैसे ही क्रान्ति शुरू हो जाती है, क्योकि विरोध दिख जाए तो फिर उसमे जीना मुश्किल है।

अन्त मे एक और प्रश्न पर विचार करे। इसमे सन्देह नही कि जिस प्रकार आसक्ति अथवा राग कर्म-बन्ध का कारण है उसी प्रकार द्वेष और घृणा भी। तब महावीर ने ससार, शरीर आदि के प्रति घृणा का भाव पैदा करके ससार त्याग का उपदेश क्यो दिया ?

राग-द्वेष दोनो एक ही तरह के उपद्रव के कारण है। राग का ही उलटा द्वेष है—राग शीर्षासन करता हुआ द्वेष है। दोनो फाँसते है, दोनो बाँध लेते है। मित्र भी बाँधता है, शत्रु भी बाँधता है। न तो हम मित्र को भूल पाते है और न शत्रु को। कभी-कभी तो शत्रु के मरने से हमारा बल ही खो जाता है, क्योकि बल उसके विरोध मे बनकर आता है। लेकिन जिसे बधन ही दुख हो गया, वह न मित्र

बनाता है और न शत्रु। वह अपनी ही जिंदगी को दूर खड़ा होकर देखने लगता है, खुद द्रष्टा हो जाता है, राग-द्वेष के बाहर हो जाता है। कर्ता हमेशा राग-द्वेष से घिरा होता है अकर्ता साक्षी बन जाता है।

महावीर संसार या शरीर के प्रति द्वेष नहीं सिखाते। लेकिन जिन्होंने महावीर को नहीं समझा वे जरूर ऐसी ही शिक्षा देते हैं। शरीर से ऐसा प्रेम करनेवाला आदमी मुश्किल से पैदा हुआ होगा। संसार के प्रति न तो द्वेष सिखाते हैं और न राग करने की सलाह देते हैं, क्योंकि वे तो कहते ही यह हैं कि द्वेष बाँध लेता है, प्रेम बाँध लेता है। वे द्वेष सिखा ही नहीं सकते। वे सिखाते हैं कि अपने द्वेष, अपने राग, अपनी घृणा, अपने प्रेम—इन सबके प्रति जाग जाओ। इन्हें जागकर देख लो। जिस दिन इन्हें पूरी तरह देख लोगे उस दिन पाओगे कि राग विराग, मित्रता शत्रुता एक ही चीज के दो छोर हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। महावीर बाएँ जाना नहीं सिखा सकते क्योंकि वे जानते हैं कि जो बाएँ जायगा उसे दाएँ जाना पड़ेगा। वे एक ही बात सिखा सकते हैं कि न तुम बाएँ जाओ न दाएँ—ठहर जाओ बीच में खड़े हो जाओ। न द्वेष रहे और न घृणा, न राग और न विराग। ध्यातव्य है कि महावीर विरागी नहीं हैं। वस्तुतः जो विरागी उनके पीछे पड़े हुए हैं, वे गलती में पड़े हुए हैं। महावीर को उन विरागियों से कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि विरागी हुए कि उन्होंने राग अर्जित करना शुरू कर दिया। महावीर कहते हैं कि प्रेम द्वेष दोनों को देख लो। दोनों को पहचान लो। फिर तुम अपने में आ जाओगे। तीन दिशाएँ हैं।' एक प्रेम की ओर ले जाती है दूसरी घृणा की ओर। जो इनके द्वंद्वों से बच जाता है वह त्रिकोण के तीसरे बिंदु पर आ जाता है जहाँ जाना आना नहीं है सिर्फ ठहर जाना है। वहाँ प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। यहीं ठहर कर हम देख पाते हैं। अगर राग और द्वेष को देखना है तो किसी की ओर न जाएँ। ठहरकर देख लें कि राग क्या है द्वेष क्या है क्रोध क्या है।

यह केवल ध्यान की भूमिका है। जैसे ही कोई स्वयं में ठहर जाता है वैसे ही वह उस द्वार पर पहुँच जाता है जहाँ से ज्ञान की शुरुआत होती है। लेकिन स्वयं में खड़ा होना पहला बिंदु है। फिर वहाँ से यात्रा भीतर की ओर हो सकती है। राग द्वेष में होने का अर्थ है स्वयं के बाहर होना कहीं और होना। जो आदमी धन इकट्ठा करने में लगा है उसका ध्यान धन पर होगा और जो धन के त्याग में लगा है उसका भी ध्यान धन पर। धन पर ही दृष्टि होगी उन दोनों की।

अष्टम अध्याय

निगोद और अन्तर्यात्रा

सिद्धाण वुद्धाण पार-गयाण परपर-गयाण ।
लोअग्गमुवगयाण, नमो सया सव्व-सिद्धाणं ॥[1]

—'सिद्धाण वुद्धाण'—मत्र (सिद्धाण-थुई)

१

निगोद की धारणा महावीर की मौलिक धारणा है। इसका अर्थ है—बन्धन मे प्रसुप्त आत्माओ का लोक। निगोद प्रथम है, मोक्ष अन्त मे और ससार मध्य मे। निगोद से उठकर आत्मा ससार मे आती है, ससार से उठकर मोक्ष मे। मोक्ष है मुक्ति, निगोद है पूर्ण अमुक्ति जहाँ बिलकुल अन्धकार है, जहाँ गहरी निद्रा है—यानी जहाँ इसका भी होश नही है कि बन्धन है। निगोद मूर्छित आत्माओ का वह लोक है जहाँ से आत्माएँ धीरे-धीरे उठती है और इस मध्यम लोक मे आती है। ससार है स्वप्न, निगोद है निद्रा और मोक्ष है जागृति। अब प्रश्न उठता है कि आत्माएँ कहाँ से आती है? महावीर यह नही मानते कि आत्माओ का सृजन होता है। आत्माएँ सदा से है। परन्तु वे आती कहाँ से है? महावीर कहते है कि इस जगत् मे ऐसा कुछ भी नही है जो अनन्त न हो। कोई भी चीज सख्या मे हो नही सकती, क्योकि अगर चीजे सख्या मे हो तो फिर जगत् असीम नही हो सकेगा—और जगत् सीमित नही है। निगोद का अर्थ है—अनन्त आत्माएँ जहाँ प्रसुप्त है और वह भी अनन्त काल से। आत्माएँ एक-एककर उठती है और ससार मे प्रवेश करती है, फिर ससार से मुक्त होती चली जाती है और दूसरे लोक मे पहुँचती है जहाँ वे परम चैतन्य को उपलब्ध हो जाती है। प्रश्न है कि क्या कभी ऐसा भी होगा कि सभी आत्माएँ हो, जायँगी? नही ऐसा कभी होने को नही, कारण कि आत्माएँ अनन्त है। 'अनन्त' शब्द हमारे खयाल मे नही आता, क्योकि हमारा मस्तिष्क अनन्त की धारणा को नही पकड पाता। अनन्त का मतलब है जहाँ सख्या होती ही नही। लेकिन असंख्य का मतलब अनन्त नही होता।

---

१. सिद्धिपद को प्राप्त किए हुए, सर्वज्ञ, संसार का पार प्राप्त किए हुए, परम्परा से सिद्ध बने हुए, और लोक के अग्रभाग पर गए हुए, ऐसे सर्वसिद्ध भगवन्तो के लिए सदा नमस्कार हो।

तो निगोद का अर्थ है मूर्छित आत्माओं का लोक। संसार है अर्ध मूर्छित आत्माओं का लोक, मोक्ष है परम अमूर्छित आत्माओं का लोक। चूँकि हमारा मन संख्याओं में ही सोचता है इसलिए निरंतर यह सवाल उठता है कि अमूर्छित आत्माएँ कितनी हैं और कितनी मुक्त हो गई हैं ? यह न भूलें कि आत्माएँ अनंत काल से मुक्त हो रही हैं और अनन्त आत्माएँ मुक्त हो चुकी हैं। मजे की बात तो यह है कि अनंत से कितना ही निकालो पीछे अनंत ही शेष रह जाता है। गणित की बड़ी पहेलियों में से यह एक है कि अनंत से हम कुछ भी निकालें, अनंत ही शेष रहता है। इसलिए निगोद आज भी उतने का उतना ही बना रहता। आत्माएँ मुक्त होती चली जायेंगी, लेकिन मोक्ष में भीड़ नहीं बढ़ेगी। सामान्य गणित इस रहस्य को सुलझा नहीं सकता। किन्तु गणित की कई बातें आज गलत सिद्ध हो चुकी हैं। उदाहरण के लिए नयी ज्योमेट्री की इस धारणा को लें कि सीधी रेखा होती ही नहीं। चूंकि जमीन गोल है, इसलिए कितनी सीधी रेखा क्यों न हो यदि तुम उसको दोनों तरफ बढ़ाते चले जाओ तो अंत में वह वृत्त बन जायगी। सभी सीधी दीखनेवाली रेखाएँ वृत्त का हिस्सा हैं और वृत्त का हिस्सा सीधा नहीं हो सकता। इसलिए जगत में कोई रेखा सीधी नहीं है। यह भी हमारे खयाल में आना मुश्किल है। साधारण गणित कहता है कि बिन्दु वह है जिसमें लम्बाई चौडाई नहीं है, मगर ज्योमेट्री कहती है कि जिसमें लम्बाई चौडाई न हो वह तो हो ही नहीं सकता इसलिए कोई बिन्दु नहीं है—सभी रेखाओं के खंड हैं, छोटे खंड। रेखा है बड़े वृत्त का खंड और बिन्दु है रेखा का खंड। सभी बिन्दुओं में लम्बाई-चौडाई होती है। संख्या बिलकुल ही झूठी बात है, आदमी की ईजाद है। यहां कोई भी ऐसी चीज नहीं जिसकी संख्या हो। प्रत्येक चीज असंख्य है और अगर हम असंख्य का ख्याल करें तो गणित बेकार हो जाता है। वह बना है काम चलाऊ हिसाब से संख्या से। इस काम चलाऊ गणित से अगर हम जगत के सत्य को जानने जायेंगे तो हम मुश्किल में पड़ जायेंगे। महावीर की बात गणित से उलटी है। वस्तुत जो भी सत्य के खोजी हैं उनकी बात गणित से उलटी होगी। इसलिए उपनिषद भी कहती है[1] कि वह पूर्ण ऐसा है कि उससे अगर तुम पूर्ण को भी बाहर निकाल लो तो पूर्ण ही शेष रह जाता है। उसमें जरा भी कमी नहीं पड़ती। हम जब भी कुछ निकालते हैं तब पीछे कमी पड़ जाती है क्योंकि हमने सीमित से ही कुछ निकाला है सदा। अगर हमने असीमित से भी कुछ निकाला होता तो हमें पता चलता। असीमित का हमें कुछ भी अनुभव नहीं।

---

१ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
—ईशावास्योपनिषद १

इसलिए निगोद अनन्त है, उसमे कभी कमी नही पडती। मोक्ष अनन्त है, वहाँ कभी भीड नहीं होती। दोनो के बीच का ससार भी अनन्त है, क्योकि दो अनन्तो को जोडनेवाली चीज अनन्त ही हो सकती है। दो अनन्तो का जो सेतु बनता है, वह सीमित कैसे हो सकता है? अनन्तो को अनन्त ही जोड सकता है।

और यह भी स्मरण रहे कि निगोद से आत्मा सीधे मोक्ष तक नहीं पहुँच सकती। मूर्च्छित आत्मा को अमूर्छा के रास्तो से गुजरना ही पडता है। जब आप निद्रा से जागते है तो बिलकुल जाग नही जाते; बीच मे तन्द्रा का एक काल है, जिससे आप गुजरते है। सोने और जागने के बीच तन्द्रा का एक अल्पाधिक काल होगा ही, चाहे वह कितना ही छोटा क्यो न हो, जब आप न तो जाग गए होते है और न सोए हुए। सोने की ओर भी झुकाव होता है और जागने की ओर भी। निगोद से सीधे कोई मोक्ष मे नहीं जा सकता। ससार से गुजरना ही पडता है।

यह भी संभव नही कि मुक्त आत्माएँ पुन ससार को लौट आएँ। निगोद से ससार और ससार से मोक्ष की यात्रा जल की यात्रा की तरह नही है। जल भाप बनता है और फिर बादल। बादल बरस कर समुद्र मे पुन आ मिलता है। यह न भूले कि पानी, भाप और समुद्र तीन चीजें नही है। जल का चक्र एक ही चीज का यान्त्रिक चक्र है। पानी के बीच से कोई बूँद मुक्त होकर पानी के बाहर नही हो पाती। चक्र घूमता रहता है। जहाँ तक मोक्ष का सम्बन्ध है, वहाँ से लौटना मुश्किल है। हाँ, ससार मे कोई चक्कर लगा सकता है। एक मनुष्य हजार बार मनुष्य होकर चक्कर लगा सकता है, क्योकि वह सोया हुआ है। अगर वह जाग जाय तो चक्कर लगाना बद कर दे, वह बाहर हो जाय चक्कर के। चूंकि मोक्ष समस्त चक्कर के बाहर हो जाने का नाम है, इसलिए उससे लौटना असम्भव है। पदार्थ का जगत् निगोद मे है। हम कह सकते है कि पानी गरम करेंगे तो भाप बनेगा ही। ऐसा जल नही देखा गया जो कहे कि मै भाप नही बनूंगा। उसके पास कोई चेतना नही है। हम पानी के सम्बन्ध मे कह सकते है कि वह भाप बनेगा ही। लेकिन मनुष्य के सम्बन्ध मे ऐसे निष्कर्ष निकाले नही जा सकते और न कुछ पूर्व सूचनाएँ ही दी जा सकती है। यह जरूरी नही कि जिसे हम प्रेम दे वह हमे भी प्रेम दे। मनुष्यो के सम्बन्ध मे, उनकी प्रतिक्रियाओ के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी नही की जा सकती, कारण कि उनमें चेतना है। पदार्थ की सारी व्यवस्था यान्त्रिक है, मनुष्यो की नही। पदार्थों के नियम है—यथा, पानी को गर्म करते जाओ तो एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी कि पानी भाप बन जायगा। यह तिब्बत मे करो या अफ्रीका मे। वह भाप बनेगा ही। लेकिन जैसे-जैसे हम ऊपर जाते है, वैसे-वैसे हमारी यान्त्रिकता टूटती चली जाती है और आदमी मे आकर यह बहुत शिथिल हो जाती है। आदमी के सम्बन्ध मे पक्का नही कहा जा सकता कि वह क्या करेगा? तरह-तरह के लोग है और उनकी तरह-तरह की चेतना है।

मोक्ष में तो प्रेडिक्शन (भविष्यवाणी) बिल्कुल ही नहीं हो सकती। वहाँ तो आत्माएँ पूर्ण मुक्त हैं।

मनुष्य का पूर्ण विनाश बताना मुश्किल है। किसी को हम गाली दें तो साधारणतः वह क्रोध करेगा लेकिन कोई महावीर भी मिल सकता है जो गाली सुनकर भी चुपचाप खड़ा रहे और क्रोध न करे। आदमी जितना ही चेतन होता जायगा वह उतना ही 'प्रेडिक्शन' के बाहर होगा। जितना नीचे उतरेंगे, चक्कर उतना ही सुनिश्चित है। जितना ऊपर उठेंगे, चक्कर उतना ही शिथिल है। पूर्णतया ऊपर उठ जाने पर चक्कर नहीं रह जाता—सिर्फ आप रह जाते हैं कोई दबाव और दमन नहीं होता। यही मुक्ति और स्वतन्त्रता का अर्थ है। वृक्ष से मोक्ष की ओर जो यात्रा है, वह अचेतन से चेतन की ओर यात्रा है।

२

मैंने कहा है कि महावीर की आत्मा मुक्त होकर भी वापस आ गई थी। क्या मुक्तात्माएँ घूम फिरकर फिर निगोद में नहीं पहुँच जातीं?

महायान में कहा गया है कि बुद्ध का निर्वाण हुआ और वे मोक्ष के द्वार पर पहुँच गए। जब द्वारपाल ने उनका स्वागत किया और भीतर चलने को कहा तब बुद्ध ने जवाब दिया, 'जब तक पृथ्वी पर एक व्यक्ति भी अमुक्त है तब तक मैं भीतर कैसे जाऊँ? अशोभन है यह! अभी पृथ्वी पर बहुत लोग बंधे हैं, दुखी हैं।' इतना कहकर बुद्ध आनन्द में प्रवेश कर गए।

यह कहानी महायान बौद्धों में प्रचलित है। इसका अर्थ यह है कि मुक्त हो जाना ही मोक्ष में प्रवेश करना नहीं है। मुक्त होना मोक्ष का प्रवेश-द्वार है। मुक्त होकर ही कोई व्यक्ति मोक्ष में प्रवेश पा सकता है, अन्यथा नहीं। लेकिन मुक्त हो जाना ही प्रवेश करना नहीं है। द्वार पर पहुँचकर भी कोई वापस लौट सकता है। मैंने कहा था कि एक बार वापस लौटने का उपाय भी है। जो उपलब्ध हुआ है वह अगर अभिव्यक्त नहीं हो पाया और जो मिला है वह अगर बाँटा न जा सका तो जीवन में एक बार फिर वापस लौटने की सम्भावना रह जाती है। [illegible] पर भी [illegible] दूर चला जाती है। ठीक वैसे ही अगर यात्रा में मुक्ति हो जाए तो घाटी दूर [illegible] जाता है। [illegible] हो गया है तो व्यक्ति उतर सकता है लेकिन न उतरना चाहे तो घाटी दूर [illegible] सकता है—बहुत [illegible]। मुक्त व्यक्ति चाहे तो एक जीवन के लिए वापस लौट आ सकता है। [illegible] लौटता है—[illegible] तीर्थंकर, अवतार, पैगम्बर [illegible] कहता हूँ। [illegible] जो उपलब्ध हुआ है [illegible] बाँटने और बताने के लिए लौट आते हैं। [illegible] आते हैं और न लौटें।

सभी मुक्त व्यक्ति रुकते हो, ऐसा भी नही है। लेकिन जो व्यक्ति रुक जाते है वे हमे ईश्वरीय दूत जैसे लगते है, क्योकि वे हमारे बीच से नही आते। वे उस दशा से लौटते हे जहाँ से साधारणत कोई भी नही लौटता। इसलिए ऐसे व्यक्तियो के सम्बन्ध मे अलग-अलग धर्मो मे अलग-अलग धारणाएँ प्रचलित है। हिन्दू उन्हें अवतार कहते है और मानते है कि उनके रूप मे ईश्वर स्वय उतर रहा है—वहाँ से उतर रहा है जहाँ हम जाना चाहते है। स्वभावतः अवतरण की धारणा बनानेवालो को इसका खयाल न रहा कि वह व्यक्ति भी यात्रा करके ऊपर गया होगा, तभी तो वह वापस लोटा है। इस आधे हिस्से पर उनकी दृष्टि नहीं गई। जैन धर्मानुयायियो ने अवतरण की बात ही नहीं की, उन्होंने तीर्थकर कहा जिसका अर्थ है वह व्यक्ति जिसके मार्ग पर चलकर कोई पार जा सकता है। लेकिन पार उतरने का इशारा वही दे सकता है जो पार तक गया होगा। तीर्थंकर से उस व्यक्ति का बोध होता है जो उस पार को छूकर लौट आता है। मैं मानता हूँ और यही उचित भी भी है कि पार गया हुआ व्यक्ति कम-से-कम एक बार लौटकर खबर दे और बताये कि उसने क्या देखा और पायाउस पार। जैनो ने अवतर की बात नही की, क्योकि ईश्वर की धारणा उन्होने स्वीकार नही की। इसी प्रकार ईसाइयो ने न तो तीर्थंकर की धारणा की और न अवतार की। उन मुक्तात्माओ के लिए जो लौट आए है वे 'ईश्वरपुत्र' का प्रयोग करते है। उनका खयाल है कि ईश्वर के सम्बन्ध मे जो खबर देता है वह ईश्वर के उतना ही निकट होगा जितना बाप के निकट बेटा होता है। बेटा बाप के प्रांणो का हिस्सा होता है। ईश्वर पुत्र ईश्वर की खबर तभी दे सकता है जब वह सचमुच ईश्वर का बेटा हो, जब ईश्वर का ही खून बहता हो उसकी धमनियो मे। जगत् मे इस तरह की अन्य धाराएँ भी प्रचलित है।

तो, मै कह रहा था कि मुक्त व्यक्ति एक बार लौट सकता है। महावीर के अब लौटने का सवाल नही है। महावीर लौट चुके है। लेकिन बुद्ध के लौटने का सवाल अभी बाकी है। मैत्रेय के नाम से भविष्य मे उनका एक अवतरण होगा। बुद्ध को सत्य की जो उपलब्धि हुई थी वह इसी जीवन मे हुई थी, इसके पहले जीवन मे नही। उन्होने जो पाया था वह इसी जीवन मे पाया था। इसलिए उनके आने की उम्मीद है। जीजस भी आएँगे। थियोसॉफिस्टो ने मैत्रेय को लाने के लिए भारी प्रयास किया था। वह प्रयास अपने किस्म का अनूठा था। कुछ लोगो ने प्राणो को सकट मे डालकर आमत्रण भेजा और कृष्णमूर्ति को तैयार किया कि मैत्रेय की आत्मा उनमे प्रविष्ट हो जाय। कृष्णमूर्ति को तैयारी मे बीस-पच्चीस वर्ष लग गए। उनकी जैसी तैयारी हुई, दुनिया मे वैसी किसी आदमी की शायद ही हुई हो। अत्यन्त गूढ साधनाओ से कृष्णमूर्ति को गुजारा गया। ठीक वक्त पर तैयारियाँ पूरी हुई। सारी दुनिया से कोई छह हजार लोग उस स्थान पर

एकत्र हुए जहा कृष्णमूर्ति म मैत्रेय की आत्मा के प्रविष्ट होने की घटना घटनेवाली थी। लेकिन शायद मूल चूक हो गई और वह घटना न घटी। कृष्णमूर्ति न गुरु होने म इनकार कर दिया, क्योकि व अत्यन्त ईमानदार आदमी हैं। ऐसा अनुभव किया गया है कि मैत्रेय के उतरने म बडी बाधा है। कोई शरीर इस योग्य नहा मिल रहा है कि मैत्रेय उतर जाय और कोई गम ऐसा निर्मित नही हो रहा है कि मैत्रेय के लिए वह अवसर बन जाय। हो सकता है कि दो चार हजार वर्षों तक लगातार प्रतीक्षा करनी पडे। हो सकता है कि प्रतीक्षा समाप्त हो जाय और वह चेतना विदा हो जाय। कृष्णमूर्ति के लिए किया गया प्रयोग असफल हो गया और अब ऐसा कोई प्रयोग पृथ्वी पर नहा किया जा रहा है।

उपलब्धि के बाद अभिव्यक्ति का मौका अत्यन्त जरूरी है, इसलिए मने कहा कि महावीर की उपलब्धि पिछले जन्म की उपलब्धि है। इस जीवन म उन्होंने उसे बाटा है, इसलिए अब उनकी चेतना के लौटने का सवाल नही है। फिर हम यह अजीब सा लगता है कि यद्यपि बुद्ध को मर पच्चीस सौ वष बीत चुके फिर भी उनका अवतरण न हुआ। जीजस भी नही आए। समय की हमारी जो धारणा है उसकी वजह से हमको ऐसी कठिनाइ होती है। सपना म सैकडा वष बीत जाते हैं, परन्तु जब नींद टूटती है तब आप पाते हैं कि घडी म अभी मुश्किल से एक मिनट हुआ है। जागने के समय की धारणा अलग है, सोने के समय की गति अलग है। मुक्त व्यक्ति के लिए समय की गति का कोई अथ नहा रह जाता—वहाँ समय की गति है ही नही, केवल हमारे तल पर समय की गति है। केन्द्र पर परिधि से खीची गई सभी रेखाएँ मिल जाती हैं और जैसे-जैसे पास आती जाती हैं वसे वसे मिलती जाती है। जितना हम जीवन-केन्द्र स दूर है, उतना ही समय बडा है और जितना हम जीवन-केन्द्र के करीब आते हैं, उतना ही समय छोटा होता जाता है। इसलिए शायद आपने कभी खयाल नही किया होगा कि दुख मे समय बहुत लम्बा होना है और सुख म बहुत छोटा। सुख भीतर के कुछ निकट है दुख कुछ दूर। जाग्रतावस्था म हम समय की परिधि पर खडे होते हैं, सोने म हम अपने भीतर आ जाते हैं। स्वप्न भीतर की ओर है जाग्रति बाहर की ओर। स्वप्न म हम अपने केन्द्र के ज्यादा निकट होते हैं जागने म ज्यादा दूर। व्यक्ति के केन्द्र पर पहुँचने की दशा का ही नाम समाधि है। समाधि मे समय एकदम मिट जाता है—समय होता हा नही। सब पथ परिधि पर है केन्द्र पर नहीं। वहाँ परिधि से खीच गई सभी रेखाएँ सयुक्त हो जाती हैं।

दूसरी बात आपने पूछी है कि जब प्रकृति म सभी चीजें चक्रीय गति से चलती हैं तब मुक्तात्माएँ इस नियम का अपवाद कसे हो सकती हैं? वे भी निगोद से मोक्ष तक जाती होगी और मोक्ष से लौटकर निगोद म फिर पहुँचती होगी। जहाँ सभी कुछ

चक्रवत् घूमता हो, वहाँ सिर्फ आत्मा की गति को चक्रीय न माना जाय, यह नियम का खडन मालूम पडता हे। वीज वृक्ष वनता है, फिर वृक्ष से वीज आ जाते हैं। फिर वीज वृक्ष वनता है, फिर वृक्ष मे वीज आ जाते हैं। किसी वैज्ञानिक से पूछा गया था कि मुर्गी और अडे मे कौन पहले है। वैज्ञानिक ने उत्तर दिया कि पहले-पीछे का तो सवाल ही नही है, कारण कि मुर्गी और अडा दो चीजे नही हैं। तव प्रश्न उठता है कि मुर्गी है क्या ? उत्तर है कि मुर्गी है अडे का रास्ता या यो कहे कि अंडा है मुर्गी का रास्ता, मुर्गी पैदा करने के लिए। घडी के काँटे की तरह सभी चीजें घूम रही है। इसलिए आत्मा इस नियम का अपवाद कैसे हो सकती है? अपवाद हो सकती है। वस्तुत मुक्त आत्मा एक अनूठी घटना हे, सामान्य घटना नही। इसलिए सामान्य नियम लागू नही हो सकते। असल मे जो आत्माएँ चक्र के वाहर कूद जाती है वे ही मुक्तात्मा कहलाती हैं। नही तो उन्हें मुक्त कहने का कोई मतलव नही। ससार का मतलव है—जो घूम रहा है, घूमता ही रहता है। मुक्त का अर्थ है जो इस घूमने के वाहर छलाग लगा गया है। मुक्त को अगर हम फिर चक्रीय गति मे रख लेते है तो मुक्ति व्यर्थ हो गई। अगर आत्मा मोक्ष से निगोद को वापस लौट आती है तो वे सव-के-सव पागल हैं जो मुक्त होने की कोशिश करते है। अगर सवको घूमते ही रहना है तो मोक्ष और मुक्ति की वात व्यर्थ हो जाती है। हाँ, जैसा मैंने कहा, एक वार मुक्तात्मा भी अपनी इच्छा से उस चक्र मे लौट आ सकती है। परन्तु चक्र पर वैठी हुई ऐसी आत्मा चक्र के साथ घूमती नही। अव उसके लिए घूमने का कोई मतलव नही। वह हमारे वाजार मे खडी होगी भी तो उसे वाजार का हिस्सा होना नही पडता। मुक्त व्यक्ति हमारे वीच भी खडा होगा, लेकिन ठीक हमारे वीच नही होगा। वह होगा हमारे वीच और हम से विलकुल अलग। कही उससे हमारा मेल होगा और कही नही। वह कुछ और ही तरह का आदमी होगा।

आवागमन से छूटने की जो कामना है वह उन लोगो को उठी है जिन्हे इसे घूमते हुए चक्र की व्यर्थता दिखाई पड गई। उन्होने देखा कि जन्मो-जन्मो से एक-सा घूमना हो रहा है, हम घूमते चले जा रहे है और इससे छलाँग लगाने का खयाल नही आता। छलाँग लग सकती है। अगर चाँद पर जाना है तो जमीन की कशिश से छूटना ही होगा। यदि जीवन के वाहर जाना है तो किसी-न-किसी रूप मे वासना के वाहर निकलना होगा। वासना भी एक प्रकार की कशिश ही है जो हमे ऊपर उठने नही देती। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर जो तृष्णा और वासना है वह हमे अस्थिर रखती है और कहती है—वह लाओ, वह पाओ, वह वन जाओ। वह चक्र के भीतर इशारे करती है और कहती है—धन कमाओ, यश कमाओ, ज्यादा उम्र वनाओ। जो व्यक्ति एक क्षण भी वासना के वाहर हो गया वह अन्तरिक्ष मे यात्रा कर गया, उस अन्तरिक्ष मे जो हमारे भीतर है। वह जीवन के चक्र के वाहर छलाँग लगा

गया, क्योंकि उसने कहा कि न मुझे यश चाहिए और न धन, न उम्र, न संतान। मैं मुक्त होना नहीं चाहता। वासना के चक्र से बाहर होते ही आप यह देखकर हैरान हो जायेंगे कि जिसे आपने अनन्त जन्मों से पाने की आकांक्षा की थी वह आपके पास ही था, वह मिला ही हुआ था। अपनी ओर देखने भर की जरूरत थी। लेकिन जैसे अन्तरिक्ष-यात्रा तब तक नहीं हो सकती जब तक कि हम जमीन की कशिश से छूट न जायें, वैसे ही अन्तर्यात्रा भी तब तक नहीं हो सकती जब तक हम वासना की कशिश से मुक्त न हो जायें। और वासना की कशिश धरती की कशिश से ज्यादा मजबूत है क्योंकि जमीन की जो कशिश है वह खींचने की एक जड़ शक्ति है और वासना की जो कशिश है वह एक सजग चेतन शक्ति है। इस चक्र से बाहर जिसे भी छलांग लगानी हो, उसे वासना के बाहर होना पड़ता है। साक्षी का भाव वासना के बाहर ले जाता है। जैसे ही कोई व्यक्ति साक्षी हुआ कि वह वासना के बाहर चला गया।

लेकिन यह न भूलें कि जीवन में साक्षी होना बहुत कठिन है। हम नाटक फिल्म तक में साक्षी नहीं होते। कई बार तो ऐसा हो जाता है कि बाहर की जिन्दगी हमें उतना ज्यादा नहीं पकड़ती जितनी फिल्म की कहानी पकड़ लेती है। अगर हमें स्मरण आ सके कि हम भी एक लम्बा नाटक खेल रहे हैं तो शायद हम भी साक्षी हो सकें। बहुत गहरे में जीवन और फिल्म में ज्यादा फर्क नहीं है। हमारा शरीर उसी तरह विद्युत्-कणों से बना है जिस तरह फिल्म के परदे पर दिखाई पड़ने वाला शरीर विद्युत्-कणों से बना है। मैं यह नहीं कहता कि आप नाटक न निभाएँ। सचमुच जो इस नाटक को जितनी अच्छी तरह निभा लेता है वह उतनी ही कर्त्तव्यनिष्ठ समझा जाता है। वस्तुतः नाटक निभाने के लिए ही है और मजेदार भी होता है। बस, एक बात न भूलें चाहे और सब क्या न भूल जायें। वह यह है कि यह जीवन सिर्फ नाटक है। स्वामी रामतीर्थ जैसे लोगों को इस रहस्य का पता था। तभी तो रामतीर्थ हमेशा अन्य पुरुष ('थर्ड पर्सन') में ही बोलते थे। जब उन्हें गाली पड़ती तो वे हँसते और कहते—"देखो ! राम को कैसी पड़ी? राम कैसी मुश्किल में फँसे? आ गया न मजा?"

यह ख्याल कि मैं वहाँ और हूँ, अलग हूँ, सारे खेल से कहीं दूर हूँ, साक्षी बना देता है और वासना की दौड़ टूट जाती है। खेल फिर भी चलता है क्योंकि आप अकेले खिलाड़ी नहीं। जहाँ बुद्धिमत्ता आती है वहाँ जगत माया से—नाटक से—अलग नहीं हो जाता। वहाँ नाटक और जगत एक ही हो जाते हैं। जिस दिन साक्षी जीवन से अलग खड़ा हो जाता है उसी दिन वह दौड़ के बाहर हो जाता है।

महावीर की साधना मौलिक रूप से साक्षी की साधना है। सभी साधनाएँ मौलिक रूप से साक्षी की ही साधनाएँ हैं कि हम किस भाँति देखनेवाले हो जायें, न तो भागने वाले रह जायें और न करने वाले। सिर्फ साक्षी रह जायें।

उसका सहायक हो जाता है, सारे जगत् की सहायता उसकी ओर चुम्बक की ओर खिचने लगती है। क्यो खिचने लगती है यह सवाल नही, नियम है। नियम यही है कि असहाय होते ही कोई व्यक्ति वेसहारा नही रह जाता—सब सहारे उसके हो जाते है। असुरक्षित चित्त को ही परमात्मा की सुरक्षा उपलब्ध होती है। जो खुद ही अपनी सुरक्षा कर लेता है, उसे परमात्मा की कोई सुरक्षा उपलब्ध नही होती।

एक दिन एक घटना घटी। कृष्ण ने दो-चार कौर लेकर थाली हटा दी और वे भाग खडे हुए। रुक्मिणी ने साश्चर्य पूछा—आपको क्या हो गया है, कहाँ जा रहे है ? कृष्ण ने रुक्मिणी की वात न सुनी। वे दरवाजे की ओर इस प्रकार दौडे मानो कही आग लग गई हो। फिर ठिठक गए और वापस लौटकर भोजन करने लगे। रुक्मिणी के विस्मय का पारावार न था। कृष्ण ने कहा कि मेरा एक भक्त रास्ते मे गुजर रहा था और लोग उसे पत्थरो से मार रहे थे। वह मजीर वजाए चला जा रहा था, मेरा ही गीत गा रहा था। तनिक भी क्रोध न था उसके मन मे। वह तो सिर्फ देख रहा था उन्हे कि वे पत्थर फेंक रहे है। खून की धारा वह रही थी। इसलिए मेरे जाने की जरूरत पड गई। रुक्मिणी ने पूछा कि फिर आप लौट क्यो आए ? कृष्ण ने कहा कि जब तक मैं दरवाजे पर पहुँचा तव तक मेरे भक्त ने मजीर फेक डाला और उसने एक ईंट उठा ली—उसने अपना इन्तजाम खुद कर लिया। अव मेरी कोई जरूरत न रह गई। जब व्यक्ति अपना इन्तजाम स्वयं कर लेता है तव जीवन की शक्तियो के लिए कोई उपाय नही रह जाता। सन्यासी का मतलव सिर्फ इतना है कि कोई अपने लिए इन्तजाम नही करता, सब-कुछ छोड़कर असुरक्षा मे खडा हो जाता है। मलूक ने कहा है कि पछी काम नही करते, अजगर चाकरी नही करता, सव के देने वाले है राम। यह आलस्य की शिक्षा नही है, वहुत गहरे मे असुरक्षा के स्वीकार की शिक्षा है।

ऐसी ही असुरक्षा मे महावीर असग हो गए है। न कोई सगी है न कोई साथी। जीवन की गहराइयो मे कही कोई शाश्वत नियमो की व्यवस्था भी है। उनमे एक नियम यह भी है कि आप जिसके पीछे भागेंगे, वह आप से भागता चला जायगा और जिसका मोह त्यागेंगे वह आपके पीछे आता रहेगा। जो धन छोडता है, उस पर धन की वर्षा होती है, जो मान त्यागता है, उस पर मान की वर्षा होती है। जो सुरक्षा छोडता है, उसे सुरक्षा उपलब्ध होती है। जो सब-कुछ त्याग देता है, उसे सब-कुछ उपलब्ध हो जाता है। वह एक घर छोडता है, लेकिन सब घर उसके हो जाते हैं। जब वह एक प्रेमी की फिक्र छोडता है तब शायद सबका प्रेम उसका हो जाता है।

इन्द्र और महावीर की परस्पर वार्त्ता की वात कोई ऐतिहासिक घटना नही है। यह एक कहानी है। इसका उल्लेख इसलिए होता है कि हम कहानियाँ ही समझ पाते हैं और वह भी जब उन्हे ऐतिहासिक कहा जाता है। जो भी अद्भुत व्यक्ति

पदा होता है वह इतना अदभुत होता है कि उसके आस पास काव्य बन जाता है कथाएँ बन जाती हैं। कथाएं सच हो, ऐसी बात नही। जब काव्य को जोर स पकड लिया जाता है और उसे जीवन का सत्य बना लिया जाता है तब कविता मर जाती है। इतना अनूठा है महावीर का जीवन कि उसे शायद तथ्यो म कहा ही नही जा सकता। इसलिए उसके साथ हम काव्य जोडना ही पडता है। और जब हम काव्य जोडते हैं तभी कठिनाई शुरू हो जाती है। जड लोग काव्य को जीवन का तथ्य मानने लगते हैं। यह जरूरी नही कि कोई चीज तथ्य न हो तो सत्य भी न हो। यदि तथ्य ही काव्य हो तो काव्य खत्म हो जाय, फिर काव्य का कोई सत्य ही न रह जाय। यदि कोई प्रेमी कह कि मेरी प्रेयसी का चेहरा चाद है तो इसे काव्य समझिए। विज्ञान तो कहता है कि चाद पर बडे खाई-खडडे हैं फिर किसी का चेहरा चांद सा कसे हो सकता है ? असल म प्रेमी कुछ और ही कह रहा है। वह कह रहा है कि चाद को देखकर जसे मन म छाया छू जाती है चादी की धार छूट जाती है, वैसे ही किसी के चेहरे से प्रेम सुधा बरसती है चित्त रस सिक्त हो उठता है। इस कविता को अगर कभी गणित और विज्ञान की कसौटी पर कसने लगें तो आप गलती मे पड जायगे। इसलिए मैं इन सारी बातो का काव्य और रूपक कहता हूँ, बोध-कथा मानता हूँ। इनके माध्यम से कुछ बातें कही गई हैं जो कि शायद किसी अन्य माध्यम से कही नही जा सकती थी। कहानियाँ सत्य को कहने का एक ढग हैं जिससे सत्य रूखा भी न रहे और मृत भी न हो। नासमझ आदमी ही कहानियो को सत्य बना लेता है और सत्य बना कर सारे व्यक्तित्व को झूठा कर देता है।

४

महावीर ने दूसरा का सहारा नही लिया यह सही है। लेकिन साथ ही प्रश्न उठता है कि यदि सहारा न लेना महत्त्वपूण है तो क्या सहारा न देना भी उतना ही महत्त्वपूण नहीं ? यदि है तो महावीर की अभिव्यक्ति उनके श्रावक और श्रमण दूसरा को सहारा क्यो देते रहे ? जब मैं सहारा नही लेता तब सहारा देनेवाला भी कौन होता हूँ ?

यह एक महत्त्वपूण प्रश्न है। साधारणत ऐसा ही दिखाई पडता है कि अगर कोई व्यक्ति सहारा नही लेता तो वह भी किसी का सहारा न दे। यह तक एकदम भ्रान्त है। जब हम कहते हैं कि सहारा नहीं लेना है तब इसका कुल मतलब इतना है कि भीतर जाने म हम किसी के साथ की जरूरत नही—भीतर हम अकेले ही जाना होगा। इसलिए मैं सभी सहारो का इनकार करता हूँ। लेकिन अगर यह बात मैं किसी को कहने जाऊं कि सहारा लोगे तो भटक जाओगे तो एक अथ म मैं उसको सहारा दे रहा हूँ और दूसरे अथ म उसे सहारे म बचा रहा हूँ। इसम दोनो बातें हैं। महावीर जो सहारा दे रहे ह वह इसी तरह का सहारा है। वे लोगो को

कहते है कि मै अकेला भीतर गया। यदि तुम सहारा पकड रहे हो तो भीतर नही जा सकोगे। बेसहारे हो जाओ। यह मुझे हक है कि मै किसी को इतनी बात कह दूँ कि विधि से कभी कोई नही पहुँचा है, इसलिए तुम विधि मत पकडना और मेरी बात भी मत पकड़ना। इसकी भी तुम खोज-बीन करना, क्योंकि इसको भी अगर तुमने पकडा तो यह तुम्हारी विधि हो जायगी।

यूनान के सोफिस्टो का कहना था कि कोई चीज सिद्ध ही नही है। जिन्दगी इतनी जटिल है कि उसमे सब पहलू मौजूद हैं और तर्क देनेवाला सिर्फ उस पहलू को जोर से ऊपर उठा लेता है जो पहलू वह सिद्ध करना चाहता है और शेष पहलुओं को पीछे हटा देता है।

यह बात सच है कि किसी का सहारा कभी मत लेना, क्योंकि सहारा भटकाने वाला होगा। परन्तु यह कहकर भी तो मै आपको सहारा ही दे रहा हूँ न? अब आप क्या करेगे? सोफिस्टो ने एक उदाहरण दिया है और कहा है कि सिसली से एक आदमी एथेन्स पहुँचा। यहाँ आकर उसने कहा कि सिसली मे सब लोग झूठ बोलनेवाले है। एक व्यक्ति ने उससे पूछा कि तुम कहाँ के रहने वाले हो? उसने उत्तर दिया—मैं सिसली का रहने वाला हूँ। यह सुनकर लोग मुश्किल मे पड़ गए। अब वे क्या करे? यदि उस व्यक्ति की बात मान ले तो सभी सिसली वासी झूठे ठहरते है और चूँकि वह भी सिसली का रहने वाला था, इसलिए वह भी झूठा ठहरता है। और चूँकि वह भी झूठा है, इसलिए उसकी बात सच नही मानी जा सकती। यदि उसकी बात सच मान ली जाय तो वह झूठा साबित हो जाता है और चूँकि वह झूठा है, इसलिए उसकी बात सच्ची नही हो सकती। यदि यह मान लिया जाय कि सिसली मे कम-से-कम एक व्यक्ति सच्चा है तो यह बात गलत होगी कि वहाँ सब झूठ बोलने वाले लोग हैं। जिन्दगी इतनी जटिल है कि दोनो बाते सही हो सकती है। सिसली मे सब झूठ बोलने वाले लोग भी हो सकते है और इस आदमी का वक्तव्य भी सही हो सकता है, क्योंकि सब लोग सब समय झूठ नही बोलते।

महावीर कहते है कि जीवन के एक पहलू को पकडकर कोई दावा करे तो यह है एकान्त। एकान्तवादी वह है जिसने जीवन का एक ही कोना देखा है। अगर वह सब कोने देख लेगा तो अपना आग्रह छोड़ देगा। वस्तुत महावीर बड़े अद्भुत व्यक्ति है। वे कहते है कि सत्य का आग्रह भी गलत है, क्योंकि वह भी एकान्त है। सत्य के अनेक पहलू है और सत्य इतनी बडी बात है कि ठीक एक सत्य से विपरीत सत्य भी सही हो सकता है। इसलिए महावीर कहते है कि मैं अनेकान्तवादी हूँ—यानी, सब एकान्तो को स्वीकार करता हूँ। अनुभव के अनन्त कोण है और प्रत्येक कोण पर खडा हुआ आदमी सही है। बस, भूल वहाँ हो जाती है जहाँ वह अपने कोण को सर्वग्राही बनाना चाहता है और कहता है कि मैंने जो जाना, वही ठीक है।

आपने यह कहानी सुनी होगी कि एक हाथी के पास पाँच अंधे खड़े हो गए। जिसने हाथी के पैर छुए उसने कहा कि हाथी खम्भे की तरह है, वरे के वक्ष की तरह है, जिसने कान छुआ उसने कहा कि हाथी गेहूं साफ करनेवाले सूप की तरह है। इस प्रकार पाँचों अंधों ने अपने अपने दावे किए। महावीर कहते हैं कि उनकी दृष्टि परस्पर विरोधी नहीं है। सच पूछिए तो जिन्हें हम विरोधी दृष्टियाँ कहते हैं वे सब एक-दूसरे की परिपूरक हैं और सब एक ही सत्य के भिन्न भिन्न पहलू हैं। सिर्फ हमारी सीमित दृष्टि के कारण ही यह सब विरोधी दिखाई पड़ रहा है। महावीर कहते हैं कि अगर हम सब दृष्टियों को जोड़ लें तो भी सत्य पूरा नहीं हो जाता, क्योंकि और दृष्टियाँ भी हो सकती हैं जो हमारे खयाल में न हों। इसलिए महावीर अनन्त की सम्भावना रखते हैं, एक का आग्रह नहीं करते। इस युग पर उनका प्रभाव बहुत कम पड़ा, इसका यही कारण है। बुद्ध की दृष्टि एक और पक्की है। वे एक पर सख्ती से खड़े रहते हैं और इंच-मात्र भी यहाँ वहाँ नहीं हिलते। यह बड़े मजे की बात है कि हम जिसे साफ दृष्टिवाला कहते हैं वह एकान्तवादी होता है। महावीर साफ नहीं मालूम पड़ते। वे हर बात में 'हाँ' कहते हैं, हर बात में 'न' भी। इसका मतलब है कि चाहे तो उन्हें पता नहीं या पता है तो साफ-साफ कहा नहीं। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों में बुद्ध या कनफ्यूशियस का नाम लिया जाता है महावीर का नहीं। करोड़ों लोग मिल जायेंगे पृथ्वी पर जिन्होंने महावीर का नाम भी कभी नहीं सुना। महावीर साफ नहीं हैं और साफ नहीं हैं, इसीलिए बात हमारी समझ में मुश्किल से आती है। जो गुणगत है उसने कभी विचार नहीं किया क्योंकि जिन्दगी विरोधों से भरी है। विचार करनेवाला व्यक्ति ऐसा सत्य नहीं कह सकता जो एकांगी, पूर्ण और दावेदार हो। उसके द्वारा की गई सत्य की अभिव्यक्ति घोषणा में विनम्र होगी। लेकिन निर्णय उसमें अभाव की सूचक बन जायगी, जब कि निर्णय उसके भार का सूचक है। अज्ञानी जितनी ताकत से दावा करता है उतनी ताकत से ज्ञानी नहीं कर सकता। आज में अज्ञानी ही दावा कर सकता है क्योंकि उसकी समझ इतनी कम है, उसने देखा इतना कम है, जाना इतना कम है कि उस कम से वह व्यवस्था बना सकता है। महावीर के अनेकान्त का यही अर्थ है कि कोई दृष्टि पूरी नहीं है और कोई दृष्टि विरोधी नहीं है। सब दृष्टियाँ सहयोगी हैं और सब दृष्टियाँ किसी बड़े सत्य में समाहित हो जाती हैं। जो विराट सत्य को जानता है वह किसी के न तो पक्ष में होगा और न विपक्ष में। इसलिए मैं कहता हूँ कि ऐसा अनेकान्त दृष्टिवाले लोग नहीं हैं क्योंकि वे जानते हैं पक्षधर हैं—वे कहते हैं कि हम सत्य पार कर गए हैं। लेकिन महावीर का कोई पक्ष नहीं है। लोग महावीर को टालकर गुजरते चले। पहले सुनता था कि उनका तक उनका कोई नहीं पहुँच सकी और दूसरा यह कि जिन लोगों ने उनका बाद पहुँचा, वे पक्षधर हो गए—जिन

वन पाए और जो मित्र बने वे शत्रु सिद्ध हुए। मजे की वात तो यह है कि अनेकान्त को भी महावीर के अनुयायियो ने 'अनेकान्तवाद' वना दिया है। 'अनेकान्त' का मतलब है 'वाद' का विरोध और वाद का मतलव ही होता है दावा। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि महावीर शायद हजार-दो हजार वर्ष वाद पुन प्रभावी हो सके। जैसे-जैसे दुनिया आगे वढ रही है, 'वादी' चित्त नष्ट होता जा रहा है। जितनी वुद्धि-मत्ता वढ रही है आदमी उतना ही निप्पक्ष होता चला जा रहा है। आज नही तो कल, सम्प्रदाय और वाद जाएँगे ही।

५

महावीर जिसे सन्यासी कहते है वह एक ऐसा अवादी व्यक्ति है जो असुरक्षा मे जीता है, जो अगृही है। लेकिन आज का सन्यासी महावीर के सन्यासी का उलटा आदमी है। वह आज के गृहस्थो से ज्यादा सुरक्षित है। गृहस्थ के ऊपर हजारो चिन्ताएँ और झझटे है, सन्यासी मस्त है। उसे न कोई दिक्कत है और न कोई कठि-नाई। खाने-पीने का प्रवन्ध है, मन्दिर है, आश्रम है। सन्यासी इस समय सवसे ज्यादा सुरक्षित है जव कि सन्यासी का मतलव वह व्यक्ति है जिसने सुरक्षा का मोह छोड़ दिया और जो असुरक्षा में ही जीने लगा। सन्यासी वह है जो कल की बात नही करता, भविष्य का विचार नही करता, योजना नही वनाता, वस प्रति-पल, क्षण-क्षण जिए चला जाता है। मौत आए तो वह राजी है, जीवन हो तो राजी है! ऐसी ही चित्त-दशा का नाम सन्यास है और ऐसा ही व्यक्ति अगृही है। सुरक्षा ही गृह है और असुरक्षा अगृह। सुरक्षा मे जीनेवाला व्यक्ति गृहस्थ है और सुरक्षा मे न जीनेवाला अथवा असुरक्षा की स्वीकृति मे जीनेवाला व्यक्ति सन्यासी है, अगृही है।

इस मम्बन्ध मे लोग पूछते है कि महावीर ने सन्यासियो से यह क्यो कहा कि तुम गृहस्थो को विनय मत देना, उनको तुम नमस्कार मत करना? महा-वीर के पीछे आनेवाले साधुओ ने महावीर के इस कथन का दूसरा ही मतलव निकाला है। उन्होने इसे 'अहकार की प्रतिष्ठा' वना ली है—यानी वे सम्मानित है, पूज्य है, दूसरे उनकी पूजा करें। लेकिन महावीर ने यह कही नही कहा कि साधु गृहस्थ से पूजा ले, सन्यासी गृहस्थ से विनय माँगे। उन्होने केवल इतना ही कहा कि गृहस्थ को अगृही विनय न दे। गृहस्थ का मतलव ही वह आदमी है जो अज्ञान से घिरा है। उसके अज्ञान की तृप्ति को जगह-जगह से गिराना जरूरी है। उसके अज्ञान को वढाना अनुचित है। अहकार न वढ जाय गृही का, इस-लिए महावीर कहते हैं कि साधु उसे विनय न दे। लेकिन महावीर को पता न था कि उनका साधु ही इस कथन को अपने अहकार के पोपण के लिए प्रमाण वना लेगा और इस अहकार मे जीने लगेगा कि उसे पूजा मिलनी चाहिए।

नवम अध्याय

महावीर की भाषा

जो सहस्स सहस्साणे, संगामे दुज्जए जिए ।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥[1]

—उत्त० अ० ६, गा० ३४

महावीर की भाषा प्राकृत थी, संस्कृत नहीं। वस्तुत सस्कृत कभी भी लोकभाषा नही थी। वह सदा से पडितो की—दार्शनिको और विचारको की—भाषा रही है। महावीर के युग मे प्राकृत ही साधारण जन की भाषा थी। ग्रामीण लोग इसी लोक-भाषा का प्रयोग करते थे, कारण कि प्राकृत मूलभाषा है और उसके परिष्कृत रूप को ही हम सस्कृत कहते है। हमारे देश मे दो परम्पराएँ चलती थीं। एक परम्परा थी जो सस्कृत मे ही लिखती और सोचती थी। वह बहुत थोडे लोगो की थी। एक प्रतिशत लोगो का भी उसमे हाथ न था। ज्ञान का जो आन्दोलन चलता था वह बहुत थोडे से अभिजातवर्गीय लोगो का था। जनता अनिवार्य रूप से अज्ञान मे रहने को बाध्य थी। महावीर और बुद्ध—दोनो ने जनभाषाओ का उपयोग किया। शायद यह भी कारण है कि हिन्दू ग्रन्थो मे महावीर का कोई उल्लेख नही है। न उल्लेख होने का कारण है, क्योकि सस्कृत मे उन्होने न तो शास्त्रार्थ किए और न कोई दर्शन विकसित किया।

आज भी हिन्दुस्तान मे अग्रेजी दो प्रतिशत लोगो की अभिजात भाषा है। हो सकता है कि मैं हिन्दी मे बोलता चला जाऊँ तो दो प्रतिशत लोगो को यह पता ही न चले कि मैं भी कुछ बोल रहा हूँ। चूँकि महावीर ने जन्म-भाषा का प्रयोग किया, पडितो के वर्ग ने उन्हे बाहर ही रखा। यह बडे आश्चर्य की बात है कि महावीर-जैसी प्रतिभा का व्यक्ति पैदा हो और देश की सबसे बडी परम्परा मे, उसके शास्त्र मे, उस समय के लिपिबद्ध ग्रन्थो मे उसका कोई उल्लेख न हो, विरोध मे भी नही। मैं इसके बुनियादी कारणो मे एक कारण यह मानता हूँ कि महावीर उस भाषा मे बोल रहे है जो जनता की है। पडितो से शायद उनका बहुत कम सम्पर्क बन पाया। पडितो का अपना एक अभिजात भाव है। वे साधारण जन नही है। वे साधारण

---

१. इसकी अपेक्षा कि पुरुष दुर्जय संग्राम मे दस लाख शत्रुओ पर विजय प्राप्त करे वह अपनी ही आत्मा पर विजय प्राप्त कर ले। यही श्रेष्ठ विजय है।

जन की भाषा में न बोलते हैं न सोचते हैं। वे असाधारण जन हैं, चुने हुए लोग हैं।

महावीर और बुद्ध की बड़ी से बड़ी क्रांतियों में एक क्रांति यह भी है कि उन्होंने धर्म को ठेठ बाजार में लाकर खड़ा कर दिया, ठेठ गाँव के बीच। वह किसी भवन के भीतर बन्द चुने हुए लोगों की बात न रही वह सबकी—जो सुन सकता है, जो समझ सकता है—बात हो गई।

महावीर ने संस्कृत का उपयोग नहीं किया। उसके और भी कई कारण हैं। असल में जो भाषा किसी परम्परा से संबद्ध हो जाती है, उसके अपने सम्बन्ध हो जाते हैं और उसका प्रत्येक शब्द एक निश्चित अर्थ ले लेता है। जब कोई उस शब्द का प्रयोग करता है तब उस शब्द के साथ जुड़ी हुई परम्परा का सारा भाव पीछे खड़ा हो जाता है। इस दृष्टि से जनता की सीधी-सादी भाषा अद्भुत है। वह काम करने की, व्यवहार और जीवन की भाषा है। उसमें बहुत शब्द ऐसे हैं जिन्हें नए अर्थ दिए जा सकते हैं। और महावीर के लिए जरूरी था कि वे अपने नए चिंतन के लिए नई शब्दावली लें। संस्कृत सैकड़ों वर्षों से हजारों वर्षों से परम्परा-बद्ध विचार की एक विशेष दिशा में काम कर रही थी। उसके प्रत्येक शब्द का अर्थ निश्चित हो गया था। इसलिए उचित यह था कि अनपढ़ जनता की भाषा को सीधा उठा लिया जाय। इस भाषा को नए अर्थ, नए तगदा, नए कोन दिए जा सकते थे। इसलिए उन्होंने सीधी जनता की भाषा उठा ली और उस भाषा में अद्भुत चमत्कारपूर्ण व्यवस्था की। यह इस बात का भी प्रमाण हो सकता है कि महावीर का मन शास्त्रीय नहीं है। वे खुली जिन्दगी के पक्षपाती हैं, खुले आकाश के नीचे नग्न खड़े हैं, इसलिए शास्त्र को बिलकुल हटा देते हैं, शास्त्रीय व्यवस्था को भी हटा देते हैं। ऐसे लोगों की हमेशा जरूरत पड़ जाती है जो हमें सच्ची जिन्दगी का स्मरण दिलाएँ। नहीं तो किताबें बड़ी खतरनाक हैं। वे सच्चा जीवन होने का भ्रम पैदा करती हैं। लोग किताब में परमात्मा को प्रार्थना करने लगते हैं। 'आग' शब्द आग नहीं है। किसी मकान पर आग लिख देने से मकान जल नहीं जाता। किताब में लिखे 'जल' से प्यास नहीं बुझती। किताब का परमात्मा भी असली परमात्मा नहीं है।

आम जनता की सीधी-सादी बातचीत की भाषा में शब्दजाल नहीं होता। उसमें न व्याख्या होती है, न परिभाषा। महावीर ने ऐसी भाषा के शब्द लिए और जनता से सीधी बात शुरू कर दी। वे जनता के आदमी हैं और इस अर्थ में वे पंडित नहीं हैं। और उन्होंने यह भी न चाहा कि उनका कोई शास्त्र निर्मित हो। उन्होंने सुनिश्चित रूप में शास्त्र को रोकने की कोशिश की होगी। इसलिए उनकी मृत्यु के दो-चार सौ वर्षों तक, जब तक लोगों को उनका स्पष्ट स्मरण रहा होगा कि शास्त्र नहीं लिखने हैं शास्त्र नहीं लिखा जा सका होगा। फिर लोगों

ने सोचा होगा कि कही महावीर का कहा हुआ विस्मरण न हो जाय, इसलिए चलो, उसे हम लिपिबद्ध कर ले, शास्त्रवद्ध कर लें। महावीर खो जायेंगे, लेकिन उनकी वाते शास्त्रो मे बची रहेगी। हम भूल जाते है कि जब महावीर-जैसा जीवन्त व्यक्ति भी खो जाता है तो क्या शास्त्रो को बचाना सम्भव है? महावीर-जैसे व्यक्ति तो यही उचित समझेगे कि जब व्यक्ति ही विदा हो जाता है और जब यहाँ कुछ भी स्थिर और स्थायी नही है, तब शब्द और शास्त्र भी विदा हो जायें। जीवन का नियम है जन्म लेना और मर जाना। जब जीवन का यह नियम महावीर को भी नही छोडता तो महावीर की वाणी पर यह नियम लागू क्यो न हो? हम क्यो आशा बाँधें कि शब्दो को बचाकर हम महावीर को बचा लेंगे! क्या बचेगा हमारे हाथ मे? अगारा तो बुझ ही जायगा, केवल राख बच पायगी। राख ही बचायी जा सकती है क्योकि वह मृत है। लेकिन खतरा यह है कि हम राख को ही कही अगार न समझ ले। महावीर ने चाहा होगा कि राख न बचे। कीमत की चीज अगार है, वह तो बचेगा नही और राख से कल यह धोखा हो सकता है कि यही है अगार। महावीर हिम्मतवर आदमी थे। अपनी स्मृति के लिए कोई व्यवस्था न करना बडे साहस की बात है। उनकी दृष्टि मे जो मरनेवाला है वह मरेगा ही। जो नही मरनेवाला है, वह नही मरेगा। जो मरनेवाले को बचाने की कोशिश करते है वे बडी भ्रांति मे पड जाते है। वे ही अक्सर राख को अगार समझ लेते है। शास्त्र मे जो धर्म है वह राख है। जीवन मे जो धर्म है वह अंगार है।

यह ध्यान रखने की बात है कि जगत् मे जो भी महत्त्वपूर्ण है, जो भी सत्य और सुन्दर है, वह लिखा नही गया, वह कहा ही गया है। जब हम कहते हैं तो कोई जीवन्त सामने होता है जिससे हम कुछ कहते है। लिखनेवाले के समक्ष कोई भी मौजूद नही है, सिर्फ लिखनेवाला मौजूद है। इस जीवन्त सम्पर्क के कारण महावीर ने न तो शास्त्रो की भाषा का उपयोग किया, न शास्त्रीयता का। उन्होने अपने पीछे शास्त्र की रेखा बनने न दी और दिखा दिया कि ज्ञान की दृष्टि मे कोई भी व्यक्ति अनधिकारी नही है।

लोग मुझसे आकर पूछते है कि क्या अनधिकारी को ज्ञान नही मिलना चाहिए? मै कहता हूँ कि यह निर्णय कौन करेगा कि कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी? फल नही कहता कि अधिकारी को सौंदर्य दिखाई पडेगा, अधिकारी को ही हम अपना सुगध देंगे। सूरज नही कहता हमसे कि अधिकारी को ही प्रकाश मिलेगा। खून नही कहता कि मै अधिकारी के शरीर मे ही बहूँगा। जगत् अधिकारी की माँग नही करता। भगवान बडा नासमझ है, वह अनधिकारियो को जीवन देता है! और पडित बडा समझदार है, वह अधिकारी को पक्का कर ले तब ज्ञान देगा! अधिकारी की बात ही अत्यन्त व्यापारिक और तरकीब की बात है। धर्म

क खिलाफ विज्ञान इसीलिए जीता है कि धर्म है थोड़े से लोगो के हाथ म और विज्ञान ने सत्य द दिया है सबके हाथ म ! विज्ञान की जीत का कारण यह है कि उसने पहली दफा ज्ञान को सार्वलौकिक बना दिया है। महावीर ने इस सम्बन्ध म बड़ी भारी क्रान्ति की। उन्होंने ठेठ बाजार म पहुँचा दी सारी बात। इससे पडितो को क्रोध भी बहुत हुआ। उनका धधा इसलिए चलता था कि बातें गुप्त थीं। महावीर न धर्म की सारी गुत्थी सुलझा दी, इसलिए पडित उन पर नाराज रहे हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उन्होंने वह काम किया जो एक डॉक्टर सीधी हिन्दी म प्रिस्क्रिप्शन लिखकर कर सकता है। एस डॉक्टर पर दूसरे सभी डाक्टर नाराज हो जायगे कि तुम क्या कर रहे हो तुमसे सारा धधा चौपट हो जायगा। महावीर शास्त्रो को बीच में लाना ही नही चाहत क्योंकि शास्त्रो को लाते ही शास्त्रीयता आती है पाडित्य आता है दूकान आती है सारी व्यवस्था आती है। वे ऐसे बोल रहे हैं जसे कि कोई पहला आदमी जमीन पर खडा होकर बोल रहा हो और उस किसी शास्त्र का कोई पता भी न हो।



दशम अध्याय

गोशालक की कथा का महत्त्व

नाऽवाऽज्ज किंचण ॥[1]

—आ० श्रु० १, अ० २, उ० ४

असल मे कहानियो को समझना बहुत मुश्किल है क्योकि वे प्रतीकात्मक होती है। गोशालक की कथा भी प्रतीकात्मक है। उसने महावीर पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिससे कोई भी जलकर भस्म हो सकता है। महावीर को बचाने के लिए एक साधु उठता है और वह नष्ट हो जाता है। दूसरा उठता है और वह भी मर जाता है। महावीर देखते रहते है। तीसरा उठता है, परन्तु महावीर उसे रोक लेते है। प्रश्न है कि पहले दो साधुओ के प्रति महावीर की तटस्थता का कारण क्या था? उन दो साधुओ के प्रति उनमे करुणा क्यो न आई? अगर रोकना ही था तो वे पहली ही बार रोक देते ताकि दो व्यक्ति न मर पाते।

इसमे बहुत-सी बाते हो सकती है। पहली बात यह कि व्यक्ति किसलिए उठा, यह बडा महत्त्वपूर्ण है। हो सकता है कि वह सिर्फ अहकारवश उठा हो और यह दिखाने उठा हो कि मैं महावीर को बचा सकता हूँ। अहकार को कोई भी बचा नही सकता। महावीर भी नही बचा सकते। कहानी का अर्थ यह हो सकता है कि दो गोशालक थे—दो अहकार थे जो लडने को खडे हो गए। महावीर चुप रह गए। तीसरा व्यक्ति विनम्र और सीधा-सादा रहा हो और सिर्फ आहुति देने को उठा हो। जब तक एक व्यक्ति और मरे तब तक भी महावीर जी जाएँ, इसलिए उठा हो। महावीर उसे रोकते है। असल मे कहानियाँ सारी बाते स्पष्ट नही कर पाती। हजारो साल से चलने के कारण उनके रूखे तथ्य ही हाथ मे रह जाते है। असल मे जिन दो व्यक्तियो को बचाने के लिए महावीर ने कुछ नही किया वे ऐसे व्यक्ति रहे हो जिन्हे बचाया ही नही जा सकता था। हो सकता है कि वे महावीर के लिए नही, अपने लिए ही खडे हुए हो। हो सकता है कि वे गोशालक को यह दिखा देना चाहते हो कि हम भी कुछ है। महावीर के पास सिवा दर्शक होने के और कोई उपाय न रहा हो। तीसरे व्यक्ति को वे रोकते है, जिसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वह—तीसरा व्यक्ति—निरहकार रहा हो और वह

---

१. किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

सिर्फ इसलिए उठा हो कि जितनी देर में मैं मरूँगा उतनी देर तो महावीर बचे रहें। वह इतनी विनम्रता से उठा हो कि महावीर को कुछ कहना ही पडता है, उसे रोकना ही पडता है। महावीर के चित्त में क्या हुआ, यह समझना कठिन है, क्योंकि हम ऊपर से तथ्य तो देखते हैं परन्तु हम यह खयाल में नहीं आता कि भीतर क्या कारण हो रहा था। हो सकता है कि उन दोनों के प्रति भी करुणा रही हो, क्योंकि महावीर की करुणा कोई मतवद चीज नहीं है। ऐसा न था कि वह उन लोगों के प्रति ही प्रकट होती थी जो महावीर के अनुयायी थे। सम्भवतः महावीर को यह पता है कि उन्हें रोकने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि कुछ लोग हैं जो रोकने से और बढ़ते हैं। वे न रोके जायें तो शायद रुक जायें। अहंकारी व्यक्ति को रोको तो वह और तेज होता है। शायद महावीर इसलिए ही चुप रहते हैं।

आदमी के मन को समझना बड़ा कठिन है। यह समझना मुश्किल है कि आदमी का चित्त किस भाँति काम करता है। महावीर किसी को क्या रोकते हैं और किसी को नहीं, यह ऊपर से जाना नहीं जा सकता। इस घटना को भीतर से देखना चाहिए। उनकी करुणा समान है लेकिन व्यक्ति भिन्न भिन्न हैं। वे जानते हैं कि रोकना किसके लिए सार्थक होगा और किसके लिए नहीं, रोकने से कौन रुकेगा और कौन नहीं। इसलिए हो सकता है, वे दो व्यक्तियों को ही नहीं, दो सौ व्यक्तियों को भी न रोकते। और भी बहुत सी बातें हैं जिन्हें महावीर जानते हैं पर जो साधारणतः देखी नहीं जा सकतीं। महावीर यह देख सकते हैं कि इस व्यक्ति की उम्र समाप्त हो गई है। यह सिर्फ निमित्त है इसके मरने का इसलिए वे चुप रह सकते हैं। हो सकता है कि उस व्यक्ति की उम्र समाप्त न हुई हो जिसे उन्होंने रोका है। महावीर जैसे व्यक्तियों को समझना बहुत कठिन है। इसलिए उनके संबंध में कोई निष्कर्ष निकालना महँगा होगा। जहाँ हम खड़े हैं वहाँ से हम जो दीख पड़ता है हम उस तक ही सोच सकते हैं। जिन्हें दूर तक दिखाई पड़ता है वे क्या सोचते हैं, कैसा सोचते हैं, वे सोचते भी हैं या नहीं—यह सब जानना हमारे लिए मुश्किल है। ज्यादा से ज्यादा हम अपना ही रूप प्रोजेक्ट कर सकते हैं। हम यही सोच सकते हैं कि उस हालत में हम होते, तो क्या करते। दो आदमियों को न मरने देते या फिर तीनों को ही मर जाने देते। हम उस चेतना स्थिति को कोई अनुभव नहीं है जो बहुत दूर तक देखती है।

कभी गोशालक के साथ महावीर किसी गाँव से गुजर रहे थे। गोशालक ने कहा—जो होनेवाला है वही होना है। महावीर कहते हैं—ऐसा ही है जो होनेवाला है वही होता है। जिस खेत से वे गुजर रहे थे उसमें दो टहनियोंवाला एक पौधा लगा था। उसमें अभी कलियाँ लगी थीं ऐसी कलियाँ जो कल फूल बनतीं। गोशालक ने उस पौधे को उखाड़कर फेंक दिया और कहा कि ये कलियाँ फूल बनेंगी

वाली है, पर अब न बनेगी। सन्ध्या समय वे दोनों भिक्षा लेकर वापस लौटे। इस बीच पानी बरस गया था और उस पौधे ने कीचड में फिर अपनी जड़े पकड ली थी और वह फिर खडा हो गया था। उसे देखकर महावीर ने कहा कि देख ! वह कली फूल बनने लगी, पौधा लग गया है जमीन मे और कली फूल बन जायगी।

जिसे दूर की बाते दिखाई पडती है उसे बहुत सी ऐसी बाते दिखाई पडती है जिन्हें हम समझ नही पाते। महावीर के सबंध मे तो कई ऐसी बाते है जो साधारण लोगों की समझ मे मुश्किल से आती है। जैसे, आम तौर पर महावीर खडे होकर ध्यान करते है। यह भी साधारण नही लगता, क्योंकि साधारण लोग बैठकर ध्यान करते है। महावीर को परम ज्ञान की उपलब्धि होती है गोदोहासन में। यह बडा अजीब आसन है। वे गाय नही दुह रहे थे वे वैसे ही बैठे थे जैसे कोई गाय को दुहते समय बैठता है। कारण क्या था ? यह बडी विचित्र स्थिति मालूम पड़ती है। इसमे तीन बाते समझनी जरूरी है।

पहली बात तो यह है कि गोदोहासन हमे असहज लगता है, लेकिन सहज और असहज हमारी आदतो की बाते है। पश्चिम के लोगो के लिए जमीन पर बैठना असहज है। जो अभ्यास मे है, वही सहज मालूम पड़ता है, जिसका अभ्यास नही है, वह असहज मालूम पडता है। हो सकता है कि महावीर पहाड़ पर, जगल मे, धूप-ताप मे रोज इसी आसन मे बैठते रहे हो। यह बहुत कठिन नही है। फिर महावीर की एक धारणा और भी अद्भुत है। वे कहते है कि पृथ्वी पर जितना ही कम दबाव डाला जाय उतना ही अच्छा। इसमे उतनी ही कम हिंसा होने की संभावना है। महावीर रात सोते है तो करवट नही बदलते, क्योकि जब एक ही करवट सोया जा सकता हो तो दूसरी करवट विलासपूर्ण है। दूसरी करवट लेने मे कोई चीटी, कोई मकोडा अकारण मर सकता है।

कुछ कौमो मे जब लोग मिलते है तो नाक से नाक रगड कर नमस्कार करते है। यह उनके-लिए सहज है। कुछ लोग हैं जो जीभ निकालकर नमस्कार करते हैं। पश्चिम मे चुम्बन सहज सरल-सी बात है। हमारे लिए यह भारी ऊहापोह की बात कि कोई आदमी सडक पर दूसरे आदमी को चूम ले। जो अभ्यास मे हो जाता है वह सहज लगने लगता है। महावीर अहिंसा की दृष्टि से दो पजो पर बैठते रहे होगे। उनके लिए यह सहज भी हो सकता है। इस आसन मे सो भी नही सकते। महावीर कहते है—भीतर पूर्ण सजग रहना है और पूर्ण सजगता के लिए अथक श्रम जरूरी है। हो सकता है कि निरन्तर प्रयोग से उन्हें पता चला हो कि उकडू बैठने से नीद नही आ सकती। सबसे बडी बात तो यह है कि महावीर का मस्तिष्क परम्परागत नहीं है। वे किसी भी चीज मे किसी का अनुकरण नहीं करते। उन्हे जो सरल और आनन्दपूर्ण लगेगा, वह वैसा ही करेंगे। हम सब परम्परा के अनुयायी हैं। जैसे सभी

बैठन हैं, वसे ही हम भी बैठते ह। महावीर इस तरह के व्यक्ति नहीं ह। हम यह भी खयाल नहा है कि हम खास तरह के कपडे पहनते ह ता खास तरह के आदमी हो जात ह और दूसरी तरह क कपडे पहनते ह ता दूसरी तरह के आदमी हो जाते ह, एक ढग से बठत है ता एक तरह के आदमी हो जात हैं और दूसरे ढग मे बठत ह ता दूसरी तरह के आदमी। हमारा जो मस्तिष्क है वह इन छोट छोट सकेता पर ही जीता और चलता है। हो सकता है कि महावीर का उकडू बैठना एक अजीब घटना है। साधारणत कोई उकडू नहीं बठता। उनका उकडू बठना गोदोहासन म ध्यान करना मेरी दृष्टि म गहर से गहरा अथ रखता है। वह यह कि चित्त पर इस तरह बठन का कोई जोर नहीं है पुराना। शरीर की इस स्थिति म पुराना चित्त जोर नहीं डाल सकता।

तीसरी बात जो म कहना चाहता हूँ यह है कि आसन से ध्यान का कोई सम्बन्ध नहा है। ध्यान है आतरिक घटना और आसन है बाहर शरीर की स्थिति। महावीर यह भी सूचना दना चाह रह हैं कि यह धारणा गलत है कि पद्मासन म या सिद्धासन मे ही ध्यान होगा और ज्ञान की उपलब्धि होगी। यदि पद्मासन या सिद्धासन म ही ज्ञान हो ता इसका अथ यह भी होगा कि ज्ञान शरीर की बैठक से बँधा है। अगर म ज्ञान को शरीर से क्या लेना-दना? भीतर जो है वह किसी आसन म उपलब्ध हो सकता है। महावीर के गोदोहासन की मूर्तियाँ जनियो के मन्दिरो म नहीं मिलती। मूर्तिया बनी ह पदमासन म, क्योकि पुरानी धारणा है कि ज्ञानी का पदमासन म ज्ञान होता है। महावीर को हम जसा देखना चाहते हैं वसा ही बना लेते ह। दिगम्बर महावीर के नग्न चित्र भी बनाएँगे तो एक झाड के पास बनाएँगे, ताकि झाड म उनकी नग्नता छिप जाय। ये लोग महावीर स ज्यादा हानिकार है! झाड के पास महावीर को खडा करना बमानी है। लेकिन हमारा दिमाग अत्यत क्षुद्र है और अपन हिसाब में सब-कुछ फौरन ढाल लेता है। फिर जो शक्ल हम बनाते हैं या जो व्यवस्था दत हैं वह हमारी हानी है। एक आदमी अगर नगा होन की हिम्मत करे ता उसके अनुयायी उसे नगा न होने देंगे। अगर वह नगा हो ही जाय तो वे कई तरकीबें निकालेंगे और पीछे लीप पातकर उसे बराबर कर देंगे और कहेंगे कि यह आदमी कभी नगा नहीं हुआ। इसी तरह क्रान्तियाँ पैदा होती ह और मर जाती ह। रोज रोज क्रान्ति की जरूरत पड जाती है उन लोगो की जरूरत पड जाती है जो फिर से आकर चौका को तोड दें। यह बडा दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। लेकिन यही होता रहा है कि क्रान्तिकारी जितना बडा होगा उसको उतना ही ज्यादा लीप पोत दिया जायगा। हम बाद पता नहा कि क्रान्तिकारी कस लोग थ। आज उनकी और ही शक्ल उपलब्ध है जो कि व कभी नहीं रहे होंगे।

म कहता हू कि किसी भी आसन में— सोए बठे, खडे और खडे—ध्यान हो

एकादश अध्याय

महावीर की दृष्टि : महावीर का भोग

आयातुले पयासु ।[1]

—सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ३

१

'दृष्टि' शब्द 'दर्शन' का पर्याय नहीं है। जहाँ दृष्टि एकांगी, अधूरी और खंडित होती है वहाँ दर्शन सदा समग्र होता है। दर्शन कभी भी अधूरा नहीं होता। जब तक मेरे चित्त में विचार हैं तब तक मेरे पास दृष्टि होगी, दर्शन नहीं, क्योंकि मैं अपने विचार के चश्मे से देखूँगा। मेरे विचार का जो रंग होगा वही उस चीज पर पड़ जायगा जिसे मैं देखूँगा। दर्शन होगा तब जब मैं निर्विचार हो जाऊँगा। विचार दृष्टि तक ले जाती है और निर्विचार दर्शन तक। इस सम्बन्ध में एक बात और भी समझ लेनी चाहिए। दर्शन कितना भी समग्र क्यों न हो—समग्र होगा ही—जब कोई उसे प्रकट करने जायगा, तब फिर दृष्टि शुरू हो जायगी, क्योंकि दर्शन को प्रकट करने के लिए विचार का उपयोग करना पड़ेगा। विचार चीजों को तोड़कर देखता है, परन्तु सत्य में सभी चीजें जुड़ी हुई हैं। अगर हम विचार से देखने जायेंगे तो जन्म अलग दीखेगा और मृत्यु अलग। जन्म और मृत्यु को विचार में जोड़ना अत्यन्त कठिन है क्योंकि जन्म मृत्यु की उलटी चीज है। लेकिन वस्तुतः जन्म और मरण एक ही चीज के दो छोर हैं। जो जन्म में शुरू होता है वही मृत्यु पर विदा हो जाता है। एक ही यात्रा का पहला बिन्दु जन्म है और अंतिम बिन्दु मृत्यु।

महावीर, बुद्ध, कृष्ण और क्राइस्ट को जो अनुभूति हुई थी वह समग्र है, लेकिन जब वे उसे अभिव्यक्त करते हैं तब वह समग्र नहीं रह जाती—तब वह एक दृष्टि रह जाती है। इसीलिए जो प्रकट दृष्टियाँ हैं, उनमें विरोध पड़ जाता है। दर्शन में कोई विरोध नहीं है लेकिन प्रकट दृष्टि में विरोध है। उदाहरणार्थ आप और हम श्रीनगर आए। हमारे और आपके लिए ही नहीं, सबके लिए श्रीनगर एक ही है। फिर हम दोनों श्रीनगर से लौटे। कोई हमसे पूछता है—आपने वहाँ क्या देखा? हमारा उत्तर में मैं जो कहूँगा वह उससे भिन्न होगा जो आप कहेंगे। हो सकता

१ प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो।

है, मुझे झील पसन्द हो और मै झील की बात करूँ और आप को पहाड पसन्द हो और आप पहाड की बात करे। हो सकता है कि मुझे दिन पसन्द हो और मैं सूरज की बात करूँ और आपको रात पसन्द हो और आप चाँद की बात करे। दर्शन मे श्रीनगर एक था, वहाँ रात और दिन जुडे थे, पहाड और झील जुडे थे, वहाँ सब इकट्ठा था। लेकिन जब हम बात करने गए तो हमने चुनाव किया, एक दृष्टि अपनायी। जैसे ही कोई बात बोली जायगी वैसे ही वह दृष्टि बन जायगी। दृष्टियो को दर्शन समझने की भूल होती रही है। इसलिए जैनो की एक दृष्टि है, दर्शन नही; हिन्दुओं की एक दृष्टि है, दर्शन नही। अगर हम दर्शन की बात करे तो हिन्दू, मुसलमान, जैन—सब खो जायँगे।

महावीर का जो अनुभव है वह तो समग्र है, लेकिन अभिव्यक्ति समग्र नही हो सकती। समग्र अकथ है, वर्णनातीत है। छोटे-से, सरल अनुभव भी समग्ररूपेण प्रकट नही हो सकते, फिर परमात्मा का अनुभव तो बहुत बडी बात है! आपने फूल को देखा। वह बहुत सुन्दर है। आपने उसकी अनुभूति का वर्णन करना चाहा। जब आपने उसके सौन्दर्य का वर्णन किया तो आपको लगा कि बात कुछ अधूरी रह गई। जो आपको अनुभव हुआ जीवन्त, जो आपका सम्पर्क हुआ फूल से, जो सौन्दर्य आप पर प्रकट हुआ, जो सुगन्ध आई और हवाओ ने फूल का जो नृत्य देखा—वह सब आपके लिए अकथ है और आप महसूस करते है कि आपकी अभिव्यक्ति कभी पूर्ण नही हो सकती। जब कोई असाधारण अनुभव को कहने जाता है तब उसकी अभिव्यक्ति मे इतनी कमी पड जाती है कि उसका हिसाब लगाना कठिन है। दुनिया मे जितने सम्प्रदाय है वे सब कही हुई बातो पर निर्भर है—जानी हुई बातो पर नही। जानी हुई बातो पर कभी सम्प्रदाय निर्मित हो जायँ, यह असम्भव है।

एक बार अपने शिष्यो की राय से फरीद कबीर के आश्रम मे रुके। कबीर के शिष्य भी चाहते थे कि दोनो ज्ञानियो मे बातचीत हो और वे उसका आनन्द ले। फरीद उस आश्रम मे दो दिन रुके। दोनो पास-पास बैठे लेकिन कोई बातचीत नही हुई। दोनो गले-गले मिले, हँसे और फिर फरीद की विदाई भी हो गई। कबीर के शिष्यो ने फरीद के जाते ही पूछा 'यह क्या! दो दिन कैसे चुप रहे आप?' कबीर ने कहा 'दो अज्ञानी बोल सकते है, एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी भी बोल सकते हैं, परन्तु दो ज्ञानियो के बोलने का उपाय क्या है? जो बोलता है वह नाहक अज्ञानी बन जाता है। उसे लगता है कि जो जाना गया है वह अपार है और बोला हुआ बहुत छोटा है। तो जो बोलता है वह नासमझ होता है।'

जहाँ ज्ञान है वहाँ भेद नही और जहाँ शब्द है वही भेद है। इसलिए महावीर ने जो जाना है वह तो समग्र है लेकिन उन्होने जो कहा है वह समग्र नही। वह

एकांत ही है, खंड है। इसीलिए जैन भी खंडित और एकांतिक है क्योंकि महावीर का जो बड़ा है वह उसे ही पकड़ सकने में समर्थ होता है। महावीर का समग्र उसकी पकड़ में नहीं आ सकता, इसलिए वह जैन होकर बैठ जायगा। वह अनेकांत का भी 'वाद' बना लेगा, महावीर के दर्शन को भी दृष्टि बना लेगा और उसे पकड़कर बैठ जायगा। इसलिए सभी अनुयायी खंड सत्य को पकड़नेवाले होते हैं। सभी सम्प्रदायों का यही आग्रह होता है कि मेरा खंड समग्र है। ऐसे दावे सारी मनुष्य जाति को खंड-खंड में बाँट देते हैं। मनुष्य, जो अखंड है, इसी तरह टुकड़ों और सम्प्रदायों में बँटकर टूट गया है। दृष्टि पर हमारा जोर होगा तो सम्प्रदाय होंगे, दर्शन पर जोर होगा तो सम्प्रदाय नहीं होंगे। मेरा सारा जोर दर्शन पर है, दृष्टि पर नहीं। महावीर का भी जोर दर्शन पर था। दृष्टि ही सबसे बड़ी बाधा है दर्शन में। दृष्टिमुक्त, दृष्टिशून्य होकर ही मैं पूर्ण को जान सकता हूँ।

२

यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि महावीर ने घर में ही रहकर साधना क्यों नहीं की? घर और बाहर हमें दो विरोधी चीजें मालूम पड़ती हैं। इस बात का हमें खयाल नहीं आता कि घर और बाहर, दोनों एक ही विराट के दो हिस्से हैं। जो सांस एक क्षण पहले बाहर थी वह एक क्षण बाद भीतर हो जाती है और पुनः बाहर। क्या बाहर है और क्या भीतर? हमारी जो दृष्टि है वह बड़ी सीमित है। घर से हमारा मतलब है जो अपना है और बाहर से हमारा मतलब है जो अपना नहीं है। लेकिन क्या ऐसा नहीं हो सकता कि किसी के लिए कुछ भी ऐसा न हो जो अपना नहीं है? अगर किसी व्यक्ति के लिए ऐसा हो जाय तो घर और बाहर का सवाल ही पैदा न हो। तब घर ही रह गया, बाहर कुछ भी न रहा या यह भी कह सकते हैं कि बाहर ही रह गया, घर कुछ भी न रहा। एक बात तय है कि जिस व्यक्ति को दिखाई पड़ना शुरू होगा—उसे बाहर और भीतर की जो भेद-रेखा है वह मिट जायगी। जहाँ बाहर है वहीं भीतर। घर के भीतर हवाएँ कुछ अलग हैं घर के बाहर से? यह जो आकाश घर में आ गया है वह कुछ अलग है उस आकाश से जो बाहर है? हाँ, इतना ही फर्क है कि दीवालों ने इसकी प्रगाढ़ता छीन ली है। दीवालों ने, सीमाओं ने हवाओं की स्वच्छता छीन ली है। जब स्वच्छ हवाओं के लिए कोई घर से बाहर जाता है तब हम नहीं कहते कि उसने घर छोड़ दिया है।

कोई पराया है। तभी यह सम्भव भी है कि पराये की पीर उसे अपनी मालूम होने लगे।

इस 'मेरे' की दुनिया मे हमने कई तरह की दीवाले उठाई हैं—पत्थर की भी और प्रेम की भी, राग की भी और द्वेष की भी। लोग इसी कारण पूछते है कि महावीर ने घर क्यो छोड दिया ? क्या घर मे साधना सम्भव न थी ? नही, घर ही सम्भव न था—घर ही असम्भावना थी। हमे एक ही वात दिखाई पडती है कि महावीर ने घर छोडा। इसका कारण यह है कि हम घर को पकड़े हुए लोग है। घर को छोडने की वात ही हमारे लिए असह्य है।

महावीर ने घर छोडा या कि घर मिट गया ? जैसे ही जाना वैसे ही घर मिट गया जैसे ही समझा वैसे ही मेरा और अपना कुछ भी न रहा। दस करोड मील जो सूरज है, वह भी हमारे प्राणो के स्पन्दन को वाँधे हुए है, वह भी हमारे घर का हिस्सा है। लेकिन कव हमने सूरज को अपना साथी समझा ? कव हमने माना कि सूरज भी मित्र है अपना ? लेकिन जिसे हम अपने परिवार का नही समझते उसके विना न तो हमारा परिवार होगा और न हम होगे। दस करोड मील दूर वैठा हुआ सूरज भी हमारे हृदय की धडकन का हिस्सा है। दूर के चाँद-तारे भी, दूर के ग्रह-उपग्रह भी किसी-न-किसी अर्थ मे हमारे जीवन के हिस्से है। यदि पत्नी ने आपका खाना वना दिया है तो वह आपके घर के भीतर है, लेकिन वह गाय नही जिसने आपके लिए दूध वना दिया है। घास को सीधे चरकर आप दूध वना नही सकते। वीच मे एक गाय चाहिए जो घास को उस स्थिति मे वदल दे, जहाँ से वह आपके योग्य हो जाय। लेकिन घास ने भी कुछ किया है। उसने भी मिट्टी को वदला है और उससे, जल और हवा से, अपना निर्माण किया है। घास आपके घर के भीतर है या वाहर ? क्योकि अगर घास न हो तो आपके होने की कोई सम्भावना नही है और घास अगर न हो तो मिट्टी को खाकर गाय भी दूध नहीं वना सकती। अगर हम आँख खोलकर देखना शुरू करे तो हमे पता चलेगा कि सारा जीवन एक परिवार है, जिसमे एक कडी न हो तो कुछ भी न होगा। सामने पडा हुआ पत्थर भी किसी-न-किसी अर्थ मे हमारे जीवन का हिस्सा है। जिसको जीवन की इस विराटता का अनुभव होगा वह कहेगा कि सभी मेरे हैं; सभी अपने है या कोई भी अपना नही है।

अत यह कहना अनुचित है कि महावीर ने घर छोडा। असल मे जव उन्हे वडे परिवार के दर्शन हुए तव छोटा परिवार खो गया। जिसको सागर मिल जाय वह वूँद को कैसे पकडे वैठा रहेगा ? ज्ञान विराट मे ले जाता है, अज्ञान क्षुद्र को बाँधकर पकडा देता है। अज्ञान क्षुद्र मे ही रुक जाता है, ज्ञान निरन्तर विराट् से विराट् होता जाता है। महावीर ने घर नही छोडा, उनके लिए घर को पकडना असम्भव हो गया। पहला घर छूट नही गया, सिर्फ वह वडे घर का हिस्सा हो गया। त्याग

इस नए अर्थ को ख्याल में रखें। त्याग का अर्थ कुछ छोड़ना नहीं, विराट को पाना है। लेकिन त्याग शब्द में खतरा है, कारण कि उसमें छोड़ने का भाव छिपा हुआ है। मेरी दृष्टि में महावीर या बुद्ध या कृष्ण-जैसे लोगों को त्यागी कहने में बुनियादी भूल है। इनसे बड़ा भोगी खोजना असम्भव है। त्याग का अर्थ है कुछ छोड़ना, भोग का अर्थ है कुछ पाना। महावीर से बड़ा कोई भोगी होना असम्भव है क्योंकि जगत में जो भी है सब उनका ही हो गया है—उनका भोग भी अनन्त हो गया है। इस विराट को भोगने की सामर्थ्य क्षुद्र चित्त में नहीं होती। क्षुद्र, क्षुद्र को ही भोग सकता है इसलिए वह क्षुद्र को पकड़ लेता है। घर छूटा नहीं है महावीर का, सिर्फ बड़ा हो गया है। नदी ने अपने को सागर में छोड़ दिया है। अब उसका कोई किनारा नहीं रहा है। जीवन की खोज मूलतः किनारों को छोड़ने की या बड़े किनारों को पाने की खोज है। जिसको असीम और अनन्त मिल जाता हो उससे यदि हम पूछें कि तुमने किनारे क्या छोड़े तो क्या उत्तर देगा वह? वह सिर्फ हंसेगा और कहेगा कि जाओ, अपने किनारों को छोड़कर देखो कि क्या पाया है मैंने।

मेरा सुझाव है कि त्याग की बात न हो और बल दिया जाय विराट भोग पर। मेरी अपनी समझ है कि चूँकि हमने अपने महापुरुषों को त्याग से बाँध लिया है इसलिए हम उनके निकट नहीं पहुँच पाते। इसका कारण यह है कि त्याग हमें—किसी को भी—अपील नहीं कर सकता। बहुत गहरे में त्याग की बात ही निषेध की बात है। छोड़ना आत्मघाती है। स्वस्थ मन भोगना चाहता है, रुग्ण छोड़ना चाहता है क्योंकि वह भोग नहीं सकता। इसलिए बीमार और आत्मघाती चित्त के लोग इकट्ठे हो जायेंगे धर्म के नाम पर। इसलिए तो लोग कहते हैं युवावस्था में धर्म की क्या जरूरत? यह तो वृद्धावस्था के लिए है। इसलिए मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजों में बूढ़े लोग दिखाई पड़ते हैं। मैं कहता हूँ भोगो और ज्यादा भोगो। पर विराट को भोगो, क्योंकि उसका भोग अनन्त है। क्षुद्र पर मत रुक जाना। विराट के सामने रुको मत। छोड़ो बूँद, जाओ सागर में। भोगो सागर को भोगो। सामान्य चित्त का भाव भोगने का है छोड़ने का नहीं। इसलिए सामान्य चित्त को अगर धर्म की ओर उठाना है तो उसे विराट भोग के लिए आमंत्रित करना चाहिए। अभी उल्टा हो गया है। जो लोग भोग त्याग करा रहे हैं वे त्याग की, निषेध की बात कह रहे हैं और कहा जा रहा है कि उसका भी इनकार करो। मैं यह कहना चाहता हूँ कि अगर हम विराट को भोगना चाहते हैं तो क्षुद्र का निषेध करना पड़ेगा। नदी को सागर होना है तो वह नदी नहीं रह जायगी। लेकिन इस बात पर जोर मत दो। [illegible] कि नदी [illegible] सागर [illegible]। इससे ज्यादा [illegible] नदी सागर [illegible] आकर्षित होगी। मेरा जोर इस बात पर है कि भोग, त्याग से बड़ा

यह भी सत्य है कि जिस प्रकार 'त्याग' शब्द ने अब तक गलती की, वैसे ही मेरा 'भोग' शब्द भी गलती कर सकता है। सभी शब्द गलती कर सकते है। अन्ततः शब्द गलती नही करते, लोग गलती करते है। लेकिन 'त्याग' शब्द व्यर्थ हो गया है। त्याग के विपरीत कोई शब्द नही है सिवा भोग के। लेकिन यह भी स्मरण रहे कि मेरा भोग त्याग के विपरीत नही है। मै कह रहा हूँ कि यदि दूसरी सीढी पर पैर रखना हो तो पहली सीढी छोडनी ही पडेगी। मेरा जोर दूसरी सीढी पर पैर रखने पर है, आगे बढने पर है—पिछली सीढी छोडने पर नही है। रुग्ण चित्त त्याग की भाषा को समझ लेता है, स्वस्थ चित्त नही समझ सकता। 'त्याग' शब्द पर जोर देने का परिणाम यह हुआ है कि जो स्वस्थ, जीवन्त और जीने के लिए लालायित है वह उस ओर नही गया है। मै यह कह रहा हूँ कि यह जो जीवन्त धारा है इसे आकृष्ट करो। और यह तभी आकृष्ट होगी जब विराट् जीवन का खयाल इसके सामने होगा और कहा जायगा कि कुछ छोडना नही है, पाना है। और छोडना होगा ही इसमे, क्योकि बिना छोडे कुछ भी पाया नही जा सकता। जीवन को जीना है, उसकी आत्यन्तिक उपलब्धियो मे, उसके पूर्ण रस मे, उसके पूर्ण सौन्दर्य मे। छोडना कभी भी चित्त के लिए आकर्षण नही बन सकता। पाना ही चित्त के लिए सहज आकर्षण है। मेरी दृष्टि यह है कि महावीर ने घर छोड़कर जिस आनन्द की अनुभूति की, वह खबर देती है कि उन्होने घर छोडा नही, उन्हे बडा घर मिल गया। जो मिल गया है वह चारो ओर से उन्हे आनन्द से भर रहा है। लेकिन महावीर के पीछे चलनेवाले साधुओ को देखे। ऐसा लगता है कि वे सड़क पर खडे है और उनके पास जो था वह खो गया है और जो मिलना था वह उन्हे मिला नही। तो एक अधूरे मे अटक गए है उनके प्राण। वे कष्ट मे जी रहे है मानो, एक परेशानी मे है। हम किसी को परेशानी मे जीते देखकर आदर क्यो देते है? असल मे इसमे भी बड़ी गहरी हिंसा का भाव है। परेशान आदमी को हम आदर देते है। परेशानी यदि स्वेच्छा से ली गई होती है तो हम उसे और भी आदर देते है। हमारा यह आदर भी रुग्ण है। असल मे हम दूसरो को दुख देना चाहते है। दूसरो की पीडा-परेशानी हमारे भीतर की किसी गहरी आकाक्षा को तृप्त करती है। जब कोई ज्यादा-से-ज्यादा सुख मे जाने लगता है तो हम दुख मे जाने लगते है। किसी का सुखी होना हमे दुखी बना देता है। मनुष्य जाति भीतर से रुग्ण है, इसकी वजह से त्यागियो और तपस्वियो को सम्मान मिलता है। अगर मनुष्य जाति स्वस्थ होगी तो सुखी लोगो को सम्मान मिलेगा। अब तक सिर्फ दुखी आदमियो को सम्मान दिया गया है। यह मनुष्य जाति के भीतर दूसरे को दुख देने की प्रबल हिंसा आकाक्षा का हिस्सा है।

यह न भूले कि काँटा चुभोनेवाला भी बीमार है और काँटा चुभोनेवाले को आदर देनेवाला भी खतरनाक है, रुग्ण है। इसी प्रकार फूल सूँघनेवाला भी स्वस्थ है और

फूल सूंघनेवाले का सम्मान देनेवाला भी स्वस्थ है। एक ऐसा समाज चाहिए जिसमें सुख का समादर हो, दुख का अनादर हो। लेकिन हुआ उलटा है और हमने उन लोगों को भी दुखी लोगों की श्रेणी में रख दिया है जो सबसे ज्यादा सुखी लोग थे। वस्तुतः महावीर-जैसे व्यक्ति को सर्वाधिक सुखी लोगों में गिना जाना चाहिए। लेकिन हमारी त्याग की दृष्टि ने उनके सारे सुख और आनन्द को क्षीण कर दिया। हमने यह कहना शुरू किया कि यह आदमी इतने आनन्द में इसलिए है कि इसने इतना इतना त्याग किया। लेकिन बात उलटी है। यह आदमी इतने आनन्द में है कि इससे इतना त्याग हो गया। त्याग हो जाना इतने आनन्द में होने का परिणाम है। मैं छोड़ने की भाषा के ही विरोध में हूँ। बड़ा घर पाया, छोटा घर छूट गया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वे छोटे घर के दुश्मन हो गए। इसका मतलब सिर्फ यह है कि अब छोटे घर में रहना असम्भव हो गया। जब बड़ा घर मिल गया तो छोटा घर उसका हिस्सा हो गया।

भोग भी भ्रान्ति ला सकता है। प्रत्येक चीज भ्रान्ति ला सकती है। फिर भी अगर चुनाव करना हो तो मैं कहूँगा कि भोग ही ठीक है क्योंकि वह जीवन के स्वस्थ, सहज और सरल होने का प्रतीक है। यह भी बड़े मजे की बात है कि जो आदमी भोग में चलेगा उससे त्याग धीरे धीरे अनिवार्य हो जायेंगे और वह जैसे-जैसे भोग में उतरेगा वैसे-वैसे बड़े भोग की सम्भावनाएँ प्रकट होंगी। लेकिन जो आदमी त्याग करने चलेगा, उससे पुराने भोग की सम्भावनाएँ छिन जायेंगी, नए भोग की सम्भावनाएँ प्रकट नहीं होंगी और वह आदमी सूखता चला जायेगा। तो मैं कह रहा हूँ कि भोग अन्ततः त्याग बन जाता है, लेकिन त्याग अन्ततः भोग नहीं बनता। एक वेश्या भी ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो सकती है, लेकिन जो जबरदस्ती ब्रह्मचर्य थोपकर साध्वी बन गई है उसका ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होना बहुत मुश्किल है। वेश्या अपने निरन्तर के अनुभव से ब्रह्मचर्य की दिशा में गतिमान होती है लेकिन थोपा हुआ ब्रह्मचर्य निरन्तर वासना की दिशा में गतिमान करता है।

महावीर के जब बाल बढ़ जाते थे तो वे उन्हें उखाड़ देते थे। इसका कारण यह था कि वे अपने पास उस्तरा भी नहीं रखते। जिस व्यक्ति ने सारे जीवन को अपना ही मान लिया है वह यह भी समझ गया है कि कल के लिए कौन बोझ ढोता फिरे, कल सुबह जो होगा, होगा। महावीर के लिए सरल यही था कि बाल उखाड़ लिए जायें। साल छः महीने में बढ़ जायें तो फिर उखाड़ दिए जायें और यात्रा चलती रहे। उस्तरा-जैसा छोटा सामान भी क्या ढोया जाय? इस बोझ को ढोने की जरूरत? सामान को पकड़कर रखने में सुरक्षित होने की कामना होती है जो महावीर में न थी। इसलिए वे नाराजगी अनुभव [illegible] करते हैं। सुरक्षा का कोई न्याय नहीं कुछ रखने का भाव [illegible] परन्तु [illegible] का एक ढंग है जो बाल

उखाडता है, जो बाल उखाडने मे रस लेता है। वह भी एक तरह से सताना है अपने को। जब महावीर मे दूसरे के शरीर को नग्न देखने का भाव न रहा तो वे खुद नग्न खडे हो गए। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी है जो अपने को नगा दिखाना चाहते है। यह पागलो का वर्ग है। महावीर के आस-पास ऐसे सन्यासी हो गए है जो यह चाहते है कि कोई उन्हे नगा देखे। जो आदमी सरलता की वजह से नग्न हुआ है, वह जीवन के और हिस्सो मे भी सरल होगा। मगर जिसे नग्नता मे रस मिलता हो उसके लिए यह भोग का ही हिस्सा है। उसके लिए बल इस बात पर नही कि कपडे छुटे, बल इस बात पर है कि नग्नता आई। जो आदमी सिर्फ इसलिए नग्न हुआ है कि दूसरे लोग उसको नगा देखे, वह बीमार है। वह जीवन के अन्य हिस्सो मे भी सरल नही होगा। दूसरे हिस्सो मे भी उसकी विक्षिप्तता प्रकट होगी। इस तरह का धार्मिक पागलपन ज्यादा खतरनाक चीज है क्योंकि उसमे धर्म भी जुडा हुआ है। धार्मिक पागल निरीह नही होता, दूसरो को निरीह करता है।

धर्म ने बहुत तरह की विक्षिप्तताओ को औचित्य दिया है। पर इस औचित्य को तोड देने की जरूरत है और यह साफ समझ मे आ जाना चाहिए कि यह तभी टूटेगा जब हम दुख को धर्म से अलग करेगे। इस दुखवाद के भीतर ही सारा औचित्य छिप जाता है। मेरी दृष्टि मे धर्म सुख की खोज है, परम सुख की खोज। और धार्मिक व्यक्ति वह है जो स्वय भी आनन्द की ओर निरन्तर गति करता है और इसके लिए चेष्टारत होता है कि चारो ओर निरन्तर आनन्द बढे। न तो वह स्वय को दुख देता है और न दूसरो को दुख देने की आकाक्षा करता है। उसके मन मे दुख के प्रति न कोई आदर है न कोई सम्मान। ऐसे व्यक्ति को अगर हम धार्मिक कहे तो धर्म परम आनन्द की दिशा बनता है। परन्तु अब तक वह परम दुख की दिशा बना हुआ है।

३

कहा जाता है कि महावीर नासाग्र दृष्टि से ध्यानावस्थित हुए। नासाग्र दृष्टि का मतलब है—आँख आधी बद और आधी खुली। अगर नाक के अग्र भाग को आप आँख से देखेगे तो आधी आँख बद हो जायगी, आधी खुली रहेगी। साधारणत हम चाहे तो नीद मे अपनी आँखो को बद रखते है या जागरण मे खुली। नासाग्र दृष्टि होती ही नही। पूरी बद आँख निद्रा मे ले जाती है और पूरी खुली आँख जागरण लाती है। ध्यान दोनो से अलग अवस्था है। वह न तो निद्रा है और न जागरण। वह निद्रा-जैसा शिथिल है और जागरण-जैसा चेतन। न तो वह नीद है और न जागरण। वह तीसरी अवस्था है। उसमे नीद और जागरण, दोनो के तत्त्व है। नीद मे जितनी शिथिलता होती है उतनी ही ध्यान मे होनी चाहिए और

जागरण में जितना चैतन्य होता है उतना ध्यान में होना चाहिए। तो ध्यान एक मध्य अवस्था है और नासाग्र दृष्टि आंख के पीछे के स्नायुओं को मध्य अवस्था में छोड़ देती है।

बन्द आंख में सब मिट जाता है, केवल व्यक्ति रह जाता है, खुली आंख में सब सत्य हो जाता है और व्यक्ति मिट जाता है। आधी बंद और आधी खुली आंख का यह भी अर्थ है कि न तो हम सबसे टूटे हुए हैं और न सबसे जुड़े हुए हैं। न तो यह बात सच है कि सब सच है और हम झूठे हैं और न यही कि सब झूठे हैं और हम सच हैं। महावीर का सारा जोर सम पर है निरंतर। 'सम्यक्' शब्द उनका प्रयोग में सर्वाधिक आनेवाला शब्द है। प्रत्येक चीज में सम, प्रत्येक बात में मध्य, प्रत्येक बात में वहां खड़ा हो जाना जहां अतियां न हों। आंख के मामले में भी अति न हो। न तो आंख पूरी खुली हो और न पूरी बंद। संसार भी सत्य है आधा और हम भी सत्य हैं आधे। जगत माया है यह बंद आंख का अनुभव है। अगर कोई पूरी खुली आंख के अनुभव से जिए तो इन्द्रियों के रस ही शेष रह जाते हैं, आत्मा विलीन हो जाती है, जगत सत्य होता है, आत्मा असत्य हो जाती है। महावीर कहते हैं 'जगत भी सत्य है और आत्मा भी सत्य है।' न तो जगत असत्य है और न आत्मा। पदार्थ भी सत्य है और परमात्मा भी। दोनों एक बड़े सत्य के हिस्से हैं। दोनों सत्य हैं और प्रतीक है वह नासाग्र दृष्टि—यानी महावीर कभी पूरी आंख बंद करके ध्यान नहीं करेंगे और न अपनी आंखों को कभी पूरी खोलकर ध्यान करेंगे। आधी आंख खुली और आधी बन्द ताकि बाहर और भीतर एक सम्बन्ध बना रहे। जागे भी रहें और न जागे भी। बाहर और भीतर एक प्रवाह होता रहे चेतना का। चार्वाक जैसे लोगों ने ध्यान नहीं किया, बस खुली आंख रखा। साधारणतः हम चार्वाक को भोगी कहेंगे। मैं चार्वाक को त्यागी कहूंगा। यद्यपि वह घी पर जी रहा है फिर भी बहुत बाहर जी रहा है। खाने पीने तक उसका योग है। अन्तर्योग की ओर उसकी दृष्टि नहीं है। महावीर प्रत्येक चीज में एक सन्तुलन और समता का ध्यान रखते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि शंकर और चार्वाक, दोनों की दृष्टि से भिन्न है।

साधारणतः जागृति के दो ही रूप हो सकते हैं : बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखता जीवन को व्यथता में उलझा देती है और भीतर से तोड़ देती है। अन्तर्मुखता जीवन से तोड़ देती है, भीतर डुबा देती है—सब तरफ से दरवाजे बन्द कर लेती है। पहली बात उतनी ही अधूरी है जितनी दूसरी बात। असल में एक तीसरी स्थिति भी है जिस पर महावीर का जोर है। इस स्थिति में न तो हम भीतर देखते हैं और न बाहर। सिर्फ देखना रह जाता है सिर्फ प्रकाश जिसका कोई कारण नहीं है। न तो हम अन्तर्मुखी होते हैं और न बहिर्मुखी। इस स्थिति में व्यक्ति सिर्फ होता है। बस, यह होना मात्र ही जागृति है—पूर्ण जागृति। तो महावीर कहते हैं कि जो पूरी

तरह जाग गया वही साधु है, जो सोया है वही असाधु है। असाधु दो तरह के हो सकते हैं : एक जो बाहर की ओर सोया हुआ है और दूसरा जो भीतर की ओर सोया हुआ है। साधु एक ही तरह का हो सकता है जो सोया हुआ ही नहीं है, जिसमे मूर्छा नामकी चीज नही।

एकागता और ध्यान के बुनियादी फर्क को भी खयाल मे ले लेना चाहिए। ध्यान का किसी एक बिन्दु पर एकाग्र हो जाना ही एकाग्रता है। एकाग्रता का बिन्दु बदलता नही, चंचलता का बिन्दु बदलता जाता है। एकाग्रता मे एक बिन्दु रह जाता है, शेष सब सो जाता है। ध्यान मे ऐसा कोई बिन्दु ही नही होता जिसके प्रति चित्त सोया हुआ है। ध्यान एकाग्रता नहीं, बस जागरण है। किसी एक चीज के प्रति जागरण नही, वरन् समस्त के प्रति। जागरण का यही अर्थ है। जब मेरी ओर एकाग्रता होगी तब पक्षियो का कलरव, कुत्ते का भौंकना आदि सुनाई नहीं पड़ेगा। जब जागरण होगा तब एक साथ घटनेवाली सभी घटनाओं का पता चलेगा। अभी भी एक साथ हजारो घटनाएँ घट रही है। इन सबके प्रति एक साथ जागा हुआ होने को महावीर अमूर्छा कहेगे, जागरण कहेगे। जब चेतना के दर्पण पर विचार प्रतिफलित होने लगें, साँस की धड़कन सुनाई पडने लगे, आँख के पलकों का हिलना महसूस होने लगे तभी पूर्ण स्वभाव की उपलब्धि होती है। यह पूर्ण स्वभाव सदा से हमारे पास है। हम उसका उपयोग ऐसा कर रहे है कि वह कभी पूर्ण नही हो पाता। उपयोग न करने के कारण शेष के प्रति मूर्छा है और कुछ ही के प्रति जागरूकता। इसलिए यह सवाल पैदा हो जाता है कि मूर्छा कहाँ से आई? मूर्छा कही से भी नही आई। यह हमारे द्वारा निर्मित है।

द्वादश अध्याय

उपसंहार

न तस्स जाइ व कुलं व ताणं,
णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ॥[1]

—सू० श्रु० १, अ० १३, गा० ११

१

महावीर के समय में विचार की लीक छूट गई थी। आचार्य थे, साधु थे लेकिन धारा मृत हो चुकी थी। यह मृत धारा कितने समय तक चल सकती थी? महावीर ने नई विचार दृष्टि को जन्म दिया, नई हवा फैली, नया सूरज निकला। लेकिन पुरानी लीक पर चलनेवाले लोगों ने नए को स्वीकार नहीं किया। वे अपनी लीक पर चलते गए। ऐसा भी हुआ कि महावीर ने जो कहा था, वह भी चला और जो पिछली परम्परा थी वह भी चलती रही। परन्तु परम्परा मात्र होने से कोई जीवित नहीं होता। बल्कि बात उल्टी है। जब कोई चीज परम्परा बनती है तब वह मर गई होती है। आचार्यों का होना यह सिद्ध नहीं करता कि वे किसी जीवित परम्परा के ही वंशधर हों। सच तो यह है कि उनका होना इस बात की खबर है कि अब कोई अनुभवी व्यक्ति जीवित न रहा। इसलिए जो जाना गया था उसको जाननेवाले लोग गुरु का काम निबाहने लगते हैं। साधु भी हैं लेकिन न तो साधुओं से कुछ होता है और न शिक्षकों से, जब तक कि जीवित अनुभव को लिये हुए कोई व्यक्ति न हो।

महावीर के मार्ग दर्शन में इस बात से कोई अवरोध नहीं पड़ता कि पिछले तीर्थंकर के लोग शेष थे। उनमें जो भी समझदार साधक जीवित थे वे महावीर के साथ आ गए। जो जिद्दी और अंधे थे, आग्रह रखते थे वे अपनी लीक को पकड़ कर चलते गए। फिर ऐसे व्यक्तियों का जन्म पिछले व्यक्तियों से नहीं जोड़ा जा सकता। जब भी जगत में जरूरत होती है प्राण पुकार करते हैं, तब चाहे न-चाहे उपलब्ध चेतना करुणावश वापस लौट आती है। एक वक्त था कि लोग ईश्वर का इन्कार करने का भी कष्ट करते थे। अब लोग ऐसे हैं कि इन्कार करने का भी कष्ट

१ मनुष्य को जाति अथवा कुल भव सागर से तार नहीं सकते। केवल ज्ञान और सदाचार ही उसे तार सकते हैं।

उठाना नही चाहते । महावीर के वक्त पुरानी परम्परा जरूर थी, पुराने गुरु थे, पर वे मृत थे । उनमे कोई जीवन न था । इसलिए महावीर के आविर्भाव पर कोई असगति की बात नही कही जा सकती ।

महावीर की मौलिकता के सम्बन्ध मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सत्य न तो नया है और न पुराना । जो सदा है वह न तो कभी पुराना होगा और न कभी नया । जो नया होता है, वही कल पुराना हो जाता है । जो आज पुराना दीखता है, वही कल नया था । असल मे सत्य के सम्बन्ध मे ये विशेषण एकदम व्यर्थ हैं । नया वह होता है जो जनमता है, पुराना वह होता है जो बूढा होता है । सत्य न तो जनमता है और न बूढा होता है, न मरता है । बादल नए-पुराने हो सकते हैं, लेकिन आकाश न नया है न पुराना । सत्य भी नया और पुराना नहीं है । इसलिए जब भी कोई दावा करता है कि सत्य प्राचीन है या नया, तब भी वह मूर्खतापूर्ण दावा करता है । सत्य एक निरन्तरता है, शाश्वतता है । महावीर और बुद्ध जो कहते हैं वह शायद वही है जो निरन्तर मौजूद है । लेकिन उससे हमारा सम्बन्ध निरन्तर छूट-छूट जाता है । इसलिए वे चिल्ला-चिल्लाकर, पुकार-पुकार कर उस ओर हमारी आँखे उठवाते हैं । आँखे उठ भी नही पाती कि वे फिर वापस लौट आती हैं । इस अर्थ मे जब भी कोई व्यक्ति सत्य को उपलब्ध होता है तो, कहना चाहिए, नया ही उपलब्ध होता है । दूसरे का सत्य वासी हो जाता है और हमारे लिए कभी किसी काम का नही होता । इस अर्थ मे भी सत्य को नया कहा जा सकता है । वस्तुत हमारे लिए सत्य तभी काम का होगा जब वह फिर नया होगा । सवाल यह नही है कि महावीर ने नया क्या दिया ? सवाल यह है कि उनका जीना बिलकुल नया था या नही ? इसमे शक नही कि महावीर का जीना सामान्य जन के जीने से बिलकुल भिन्न था, बिलकुल नया-नया इस अर्थ मे नही कि वैसा पहले कभी कोई नही जिया होगा । कोई भी जिया हो, करोड़ो लोग जिए हो, तो भी फर्क नही पड़ता । जब मैं किसी को प्रेम करता हूँ तब वह प्रेम नया ही होता है । मुझसे पहले करोडो लोगो ने प्रेम किया है, लेकिन कोई भी प्रेमी यह मानने को राजी नही होगा कि मैं जो प्रेम कर रहा हूँ वह वासी या पुराना है । दूसरे का प्रेम किसी दूसरे के काम का नही होता । तो महावीर बिलकुल अपने ही सत्य को उपलब्ध होते हैं । वह बहुतो को उपलब्ध हुआ होगा और होता रहेगा, फिर, भी उस उपलब्धि पर किसी व्यक्ति की कोई सील-मोहर नही लगेगी ।

महावीर ने अहिंसा को जो अभिव्यक्ति दी है वह एक दम अनूठी और नई है । शायद वैसी किसी ने भी पहले नही दी थी । अभिव्यक्ति नई हो सकती है क्योकि वह पुरानी भी पड जाती है । अब महावीर की अभिव्यक्ति पुरानी पड गई है । आज

अगर मैं कुछ कहूँगा तो वह कल पुराना पड़ जायगा। सत्य न नया होता है और न पुराना पड़ता है। सारी किताबों में भी लिखा हो तब भी सत्य पुराना न होगा। जब व्यक्ति को उसकी उपलब्धि होगी तब वह नए की ही उपलब्धि होगी। सत्य सदा से है लेकिन जब व्यक्ति सत्य से सम्बन्धित होता है तब सत्य उसके लिए नया हो जाता है। और प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति जिसे वह अभिव्यक्त करता है, नई होती है क्योंकि वैसी अभिव्यक्ति कोई दूसरा नहीं दे सकता। इसका कारण यह है कि वैसा कोई दूसरा व्यक्ति न तो हुआ है, न है और न हो सकता है। मेरे पैदा होने में या आपके जन्म में कितना बड़ा जगत सम्बन्धित है, इसका हमें कोई खयाल नहीं है। मेरे पैदा होने में आज तक विश्व की जो भी स्थिति थी, वह सब की सब जिम्मेदार है और मुझे फिर से पैदा करना हो तो विश्व की ठीक वही स्थिति पूरी-पूरी पुनरुक्त हो, तभी मैं पैदा हो सकता हूँ। मेरे पिता चाहिए, मेरी मां चाहिए। वे भी उन्हीं पिताओं और माताओं से पैदा होने चाहिए जिनसे वे पैदा हुए थे। इस तरह हम पीछे लौटते चले जाएँ तो देखेंगे कि विश्व की पूरी स्थिति एक छोटे से व्यक्ति के पैदा होने में संयुक्त है। अगर इसमें एक इंच भी इधर उधर हो जाय तो मैं पैदा नहीं हो सकूँगा। जो भी पैदा होगा वह दूसरा होगा। जगत का पूरा का पूरा अतीत फिर से पुनरुक्त हो तभी मैं पैदा हो सकता हूँ। यह कैसे सम्भव है? तो निश्चय ही किसी व्यक्ति को दुबारा पैदा नहीं किया जा सकता। इसलिए किसी व्यक्ति के अनुभव को, उसकी अभिव्यक्ति को भी दुबारा पैदा नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में सत्य का अनुभव व्यक्तिगत है।

२

मैं मत मतान्तरों का तनिक भी पक्षपाती नहीं हूँ। न कोई जैन है, न बौद्ध, न कोई हिन्दू है और न मुसलमान। संसार में लोग चाहे धार्मिक हैं चाहे अधार्मिक। जो धार्मिक है वह बुद्ध, महावीर, कृष्ण और क्राइस्ट हो सकता है। लेकिन वह हिन्दू, जैन, मुसलमान या ईसाई नहीं हो सकता। अधार्मिक आदमियों के सम्प्रदाय हैं। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि धर्म का कोई सम्प्रदाय नहीं है, सब सम्प्रदाय अधर्म के हैं। अधार्मिक आदमी महावीर होने की हिम्मत नहीं जुटा पाता, बुद्ध नहीं हो सकता, कृष्ण नहीं हो सकता। चूँकि वह धार्मिक होने का मजा लेना चाहता है इसलिए वह एक सस्ता रास्ता निकाल लेता है। वह कहता है कि महावीर तो हम हो नहीं सकते लेकिन जैन तो हो सकते हैं। लेकिन उसे पता नहीं कि जिन हुए बिना कोई जैन कैसे हो सकता है? जिसने जीता नहीं सत्य को उसे जैन कैसे कहा जा सकता है? महावीर इसलिए जिन हैं कि उन्होंने सत्य को जीता है। जैन इसलिए कि वह महावीर को मानता है।

मेरा तो कोई पक्ष नही, कोई मत नही। महावीर से मुझे प्रेम है इसलिए मैं महावीर की बात करता हूँ, बुद्ध से मुझे प्रेम है, मैं बुद्ध की वात करता हूँ, कृष्ण से मुझे प्रेम है, मैं कृष्ण की वात करता हूँ। मैं किसी का अनुयायी नही हूँ। इस वात का आग्रह मन मे जरूर है कि इन सवको समझा जाना चाहिए। इनके पीछे चलने मे कोई कही पहुँच नही सकता, लेकिन इन्हें अगर कोई पूरी तरह से समझ ले तो स्वयं को समझने के लिए वडे गहरे आधार उपलब्ध हो जाते है।

दूसरी वात यह है कि मानव-धर्म की स्थापना नही की जा सकती। दुनिया मे कभी एक धर्म स्थापित नही हो सकता। मनुष्य एक दूसरे से इतना भिन्न है कि कभी एक धर्म का होना असम्भव है। मेरी दृष्टि यह है कि मानव-धर्म एक हो, यह वात ही बेमानी है। धार्मिकता हो जीवन मे। धार्मिकता के लिए किसी सगठन की जरूरत नही। मैं इस चेष्टा मे नही हूँ कि एक मानव-धर्म स्थापित हो, मैं इस चेष्टा मे हूँ कि धर्मो के नाम से सम्प्रदाय विदा हो जायँ। वस, वे जगह खाली कर दे। मेरी दृष्टि यह है कि अगर सम्प्रदाय मिट जायँ तो अधार्मिक आदमी वहुत कम रह जायँगे। यदि सभी धर्मो के सार को इकट्ठा कर लिया जाय तो इससे कोई सम्प्रदाय खडित न होगा। मानव-धर्म स्थापित करने की चेष्टा मे एक और धर्म की स्थापना हो जायगी, एक और सम्प्रदाय वन जायगा। मेरी सलाह है कि सम्प्रदाय-मात्र का विरोध किया जाय और धार्मिकता की स्थापना की जाय—धर्म की नही, धार्मिकता की।

तीसरी वात—महावीर और वुद्ध-जैसे व्यक्तियो ने भगवान् को जो इनकार किया है, उस इनकार मे भगवत्ता का इनकार नही है। ईश्वर को इनकार किया है लेकिन, ईश्वरता को पूर्ण स्वीकृति दी है। अगर वे ईश्वर को मानते तो इनसान की स्वतन्त्रता पूरी नही हो पाती और अगर उसके रहते इनसान को स्वतन्त्र मानते तो यह स्वतन्त्रता वेमानी होती। यानी, अगर ईश्वर है और हम उसे स्रष्टा, नियम आदि नामो से पुकारते है और साथ ही यह भी कहते है कि आदमी पूर्ण स्वतन्त्र है तो, महावीर कहते है, इन दोनो वातो मे मेल नही है। ईश्वर की मोजूदगी ही इनसान की स्वतन्त्रता मे वाधा वनेगी। नियम उसकी परतन्त्रता के जनक होगे। इसलिए महावीर परमात्मा को इनकार करते है ताकि परतन्त्रता का कोई उपाय न रह जाय। इसका यह मतलव नही कि वे परमात्मा को नही मानते। इसका मतलव है कि वे परमात्मा के व्यक्तित्व को इनकार करते है और परमात्मा को सवमे व्याप्त मानते है, नियामक नही। परमात्मा के ऊपर वे किसी को नही विठाते। यदि हम यह मान ले कि परतन्त्रता परमात्मा की इच्छा है, जैसा कि साधारण आस्तिक मानता है, तो मनुष्य विलकुल परतन्त्र हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि हम अपनी इच्छा से इस जगत् मे नही है या कि ईश्वर की इच्छा से ही हम यहाँ हैं तो जगत् कठपुतलियो का खेल हो जाता है। जहाँ परम स्वतन्त्रता है वहाँ प्रत्येक चीज मे अर्थ है। इसी परम स्वतं-

नता की घोषणा के लिए महावीर को कहना पडा कि ईश्वर नही है। साधारण धास्तिक की धारणा है कि परमात्मा नियामक है, नियन्ता है, स्रष्टा है। यदि ऐसी बात है तो मनुष्य की स्वतन्त्रता खत्म हो गई। मगर गहरे आस्तिक की दृष्टि म ईश्वर स्वतन्त्रता है। कण-कण म व्याप्त जो परम स्वतन्त्रता है, उसके समग्र का नाम ही परमात्मा है। अगर हम इस समझ पाएँ तो फिर पापी को दोष देने का कोई कारण नही रह जाता। इतना ही कहना काफी होता है कि तूने स्वतन्त्रता को जिस ढग से चुना है वह दुख लायगा। इसस ज्यादा कुछ भी कहना अयुक्त है।

मैं कहता हूँ कि स्वतन्त्रता जगत् की मौलिक स्थिति है। दी गइ स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता नही होती। किसी ने भी स्वतन्त्रता नही दी और न किसी न स्वतन्त्रता ली। स्वतन्त्रता लेनी तभी पडती है जब कि परतन्त्रता हो। अगर स्वतन्त्रता है तो उसे न कोई देता है, न कोइ लेता है। वह जगत का स्वरूप है, वह वस्तुस्थिति है, वह स्वभाव है। कोइ उसको दुख के लिए उपयोग करता है कर कोई सुख के लिए उपयोग करता है कर। लोग मुझस निरन्तर पूछते हैं कि आप लोगो को इतना समझाते हैं, इससे क्या हुआ? तो म कहता हूँ कि यह प्रश्न ठीक नही है। मेरा काम था चिल्लाना। लोगो ने मुझसे कहा भी न था कि चिल्लाओ। यह मेरी मौज थी, यह मेरा चुनाव था। यह उनकी मौज थी कि उन्होने सुना या उनकी मौज थी कि नही सुना। यह उनकी मौज थी कि उन्होंने सुना और अनसुना कर दिया। इस बात म मैं भी स्वतन्त्र था और व भी स्वतन्त्र थे। हम सब अपनी-अपनी स्वतन्त्रता म जी रह हैं, इसलिए बडी मौज है। और जीवन बडा रसमय है। कही कोई रोकनेवाला नही है वहा कोई मालिक नही है। हम ही मालिक ह हम ही निर्णायक। इतना ही समझ मे आ जाय तो फिर समझने का क्या दोष रह जाता है?

मेरी दृष्टि म प्रारब्ध भी जीवन का नियामक नही है। अपने किए हुए निणय ही प्रारब्ध बन जात ह। आज तुम जो करोग, वही निणय बनगा और फिर एक तरह का प्रारब्ध निर्मित होगा उसस। बहुत गौर स देखें तो मोक्ष भी एक प्रारब्ध है। जो आदमी स्वतन्त्र होने का निणय करता है अन्त म वही मुक्त हो जाता है। ससार भी एक प्रारब्ध है। मनुष्य द्वारा किए गए निणय के फल को ही प्रारब्ध कहते ह।

सुख के खोजी को महावीर न स्वग का खोजी कहा है। आनन्द का खोजी, उनकी दृष्टि म, मोक्ष का खोजी है। दुख का खोजी नरक का खोजी है सुख का खोजी स्वग का खोजी। स्वग मोक्ष नही है। महावीर के पहले बहुत व्यापक धारणा यहा थी कि स्वग परम उपलब्धि है। सब सुख मिल गया तो परम उपलब्धि हो गई। लेकिन मनोवैज्ञानिक रीति से समझना चाहिए कि जहाँ सुख होगा, वहाँ दुख अनिवाय होगा। जहा प्रकाश होगा वहाँ अधकार अनिवाय है। जब हम दुख मे होते ह तब सुख नीचे छिपा होता है और प्रतिपल आशा दिये जाता है कि अभी प्रकट होता हूँ। लेकिन दोनो ही चीजें

एक है और अगर समझ मे आ जाय तो सुख का भ्रम टूट जाता है। सुख का भ्रम टूटे तो दुख का साक्षात् होता है। सुख का भ्रम बना रहे तो दुख का साक्षात् नही होगा क्योकि इस भ्रम के कारण हम दुख को सहनीय बना लेते है, हम उसे झेल लेते है। सुख का भ्रम टूट जाय तो भागोगे कहाँ, यह कभी सोचा है? जब सब ओर दुख के काँटे हमे छेद लेते है और भविष्य की कोई आशा नही रह जाती तब हम स्वय मे लौटते है। जिस दिन दुख का पूर्ण साक्षात्कार होता है, उसी दिन वापिसी शुरू हो जाती है, व्यक्ति लौटने लगता है। दुख से भागोगे तो सुख मे पहुँच जाओगे, दुख मे जागोगे तो आनन्द मे पहुँच जाओगे। दुख से भागे नही, खडे हो गए, दुख को पूरा देखा और उसका साक्षात् किया तो रूपान्तरण शुरू हुआ। दुख का साक्षात् आनन्द की यात्रा बन जाता है।

आम तौर से हम सोचते है कि हम इसलिए दुखी है कि हमारी इच्छाएँ पूरी नही होती, जब कि सच्चाई यह है कि हम जो इच्छा करते है वह दुख का बीज है। जब हमारी इच्छा बिना पूरा हुए इतना दुख दे जाती है तो अगर वह पूरी हो जाय तो कितना दुख दे जायगी, बहुत मुश्किल है कहना। पाने का, जीतने का, सफल होने का भी जो सुख है वह सब चला जाता है। प्रेयसी दूर से जैसी लगती है, वैसी पास से नही। दूर के ढोल सुहावने होते है। असल मे दूरी एक सुहावनापन पैदा करती ही है। जिसे हम नही देख पाते, उसकी जगह हम अपना सपना ही रख देते है। हम धनी होना चाहते है और इसके लिए प्रतियोगिता करते है, हममे प्रतिस्पर्धा का भाव होता है। जिस दिन सारी पृथ्वी का धन मिल जाता है, उस दिन प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है, धन ही दुख का कारण बन जाता है। स्मरण रहे कि सुख प्रतियोगिता मे था न कि धन मे। अगर सारी पृथ्वी का धन एक व्यक्ति को मिल जाय तो वह व्यक्ति आत्महत्या कर लेगा। अगर सारी पृथ्वी के लोगो की इच्छाएँ पूरी कर दी जायँ तो उसी वक्त पृथ्वी समाप्त हो जाय। इच्छाओ की पूर्ति सुख नही लाती बल्कि दुख का कारण बनती है। यदि उनकी अपूर्ति इतना दुख लाती है तो उनकी पूर्ति कितना दुख लायगी! आखिर यह दिखाई पड़ जाय तो तुम सुख की आशा को छोड दोगे। सुख की आशा एक दुराशा है, असम्भावना है। जिस व्यक्ति की आशा छूट जाती है, वह दुख के साथ सीधा खडा हो जाता है। इस साक्षात्कार मे जो रहस्यपूर्ण घटना घटती है वह यह है कि दुख तिरोहित हो जाता है। मै अपने मे लौट आता हूँ, क्योकि सुख पाने की चेष्टा छोड देता हूँ।

३

इतिहास की दृष्टि मे महावीर अतीत की घटना भले ही हो, साधक के लिए वे भविष्य की घटना है। आनेवाले किसी भी क्षण मे साधक वहाँ पहुँच सकता है जहाँ

महावीर पहुँचे थे। और जब तक वह उस जगह नहीं पहुँच जाता तब तक महावीर को समझ पाना मुश्किल है। उस अनुभूति को वह कैसे समझ सकता है जो उसे कभी नहीं हुई? अंधा कैसे समझेगा प्रकाश के सम्बन्ध में? महापुरुष को समझना अत्यन्त कठिन है बिना स्वयं महापुरुष हुए। महावीर को समझना हो तो सीधे ही महावीर को समझ लेना सम्भव नहीं है। महावीर को समझना हो तो स्वयं को समझना और रूपान्तरित करना ज्यादा जरूरी है। शब्द, सिद्धान्त और परम्परा से समझने की कोशिश करते हैं तो भूल हो जाती है। स्वयं के भीतर उतरते ही हम उस जगह पहुँचेंगे जहाँ कभी महावीर पहुँचे थे। तभी हम उन्हें समझ पायेंगे।

महावीर के सम्बन्ध में मैंने जो बातें कहीं, उनका शास्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए हो सकता है कि बहुतों को वे कठिन मालूम पड़ें, स्वीकार योग्य भी न हों। शास्त्रीय बुद्धिवालों को वे अजीब दीखें और वे पूछें कि शास्त्रों में ये बातें कहाँ हैं? उनसे मैं कह देना चाहता हूँ कि ये बातें शास्त्रों में हों या न हों, स्वयं में खोजनेवाले इन्हें अवश्य पा लेंगे और स्वयं से बड़ा न कोई शास्त्र है और न कोई दूसरी आप्तता। मेरा कोई शास्त्रीय अधिकार नहीं है। मैं शास्त्रों में विश्वास नहीं करता, बल्कि उन सभी बातों को संदिग्ध इस कारण मानता हूँ कि वे शास्त्रों में लिखी हुई हैं। मैंने महावीर और अपने बीच शास्त्रों को नहीं रखा है और महावीर को सीधा देखने की कोशिश की है। सीधा हम उसे ही देख सकते हैं जिससे हमारा प्रेम हो। प्रेम प्रत्येक चीज को वैसे ही खोल देता है जैसे सूरज। हम सब ज्ञान के मार्ग से ही जानते हैं जीते हैं इसलिए जान नहीं पाते। महावीर को प्रेम करेंगे तो पहचान जायेंगे और एक मजे की बात तो यह है कि जो महावीर को प्रेम करेगा वह कृष्ण, क्राइस्ट या मुहम्मद को प्रेम करने से बच नहीं सकता। अगर महावीर से प्रेम होगा तो उसे महावीर में जो दिखाई पड़ेगा, वही बहुत गहरे में मुहम्मद, कृष्ण और क्राइस्ट में भी दृष्टिगत होगा। यह असम्भव है कि कोई व्यक्ति महावीर से प्रेम करे और बुद्ध से नहीं। प्रेम न किसी पर ठहरता है न किसी को रोकता है न किसी को ठहराता है। प्रेम का न कोई मत है न कोई सौदा। प्रेम तो परम मुक्ति है। प्रेम को आप इकट्ठा नहीं कर सकते, ज्ञान को कर सकते हैं। प्रेम तो बाँटना ही पड़ता है। प्रेम को इकट्ठा करनेवाला प्रेमी नहीं हो सकता। जितना बाँटो, उतना प्रेम।

अगर हमारा चित्त पूर्वग्रहों से भरा है तो हम प्रेमपूर्ण नहीं हो सकते। महावीर जैसे व्यक्ति किसी धारणा पर कसे नहीं जा सकते। असल में अद्भुत व्यक्ति का अर्थ ही यह है कि उस पर पुरानी कसौटियाँ काम नहीं करतीं। प्रतिभाशाली व्यक्ति न केवल खुद को निर्मित करता है बल्कि खुद को मापने की कसौटियाँ भी निर्मित

करता है। इसलिए सभी पूर्वग्रहो से मुक्त होकर मैने महावीर के सम्बन्ध मे चर्चा की। किन्ही सूचनाओ, धारणाओ अथवा मापदडो के आधार पर उन्हे नही कसा। प्रेम के दर्पण मे वे जैसे दीख पडे वैसी बात मैने कही। अपनी बातो मे मैं अनिवार्य रूप से उतना ही मौजूद हूँ जितना महावीर मौजूद है। उनमे हम दोनो है। यहाँ मैं तो उस महावीर की बात कर रहा हूँ जिसमे मै भी सम्मिलित हूँ, जो मेरे लिए एक आत्मगत अनुभूति बन गया है।



द्वितीय खड

प्रथम अध्याय

अहिंसा

अदुवा अदिन्नादाणं ।[1]

—आ० श्रु० १, अ० १, उ० ३

अहिंसा और हिंसा में बुनियादी भेद है। जहाँ अहिंसा हमारा स्वभाव है, हिंसा अर्जित गुण है, पायी गयी है। हिंसक बनने के लिए हमें कुछ करना पड़ा। हिंसा हमारी उपलब्धि है, हमने उसे खोजा है, उसका निर्माण किया है। अहिंसा हमारी उपलब्धि नहीं हो सकती। आदमी स्वभाव से हिंसक नहीं है, वह हिंसक हो नहीं सकता। हिंसा निरन्तर कहीं भी नहीं ले जाती और कोई भी व्यक्ति दुःख की कामना नहीं रखता। हिंसा ऐक्सिडेंट' है, संयोगिक है—यह हमारे जीवन की धारा नहीं है। इसलिए जो हिंसक है वह भी चौबीस घंटे हिंसक नहीं हो सकता, अहिंसक चौबीस घंटे अहिंसक हो सकता है। हिंसक को किसी मतलब से भीतर अहिंसक होना ही पड़ता है। असल में अगर वह हिंसा करता है तो इसलिए करता है कि किन्हीं के साथ वह अहिंसक हो सके। चोर का लक्ष्य भी अचोरी है और हिंसक का लक्ष्य भी अहिंसा है।

सत्य और ब्रह्मचर्य शब्द विधायक हैं। धर्म की भाषा में इन दो विधायक शब्दों को छोड़कर सब शब्द निषेधात्मक हैं। जिन्हें मैं पंच महाव्रत कहता हूँ वे निषेधात्मक हैं। जब ये पाँचों—अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, अकाम और अप्रमाद—छूट जायेंगे तो भीतर जो उपलब्ध होगा, वह होगा सत्य, और बाहर जो उपलब्ध होगा वह होगा ब्रह्मचर्य। सत्य का अर्थ है जिसे हम भीतर पायेंगे, ब्रह्मचर्य का अर्थ है जिसे हम बाहर जीयेंगे। ब्रह्म जैसी चर्या, ईश्वर-जैसा आचरण। ईश्वर-जैसा आचरण उसी का हो सकता है जो ईश्वर हो जाय। सत्य का अर्थ है ईश्वर-जैसा हो जाना, उसका अर्थ है ब्रह्म। जो ईश्वर-जैसा हो गया उसकी जो चर्या होगी उसी का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म जैसा आचरण।

अगर ठीक से समझें तो अहिंसा पर कोई विचार नहीं हो सकता। फिर हिंसा पर विचार हो सकता है? और हिंसा के न होने पर विचार हो सकता है। ध्यान रहे कि अहिंसा का मतलब सिर्फ इतना ही है—हिंसा का न होना, हिंसा का अभाव। चूँकि

---

१ जीवों की हिंसा करना एक प्रकार का अदत्तादान है, यानी चोरी है।

धर्म परम स्वास्थ्य है, इसलिए धर्म की भी कोई परिभाषा नही हो सकती। बीमारी की परिभाषा हो सकती है, स्वास्थ्य की नही। चर्चा सिर्फ अधर्म की हो सकती है, धर्म की नही। स्वास्थ्य को जाना जा सकता है, उसे जिया जा सकता है, स्वस्थ हुआ जा सकता है, लेकिन उसकी चर्चा नही हो सकती। इसलिए सभी धर्मशास्त्र वस्तुत अधर्म की चर्चा करते है।

हिंसा को मैं पहला अधर्म मानता हूँ, और जो हिंसक है उनके लिए यह पहला प्रश्न है। ऐसे भी हम हिंसक हैं। हमारे हिंसक होने मे भेद हो सकते है, कारण कि हिंसा की अनेक पर्तें हैं, इसकी इतनी सूक्ष्मताएँ है कि उसे पहचान पाना मुश्किल होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिसे हम हिंसा कहते हैं वह अहिंसा का बहुत स्थूल रूप होता है और जिसे हम अहिंसा कहते है वह हिंसा का ही बहुत सूक्ष्म रूप होता है। उदाहरण के लिए मैं गांधीजी की अहिंसा को हिंसा का सूक्ष्म रूप कहता हूँ और कृष्ण की हिंसा को अहिंसा का स्थूल रूप मानता हूँ। हिंसक के लिए ही अहिंसा पर विचार करना जरूरी है। इसलिए यह समझ लो कि दुनिया मे अहिंसा का विचार हिंसको की जमात से आया। जैनो के चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय थे। उनमे एक भी न तो ब्राह्मण था और न वैश्य। बुद्ध भी क्षत्रिय थे। दुनिया मे अहिंसा का खयाल वहाँ पैदा हुआ जहाँ हिंसा घनी थी, सघन थी। जो चौबीस घटे हिंसा मे रत है उन्हे ही यह दिखाई पड़ता है कि हिंसा हमारा स्वभाव या हमारी अन्तरात्मा नही है।

मैं यह मानकर चलूँगा कि हम हिंसक लोग इकट्ठे हुए हैं। जब मैं हिंसा के अनेक-अनेक रूपो की बात कहूँगा तब आप समझ पायेंगे कि आप किस रूप के हिंसक हैं। और अहिंसक होने की पहली शर्त है, अपनी हिंसा को उसकी ठीक-ठीक जगह पर पहचान लेना, क्योंकि जो व्यक्ति हिंसा को ठीक से पहचान लेता है, वह हिंसक नही रह जाता। हिंसक रहने की एक ही तरकीब है कि हम अपनी हिंसा को अहिंसा समझने जायँ। इसलिए असत्य सत्य के वस्त्र पहन लेता है। असल मे असत्य को जब भी खड़ा होना हो तो उसे सत्य का चेहरा उधार लेना ही पड़ता है। एक सीरियन कथा कहती है कि एक बार सौंदर्य की देवी पृथ्वी पर उतरी और एक झील मे स्नान करते हुए दूर निकल गई। तभी कुरूपता की देवी को मौका मिला, उसने सौंदर्य की देवी के कपड़े पहने और वह चलती बनी। कथा कहती है कि तभी से सौंदर्य की देवी उसका पीछा कर रही है और खोज रही है उस कुरूपता को जिसने उसके वस्त्र पहन लिये है। कुरूपता अब भी सौंदर्य के वस्त्र पहने हुए है।

हिंसा को भी खडे होने के लिए अहिंसा बनना पडता है। इसलिए अहिंसा की दिशा मे जो पहली बात जरूरी है वह यह है कि हिंसा के चेहरे पहचान लेने जरूरी है, खासकर उन चेहरो को पहचान लेना जरूरी है जो उसके अहिंसक चेहरे हैं। दुनिया मे कोई भी पाप सीधा धोखा देने मे असमर्थ है। पाप को भी पुण्य की आड

में ही धोखा देना पड़ता है। पाप अपने में हारा हुआ है। हिंसा जीत नहीं सकती। लेकिन दुनिया से हिंसा नहीं मिटती, क्योंकि हमने हिंसा के बहुत से अहिंसक चेहरे खोज निकाले हैं।

सबसे पहली हिंसा दूसरे को दूसरा मानने से शुरू होती है। जैसे ही मैं कहता हूँ कि आप दूसरे हैं वैसे ही मैं आपके प्रति हिंसक हो गया। असल में दूसरे के प्रति अहिंसक होना असम्भव है। हम सिर्फ अपने प्रति ही अहिंसक हो सकते हैं ऐसा हमारा स्वभाव है। वस्तुतः दूसरे को दूसरा स्वीकार करने में ही हिंसा शुरू हो गई। सार्त्र का कथन है कि वह जो दूसरा है वह नरक है। दूसरा नरक नहीं है, दूसरे को दूसरा समझने में नरक है। जिस क्षण हम दूसरे को अपना समझते हैं उसी क्षण मेरे और उसके बीच जो धारा बहती है वह अहिंसा की है। दूसरे को अपना समझने का क्षण ही प्रेम का क्षण है।

लेकिन जिसे हम अपना समझते हैं वह भी गहरे में दूसरा ही बना रहता है। पत्नी भी दूसरी है चाहे कितनी भी अपनी हो। बेटा भी दूसरा है, चाहे कितना भी अपना हो। अपने कहने में भी दूसरे का भाव सदा मौजूद है। इसलिए प्रेम भी पूरी तरह अहिंसक नहीं हो पाता। प्रेम अपने ढंग से हिंसा करता है। पत्नी अपने पति को प्रेमपूर्ण ढंग से सताती है। जब सताना प्रेमपूर्ण हो तो बड़ा सुरक्षित हो जाता है। सताने की बड़ी सुविधा मिल जाती है क्योंकि हिंसा अहिंसा का चेहरा ओढ़ लेती है। शिक्षक विद्यार्थी को सताता है और कहता है कि तुम्हारे हित के लिए ही सता रहा हूँ। इसलिए जिस व्यक्ति को हिंसा के प्रति जागना हो, उसे पहले अपनों के प्रति की जानेवाली हिंसा के प्रति जागना होगा। मेरा ख्याल है कि दुनिया में अपना बनानेवाली जितनी संस्थाएँ हैं सब की सब हिंसक हैं। परिवार से ज्यादा हिंसा और किसी संस्था ने नहीं की, लेकिन उसकी हिंसा बड़ी सूक्ष्म है। इसलिए अगर संन्यासी को परिवार छोड़ देना पड़ता था तो उसका कारण था—सूक्ष्मतम हिंसा से बाहर हो जाना। वह जानता था कि हिंसा का एक सूक्ष्मतम जाल है जो अपना कहनेवाले कर रहे हैं। उनसे लड़ना भी मुश्किल है क्योंकि वे हमारे हित में ही कर रहे हैं। परिवार का ही फैला हुआ रूप समाज है इसलिए समाज ने जितनी हिंसा की है उसका हिसाब लगाना कठिन है।

सच तो यह है कि समाज ने व्यक्ति को बराबर मार डाला है। इसलिए ध्यान रहे कि जब आप किसी समाज के सदस्य की हैसियत से किसी से व्यवहार करते हैं तब आप हिंसक होते हैं। जब आप जैन की तरह किसी व्यक्ति से व्यवहार करते हैं तब आप हिंसक हैं। हिन्दू या मुसलमान की तरह व्यवहार करते हैं तो आप हिंसक हैं। जब व्यक्ति ही अहिंसक नहीं हो पाता तो समाज के अहिंसक होने की सम्भावना बहुत दूर है। समाज तो अहिंसक हो ही नहीं सकता, इसलिए दुनिया में

जो बडी हिसाएँ हुई है वे व्यक्तियो द्वारा नही, वरन् समाजो द्वारा हुई हैं। अगर किसी मुसलमान को हम कहे कि इस मन्दिर मे आग लगा दो तो अकेला मुसलमान, व्यक्ति की हैसियत से, पच्चीस वार सोचेगा। लेकिन दस हजार मुसलमानो की भीड मे वह मन्दिर मे आग लगाने को तैयार हो जायगा, क्योकि दस हजार की भीड एक समाज है। हिन्दू भी मस्जिद के साथ ठीक यही कर सकता है।

समाज का मतलव है अपनो की भीड। और दुनिया मे हिंसा मिटानी तव तक मुश्किल है जव तक हम अपनो की भीड वनाने की जिद वन्द नही करते। अपनो की भीड का मतलव हे एक ऐसी भीड जो सदा परायो के खिलाफ खडी हो। इसलिए दुनिया के सभी सगटन हिंसात्मक होते हैं, चाहे वह संगठन परिवार ही क्यो न हो। परिवार दूसरे लोगो के खिलाफ खडी की गई इकाई हे। राज्य दूसरे राज्यो के खिलाफ खडी की गई राजनैतिक इकाई हैं। मनुष्य उस दिन अहिंसक होगा जिस दिन वह निपट मनुष्य होने को राजी होगा।

इसलिए महावीर को जैन नही कहा जा सकता, और जो उन्हें ऐसा कहते हो वे महावीर के साथ अन्याय कर रहे है। कृष्ण को हिन्दू नही कहा जा सकता। वे किसी समाज के हिस्से नही हो सकते। वे दूसरी इकाइयो के साथ जुडने को राजी नहीं हे। सन्यास समस्त इकाइयो के साथ जुड़ने से इनकार है। असल मे सन्यास इस वात की खवर है कि समाज हिंसा है। अपनो का चेहरा भी हिंसा का सूक्ष्मतम रूप है, इसलिए जिसे हम प्रेम कहते है वह भी अहिंसा नही वन पाता। अहिंसा उस क्षण शुरू होती है जिस क्षण दूसरा नही रह जाता। यह नही कि वह अपना है। वह है ही नही।

दूसरो के दिखाई पडने का कारण दूसरो का होना नही है। दूसरो के दिखाई पडने का कारण वहुत अद्भुत है। दूसरा इसलिए दिखाई पडता है कि मुझे अपना कोई पता नही है। अपने आत्म-अज्ञान को मैने दूसरे का ज्ञान वना लिया हे। हम दूसरे को देख रहे है, क्योकि हम अपने को देखना नही चाहते। दूसरे का होना आत्म-अज्ञान से पैदा होता है। 'दूसरे' से मेरा मतलव दूसरे की चेतना से नही है, दूसरे के शरीर से है। न आपकी चेतना से मुझे कोई प्रयोजन है और न मुझे आपकी चेतना का कोई पता है। जिसे अपनी ही चेतना का पता नही, उसे दूसरे की चेतना का पता हो भी कैसे सकता है? मुझे आपके शरीर का पता है और अपने शरीर का पता है। अगर ठीक से कहे तो कह सकते है कि हिंसा दो शरीरो के वीच का सम्वन्ध है। दो शरीरो के वीच अहिंसा का कोई सम्वन्ध नही हो सकता। शरीरो के वीच सम्वन्ध सदा हिंसा का होगा।

कई प्रेमियो ने अपनी प्रेयसियो की गर्दन दवा डाली है। प्रेम के क्षणो में मार ही डाला है। अदालते नही समझ पाई कि यह कैसा प्रेम है। लेकिन

उदासीनता को समझना चाहिए कि यह थोड़ा आगे बढ़ गया प्रेम है। यह सम्बन्ध जरा अधिक घनिष्ठ हो गया है। दो शरीरों के बीच में जो सम्बन्ध होता है, वह चाहे छुरा मारने का हो या चुम्बन आलिंगन का, उसमें कोई बुनियादी फर्क नहीं है। छुरा भोंकने का जो रस है वह भी यौन का सुख है। असल में सम्भोग का सुख दूसरे के शरीर में प्रवेश करने का ही सुख है।

यदि आप किसी वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में जाएँ तो वहाँ आपको यह देखकर हैरानी होगी कि यद्यपि अनगिनत चूहे मारे जा रहे हैं, मेंढक काटे जा रहे हैं कितने ही जानवर उल्टे-सीधे लटकाए जा रहे हैं कितने जानवर बेहोश पड़े हैं फिर भी वैज्ञानिक को पक्का खयाल है कि वह हिंसा नहीं कर रहा है। उसका खयाल है कि वह आदमी के हित में प्रयोग कर रहा है। बस ऐसी ही हिंसा अहिंसा का मुखौटा पहन लेती है। जब आप किसी से प्रेम करते हैं तब उस समय आपको इस बात का खयाल करना चाहिए कि आपके भीतर की हिंसा ही तो प्रेम की शक्ल नहीं बन जाती ? यदि बन जाती है तो वह खतरनाक से खतरनाक शक्ल है, क्योंकि उसका स्मरण आना बहुत मुश्किल है।

स्वयं में उत्पन्न हो रही चेतना अहिंसा बन जाती है, दूसरे से उत्पन्न हो रही चेतना हिंसा बन जाती है। लेकिन हम दूसरे का ही पता है। अगर मेरी अपनी भी कोई शक्ल है तो वह आपके द्वारा—दूसरे के द्वारा—दी गई शक्ल है। इसलिए मैं सदा डरा रहूँगा। कहीं आपके मन में मेरे प्रति बुरा खयाल न आ जाय। अखबारों की कटिंग फाड़-फाड़कर मैंने अपना चेहरा बनाया है। आपकी बातें सुनकर, आपकी धारणाएँ इकट्ठी करके, मैंने अपनी प्रतिमा बनाई है। यदि मैं पिता हूँ तो मुझे पिता होने का पता नहीं है। किसी के बेटा होने भर का पता है। स्वप्न में भी मैं दूसरों को देखता हूँ, जागने में भी दूसरे ही दिखाई पड़ते हैं। ध्यान में भी बैठता हूँ तो दूसरों का ही ध्यान करता हूँ। जिस दिन मैं स्वयं को देखने लगूँगा उस दिन आप दूसरे की तरह दिखाई पड़ना बंद हो जायँगे।

महावीर जब चींटी से बचकर चलते हैं तो इसका कारण यह नहीं, जो आपका चींटी से बचकर चलने में रहता है। आप जब चींटी से बचकर चलते हैं तब और चींटी से बचकर चलते हैं। महावीर जब चींटी से बचकर चलते हैं तब अपने ही पैर कहीं ऊपर न पड़ जाए इसलिए बचकर चलते हैं। महावीर का बचकर चलना अहिंसा है आपका बचना हिंसा। आप द्वारा बचकर चलने में दूसरा मौजूद है। आप चींटी से बचकर चलते हैं क्योंकि आप न उसे बचाने की चिन्ता है और चिन्ता इसलिए है कि आप डरते हैं कि कहीं पाप न लग जाए। चींटी न मरे तो नरक न जाना पड़े। चींटी से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन स्वयं से है। अगर में दूसरे में जो हमारा फासला है वह शरीर का ही फासला है।

चेतना के तल पर दो नही है हम। दूसरे को बचाये हम या सहानुभूति दिखलाएँ तो वह अहिंसा नही हो सकती। दूसरे को बचाना भी हिंसा ही है। जिस दिन हम ही रह जाते है और बचने को कोई भी नहीं रह जाता, उस दिन अहिंसा फलित होती है।

महावीर की अहिंसा को नही समझा जा सका, क्योकि हम हिंसको ने महावीर की अहिंसा को हिंसा की शब्दावली दे दी। हमने कहा, दूसरे को दुख मत दो। लेकिन ध्यान रहे कि जब तक दूसरा है तब तक दुख जारी रहेगा। दूसरे की मौजूदगी भी हिंसा बन जाती है। आपके लिए ही नही, आपकी मौजूदगी भी दूसरे के लिए हिंसा बन जाती है।

महावीर की जिन्दगी की एक बहुत अद्भुत घटना है। वे सन्यास लेना चाहते थे। उन्होने अपनी माँ से पूछा कि मैं सन्यास ले लूं? माँ ने उत्तर दिया—जब तक मैं जिन्दा हूँ तब तक तुम सन्यास नही ले सकते, मुझे बडा दुख होगा। महावीर लौट गए। यदि उनकी वृत्ति हिंसक होती तो वे कहते—नही, मैं सन्यास लेकर ही रहूँगा, ससार तो सब माया-मोह है! कौन अपना? कौन पराया? लेकिन नही, वे चुपचाप लौट गए। माँ मर गई, पिता मर गए। मरघट से लौटने पर महावीर ने अपने बडे भाई से सन्यास लेने की अनुमति माँगी। भाई ने कहा—पागल हो गए हो? माता-पिता तो छोड ही गए, क्या तुम भी हमे अनाथ छोडकर जाना चाहते हो? महावीर चुप हो गए। फिर उन्होने सन्यास की बात न की। ऐसे मोक्ष से क्या लाभ जिसमे किसी को दुख देकर जाना पडता हो?

महावीर रुक गए सही, लेकिन वर्ष-दो वर्ष मे घर के लोगो को ऐसा लगने लगा कि वे घर मे है ही नही। उनकी उपस्थिति अनुपस्थिति-जैसी हो गई। उनका होना न होने-जैसा हो गया। वे हवा की तरह हो गए। तब घर के लोगो ने कहा कि उन्हे रोकना फिजूल है, अब वे जाना चाहे तो जा सकते हैं। और उन्होने कहा कि अब तो बहुत देर हो चुकी है। मै तो जा चुका हूँ!

दूसरो के कारण हम एक झूठा अहकार पैदा करते है, जो हम नही है। अहकार हमारा कामचलाऊ अस्तित्व है। हमे अपना पता नही है कि कौन है? जिसे यह भी पता नही कि मैं कौन हूँ, वह भी कहता है, मैं हूँ। होने का दावा तभी किया जा सकता है जब 'कौन होने' का पता हो। मुझे पता नही कि मैं कौन हूँ? लेकिन मैं कहता हूँ कि मैं हूँ। यह मेरा 'मैं' कहाँ से आया? यह मेरे ज्ञान से पैदा नही हुआ, क्योकि जिन्होने भी स्वय को जाना, उन्होने 'मैं' कहना बन्द कर दिया। जिन्होने स्वय को पाया, उन्होने स्वय को खो दिया। जिन्होने स्वय को नही पाया, वे कहते है 'मैं हूँ'। यह 'मै' कहाँ से आया? इसे समाज ने पैदा किया। वे जो दूसरे है, उनके साथ व्यवहार करने के लिए आपको एक शब्द खोज लेना पडा—'मैं'। जैसे हमने

नाम खोज लिया है वैसे ही हमने 'मैं' की खोज कर ली है। हम पैदा तो अनाम ही होते हैं, पर समाज हमें नाम दे देता है जो जिन्दगी भर बना रहता है।

रामतीर्थ अमरीका में थे। कुछ लोगों ने उन्हें गालियाँ दीं तो वे हँसते हुए घर लौट आए। जब उनके मित्रों को पता चला तो वे बहुत नाराज हुए। रामतीर्थ ने कहा, मुझे कोई गाली देता तो मैं कोई जवाब देता। वे लोग राम को गाली दे रहे थे। राम से अपना क्या लेना देना? इस नाम के बिना भी तो मैं हो सकता था! जब वे राम को गालियाँ दे रहे थे तब हम भी भीतर ही भीतर खुश हो रहे थे कि देखो, राम को कैसी गालियाँ पड़ रही हैं! बनोगे राम तो गाली पड़ेगी। उन्होंने नाम दिया, उन्होंने ही गाली दी! नाम भी उनका गाली भी उनकी! हम तो बाहर हैं!

वह दूसरा भी झूठा है और यह मैं? मेरा यह 'मैं' भी झूठा है। ये दोनों झूठ एक साथ जिन्दा रहते हैं। जिस दिन दूसरा गिरता है उसी दिन 'मैं' गिर जाता है। 'मैं' और 'तू' के गिर जाने से जो शेष रह जाता है वह अहिंसा है। मैं यह नहीं कहता कि आप 'मैं' शब्द का उपयोग ही नहीं करें। करना ही पड़ेगा। महावीर ने भी किया है, लेकिन तब वह शब्द है भाषा का खेल है। जब वह अस्तित्व नहीं है तब उसे सिर्फ एक शब्द ही मानना चाहिए। ध्यान रहे कि इस 'मैं' और 'तू' के बीच जो उपद्रव पैदा हुआ है, वही हिंसा है। दो झूठों के बीच जो भी होगा, वह उपद्रव ही होगा।

अहिंसा तो एक है, किन्तु हिंसाएँ अनन्त हैं। ये सारी की-सारी हिंसाएँ निकलती हैं एक ही मरने से—मैं और तू के मरने से, आत्म ज्ञान के मरने से। महावीर से अगर कोई पूछे कि अहिंसा क्या है, तो वे कहेंगे आत्मज्ञान। हिंसा क्या है तो वे कहेंगे आत्म अज्ञान। अपने को ही न जानना हिंसा है। यह अजीब बात है! हम तो समझते थे कि दूसरे को दुख देना हिंसा है और सुख देना अहिंसा। लेकिन ध्यान रहे दूसरे को चाहे सुख दो या दुख, हर हालत में दुख ही पहुँचता है। दूसरे की सब आकांक्षाएँ व्यर्थ हो जाती हैं क्योंकि दूसरे को सुख दिया ही नहीं जा सकता। सुख सिर्फ स्वयं को दिया जा सकता है। किस पति ने किस पत्नी को कब सुख दिया? किस पत्नी ने किस पति को कब सुख दिया? पहुँचाते सभी सुख हैं, पहुँचता सब दुख है। असल में दूसरे को हम सुख पहुँचा ही नहीं सकते, दूसरे के साथ हम अहिंसक हो ही नहीं सकते। हम दूसरे को फूल भी फेंक कर मारेंगे तो जब वह लगेगा, तब पत्थर हो जायगा!

ध्यान रहे कि भगवान की मूर्ति पर चढ़ाए गए फूल भी हिंसा की सूचना देते हैं। उनमें भी दूसरे की स्वीकृति है। भक्त वह नहीं है जिसने भगवान् की मूर्ति पर फूल चढ़ाए। भक्त वह है जो खोजकर निकला और जिसने भगवान् के सिवा कुछ भी

नही पाया। फूल मे भी उसको पाया और पत्थर मे भी और जो पूछने लगा कि किसको चढाऊँ, किसके लिए चढाऊँ? कैसे चढाऊँ? कौन चढाए?

जब कोई अहिंसा को उपलब्ध होता है तब दूसरा मिट जाता है और दूसरा तब मिटता है जब हम स्वय को जानते है, उसके पहले नही।

इस खयाल मे न पडें कि मासाहार न करने से आप अहिंसक हो गए। मासाहारी जितना भला आदमी मालूम पडता है, गैर-मासाहारी उतना भला आदमी नही मालूम पडता। यह अजीव-सी बात है। इधर मै निरन्तर सोचता रहा तो मेरे खयाल मे आया कि अगर हिटलर थोडी सिगरेट पीता, थोडा मास खा लेता, थोडा बे-वक्त जग जाता, कही नृत्यगृह मे नाच लेता तो शायद दुनिया मे करोडो आदमी मरने से बच जाते। हम यह न भूले कि मास न खाने से कोई महावीर नही हो सकता। अगर मास न खाने से कोई महावीर हो जाय तो महावीर होना दो कौड़ी का हो गया! जितनी कीमत मास की, उतनी ही कीमत महावीर की हो गई! इससे ज्यादा न रही! धर्म इतना सस्ता नही है कि हम मास नही खाएँगे तो धार्मिक हो जाएँगे। मै यह नही कहता कि आप मास खाएँ या आप मदिरा पिये। आप मास नही खाते, भला है, लेकिन इस भूल मे न पडे कि आप धार्मिक हो गए, अहिंसक बन गए। आचरण से अहिंसा पकडी जायगी तो खतरनाक है। जब कोई आचरण से अहिंसा को पकडता है तब सूक्ष्म रूप से वह हिंसक होता चला जाता है। जब हिंसा सूक्ष्म बन जाती है तब उसे पहचानना मुश्किल हो जाता है। मै आप को कई तरह से दबा सकता हूँ। एक दबाना हिटलर का भी है, आपकी छाती पर छुरी रखकर और दूसरा दबाना महात्मा का, अपनी छाती पर छुरी रखकर। आम तौर से दो तरह के आदमी होते है—दूसरे को सतानेवाले और स्वय को सतानेवाले। दुनिया मे कोडे मारनेवाले सन्यासी हुए है, कांटो पर लेटनेवाले सन्यासी हुए है। दूसरे को भूखा मारनेवाले उतने ही अधार्मिक है जितना अपने को भूखा मारनेवाले। यदि दूसरो को सताना अधार्मिकता है तो अपने को सताना धार्मिकता कैसे हो सकता है? सताना अगर अधार्मिक है तो इससे क्या फर्क पडता है कि किसको सताया?

महावीर की मूर्ति देखी है? क्या आप को ऐसा लगता है कि इस आदमी ने कभी अपने को सताया होगा? कथाएँ झूठी होगी या फिर यह मूर्ति झूठी! इस आदमी ने अपने को सताया नही है। मैं तो समझता हूँ कि महावीर के नग्न हो जाने मे उनका सौन्दर्य ही कारण है। कुरूप आदमी नग्न नही हो सकता। महावीर सर्वाङ्ग-सुन्दर है। कथाएँ कहती है कि इस आदमी ने अपने को बहुत सताया। ये सारी कथाएँ मनगढत है। यदि ऐसी नही है तो हमे महावीर की मूर्ति बदल देनी चाहिए। असल मे इन कथाओ की रचना आत्मपीड़को ने की है। ऐसे आत्मपीडक व्यक्ति महावीर के आनन्द को भी दुख बना लेते हैं, उनकी मौज को त्याग समझ लेते है।

अगर महावीर किसी दिन खाना नही खाते तो वह अनशन नही, उपवास है। अनशन का मतलब है भूखे मरना, उपवास का अर्थ है इतने आनन्द मे होना कि भूख का पता भी न चले। जब ध्यान बहुत भीतर है तो शरीर का खयाल नही रह जाता।

अन्त मे स्मरण रखें कि अहिंसा न तो किसी और को सताती है, न स्वयं को। अहिंसा सताती ही नही। हिंसा ही सताती है। हिंसा के गहरा रूप हैं, उसके समस्त रूप हैं अच्छे रूप हैं बुरे रूप हैं। अगर हम दोनो से सजग हो जायें तो शायद अहिंसा की खोज हो सकती है।



द्वितीय अध्याय

अपरिग्रह

धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारंभपरिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥[1]

—उत्त० अ० १९, गा० २९

दूसरे महाव्रत 'अपरिग्रह' को समझने के लिए परिग्रह को समझ लेना आवश्यक है। परिग्रह का अर्थ है वस्तुओ पर मालकियत की भावना—'पजेसिवनेस'। वस्तुओ के प्रति ही नही, हम व्यक्तियो के प्रति भी परिग्रही होते हैं।

परिग्रह हिंसा का ही एक आयाम है। सिर्फ हिंसक व्यक्ति ही परिग्रही होता है। जैसे ही हम किसी व्यक्ति या वस्तु पर मालकियत की घोषणा करते हैं वैसे ही हम गहरी हिंसा मे उतर आते हैं। बिना हिंसक हुए मालिक होना असम्भव है। मालकियत हिंसा है। पति मालिक है पत्नी का। पति शब्द का अर्थ ही मालिक होता है। स्त्रियाँ पति को स्वामी भी कहती हैं। स्वामी भी पर्याय है मालिक का। परिग्रह का अर्थ है स्वामित्व की आकाक्षा। पिता बेटे का मालिक बन जाता है, गुरु शिष्य का। जहाँ भी मालकियत है वहाँ परिग्रह है, हिंसा है। बिना किसी को गुलाम बनाए मालिक नही हुआ जा सकता। बिना परतन्त्रता थोपे स्वामी होना असम्भव है।

मनुष्य के मन मे मालिक बनने की आकाक्षा क्यो है? इसका कारण है कि हम अपने स्वामी नही है, हमे अपने ऊपर भी अधिकार नही है। जो व्यक्ति अपना मालिक हो जाता है, उसकी मालकियत की धारणा खो जाती है। चूंकि हम अपने मालिक नही हैं, इसलिए हम इस अभाव की पूर्ति आजीवन दूसरो के मालिक होकर करना चाहते है। लेकिन कोई सारी पृथ्वी का मालिक हो जाय तो भी यह कभी पूरी नही हो सकती। अपना मालिक होना एक आनन्द है, दूसरे का मालिक होना सदा दुख है। इसलिए जितनी बडी मालकियत होती है, उतना बडा दुख पैदा होता है। पर याद रहे कि दूसरे का मालिक बनकर अपनी मालकियत नही पाई जा सकती। असल मे मालकियत दोहरी परतन्त्रता है। जिसके हम स्वामी बनते है वह तो हमारा गुलाम बनता

---

१. धन-धान्य, नौकर-चाकर आदि का परिग्रह छोड़ना, सर्व हिंसक प्रवृत्तियो का त्याग करना और निर्ममत्व भाव से रहना, यह अत्यन्त दुष्कर है।

ही है, हम भी उसका गुलाम बनना पडता है। मालिक अपने गुलाम का गुलाम होता है। पति अपनी पत्नी का जितना भी मालिक बनता हो वह अपनी पत्नी का गुलाम भी होता है। सम्राट जहा अपने साम्राज्य का मालिक होता है, वहाँ वह भय का गुलाम भी होता है क्योंकि जिन्हें हम परतंत्र करते हैं वे हमारे प्रति विद्रोह और बगावत शुरू करते हैं, वे भी हम परतंत्र करना चाहते हैं। मालिक और गुलाम म इतना ही फर्क होता है कि एक की गुलामी दृश्य होती है और दूसरे का अदृश्य। हम जिसे गुलाम बनाते हैं वह हम भी गुलाम बना लेता है। बडे गुलाम वे है जिन्हें दूसरा के सम्राट होने का भ्रम पदा होता है। और बडे गरीब वे हैं जो बाहर की सम्पत्ति से भीतर की गरीबी मिटाना चाहते हैं। इसी तरह बडे परतन्त्र वे ही हैं जो दूसरा का परतंत्र करके स्वय स्वतंत्र होने के खयाल म भटकते हैं। कोई भी आदमी किसी को परतन्त्र करके स्वतन्त्र नही हो सकता। जेलखाने के बाहर खडा सतरी भी उतना ही बँद है जितना जेलखाने मे बन्द कैदी। एक दीवाल के भीतर बँधा है, दूसरा दीवाल के बाहर। न दीवाल के भीतरवाला भाग सकता है, न दीवाल के बाहरवाला। मजे की बात तो यह है कि दीवाल के भीतरवाला भागने का उपाय भी करता है बाहरवाला भागने का उपाय भी नही करता। वह इस खयाल म होता है कि वह स्वतन्त्र है। जिन्दगी के अनूठे रहस्यो म एक रहस्य यह भी है कि हम जिसे बाँधते हैं उससे ही हम बँध जाना पडता है।

परिग्रह की पहली कोशिश यह होती है कि मुझे यह खयाल भूल जाय कि मैं अपना मालिक नहीं हूँ। जितना ही पता चलता है कि मैं अपना मालिक नही हूँ उतना ही मैं बाहर की मालकियत को फैलाता चला जाता हूँ। म भीतर मालिक क्या नहीं हूँ? जो भीतर है उस मैं जानता ही नहीं, इसलिए उसका मालिक होना असम्भव है। बादशाहत इस बात स शुरू होती है कि मैं जितना हूँ उतना ही पर्याप्त हूँ। कोई कमी नहा है जिसे मुझे पूरी करनी पडे कोई कमी नहीं है जिसकी वजह से मैं खाली रहूँ। बादशाहत एक भीतरी आप्तता है। सब है इसलिए कोई कमी नहीं है। लेकिन सम्राट के पास कुछ भी नहीं है। हम सब भीतर रिक्त हैं। इस रिक्तता को हम फर्नीचर से मकान से धन और पद से भरने का कोशिश करते हैं। धन का ढेर लगा देते हैं, फिर भी भीतर की रिक्तता ज्यो की त्यो रहती है। मेरी दृष्टि म अमीरो का दुख ही यही है कि उनमे गरीबी ज्यादा पडती है। इसलिए मैं सदा अमीरी के पक्ष म रहता हूँ। यह जो भीतर की रिक्तता है उसी को भरने के लिए परिग्रह है। यदि हम बाहर की चीजो को छोड दें तो क्या भीतर की रिक्तता मिट जायगी? अगर बाहर की चीजो के होने से भीतर की रिक्तता नहीं मिटी तो बाहर की चीजो के न होने से कैसे मिटेगी? लेकिन आदमी का मन बुनियादी भूलो से भरा हुआ है। पहले वह सोचता है

कि बाहर की चीजो को इकट्ठा करने से भर लूंगा, फिर जब पाता है कि उसकी रिक्तता ज्यो की त्यो बनी है तब सोचता है कि बाहर की चीजो को छोडकर अपने को भर लूं। वह पागल है। जब चीजो से भरा न जा सका, तब चीजो के हटाने से कैसे भर जायगा ? इसलिए ध्यान रहे, अपरिग्रह का अर्थ बाहर की चीजों को छोडना नही है; अपरिग्रह का अर्थ भीतर की पूर्णता को पाना है।

मैं कहता हूँ कि परिग्रह का सम्बन्ध वस्तुओ से नही है, उसका सम्बन्ध वस्तुओ पर मालकियत कायम करने से है। जिस दिन इसका ज्ञान होता है कि मैं अपना मालिक हूँ, उसी दिन भीतर की रिक्तता भर जाती है, अन्यथा नही। यह जो अपनी मालकियत है, वह एक विधायक उपलब्धि है। ऐसी मालकियत के आते ही बाहर की पकड छूट जाती है। बाहर की पकड सिर्फ इसलिए होती है कि भीतर की कोई पकड नही होती। हम बाहर पकडे चले जाते हैं और जिसे भी पकडते है उसकी हत्या करना शुरू करते हैं। पति अपनी पत्नी को मारना शुरू कर देता है, पत्नी अपने पति को मारना शुरू कर देती है। जब हम किसी व्यक्ति को मारकर उसके मालिक हो जाते हैं, तब मालिक होने का मजा चला जाता है। बिना मारे मालिक नही हो सकते और मारा कि मजा गया ! इसलिए मन एक पत्नी से दूसरी पत्नी पर और दूसरी से तीसरी पर जाता है। एक मकान से दूसरे मकान पर,दूसरे से तीसरे पर। एक गुरु से दूसरे गुरु पर, एक शिष्य से दूसरे शिष्य पर। जिस चीज के हम मालिक हो जाते है, वह बेमानी हो जाती है, मुर्दा हो जाती है। इसलिए प्रेयसी जितना सुख देती है, उतना पत्नी नही देती। पत्नी बनते ही स्त्री मर जाती है।

इसलिए समझदार परिग्रही व्यक्तियो को छोडकर वस्तुओ का सग्रह करते है, धन इकट्ठा करते है। जब घर मे कुर्सी आती है तब वह मरी हुई ही आती है। उसको कहाँ रखना है, इसके आप पूरे मालिक है। जब हम किसी व्यक्ति को घर मे लाते है तब उसे भी कुर्सी बनाना चाहते है। लेकिन न तो हम व्यक्तियो से अपने को भर सकते है और न वस्तुओ से। हम सिर्फ अपने से भर सकते है, लेकिन अपने का हमे कोई पता नही है। तो एक बात मै आपसे कहना चाहूँगा कि आपके पास जो भी है, उस पर एक दफा गौर से नजर डालकर देखे और स्वय से पूछे कि उससे आप रचमात्र भी भर सके है ? क्या उसने इच भर भी आपको कही भरा है ? अतीत का अनुभव तो यही कहता है कि परिग्रह भर नही पाता, लेकिन भविष्य की आशा यही होती है कि शायद कुछ और मिल जाय और मैं भर जाऊँ। अपरिग्रही की दृष्टि तो तब आती है जब आशा पर अनुभव की विजय होती है।

असल मे जो पाना है वह है दिशा 'बीइंग' की, और जो हम पा रहे हैं, वह है दिशा 'हैविंग' की। जो हम पा रहे है वे है चीजे और जो हमे पाना है, वह है

थामा। ये चीजें कभी भी आत्मा नहीं बन सकती। अनेक जन्मो का अनुभव भी हम इस बात से रोक नहीं पाता कि हम वस्तु को आत्मा न बना सकेंगे—'हैविंग' कभी 'बीइंग' नहीं बन सकता। कभी नहीं। इसलिए महावीर या बुद्ध या जीजस उन लोगों को पागल कहते हैं जो परिग्रह में पड़े हैं।

सुना है मैंने कि डायोजनिज ने सिकन्दर से एक बार पूछा कि अगर तू पूरी दुनिया पा लेगा तो फिर क्या करेगा? यह सुनकर सिकन्दर उदास हो गया। उसने कहा—ठीक कहते हैं आप, क्योंकि दूसरी तो कोई दुनिया नहीं है। अगर मैं एक पा लूंगा तो फिर क्या करूंगा?

आपने कभी सोचा है कि आप जो चाहते हैं, वह आपको मिल जाय तो क्या होगा? अगर हम कभी इस दुनिया में कल्पवृक्ष बना सकें तो प्रत्येक आदमी को महावीर हो जाना पड़ेगा और सारी दुनिया अपरिग्रही हो जायगी। जैसे ही कोई चीज आप को तत्काल मिल गई, वैसे ही वह बेकार हो गई। आप फिर पुरानी जगह खड़े हो गए। आप एक मूल हैं एक खालीपन एक रिक्तता, जो हर चीज के बाद फिर आगे आकर खड़ी हो जाता है। मनुष्य की वासनाएँ सकुलर हैं गोल हैं इसलिए आशा उपलब्ध बनती हुई दिखाई पड़ती है, बनती कभी नहीं। हम अपने को धोखा दिए चले जाते हैं। हम सोचते हैं कि एक रुपया हम मिल जाय तो हम आनन्दित हो जायेंगे। रुपया हमें मिल जाता है पर हम आनन्दित नहीं होते। सोचते है, दूसरा मिल जाय। वह भी मिल जाता है तीसरा भी मिल जाता है परन्तु आनन्द नहीं मिलता। हम भूल जाते है कि दूसरा रुपया भी पहले रुपए की प्रतिलिपि है कापी है तीसरा दूसरे की प्रतिलिपि है वह भी उसी का चेहरा है। ये मिलते चले जाते हैं और हम इनमें खोते जाते हैं। करोड़ रुपए एकत्र हो गए फिर भी आशा ज्यों-की त्यों है। इसलिए कभी-कभी हम हैरानी होती है कि करोड़पति भी एक रुपए के लिए इतना पागल क्या होता है। करोड़पति भी एक रुपए के लिए उतना ही दीवाना होता है जितना वह होता है जिसके पास एक भी नहीं है। आपके पास कितना रुपया है इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह जो आगे है जो नहीं है आपके पास वह दौड़ता चला जाता है। और कई बार करोड़पति तो और भी कृपण हो जाता है क्योंकि उसका अनुभव बताता है कि करोड़ रुपए हो गए फिर भी अभी उपलब्धि नहीं हुई। अब एक-एक रुपए को जितना जोर से पकड़ा जा सके उतना ही ठीक है, क्योंकि जीवन चुक रहा है। वह भूल जाता है कि दुनिया में कोई कभी कहीं नहीं पहुंचता जहाँ वह पहुंचना चाहता है। फासला सदा वही रहता है जो शुरू करते वक्त होता है। जन्म के दिन जितना फासला होता है, मृत्यु के दिन उतना ही फासला होता है। सिर्फ एक फर्क पड़ता है। जन्म के दिन सूरज निकलता है, मृत्यु के दिन सूरज ढलता है और अंधेरा होता है। जन्म के दिन आशाएँ होती हैं, मृत्यु के दिन विषाद

होता है, हार होती है। जन्म के दिन आकाक्षाएँ होती है, अभीप्साएँ होती है, दौडने का बल होता है, मृत्यु के दिन थका मन होता है, हार होती है, हम टूट गए होते है। लेकिन फिर भी ऐसा समझने की भूल न करे कि मरता हुआ आदमी परिग्रही हो जाता हो। मरता हुआ आदमी भी यही सोचता है कि काश, थोडा वक्त और होता तो दौड लेता और पहुँच जाता!

जिसे सीखना है वह एक अनुभव से भी सीख सकता है और जिसे सीखना नही है वह अनन्त अनुभवो से भी नही सीख सकता। हम ऐसे ही लोग है जिन्होने सीखना वन्द कर दिया है। जिन्हे हम महावीर या कृष्ण या वुद्ध कहते हैं, वे ऐसे लोग थे जो जिन्दगी के अनुभव से सीखते है। हम ऐसे लोग है जो सीखते ही नही। हम सासारिक लोग है। ससार का मतलव होता है—चक्र। ससार एक चक्र है, जिस चक्र मे हम एक ही बात दोहराए चले जाते है। कल भी आपने क्रोध किया था और कल भी आपने कसमे खायी थी कि अब क्रोध नही करेगे। आज फिर आप क्रोध करेगे और आज फिर आप पछताएँगे, कसमे खाएँगे कि क्रोध नही करेगे। कल भी यही होगा, परसो भी यही। हम आदमी नही, मशीन है। हमसे ज्यादा वुद्धिहीन प्राणी खोजना वहुत मुश्किल है। हम सीखते ही नही।

जिन्दगी मे जो वडी-से-वडी बात सीखने की हो सकती है, वह यह है कि परिग्रह एक व्यर्थता है। यह मै नही कहता कि वस्तुएँ व्यर्थ है, आपके घर मे जो कुर्सी है वह व्यर्थ है। कुर्सी व्यर्थ कैसे हो सकती है? मकान व्यर्थ कैसे हो सकता है? इसकी अपनी सार्थकता है। मैं जो कह रहा हूँ वह यह है कि वस्तुओ से अपने को भर लेने की कोई सार्थकता नही है। परिग्रह के प्रति अगर हम थोडी-सी भी ऑख खोलकर देख ले तो हम अचानक पायँगे कि मालकियत की भावना विदा हो गई है। जिस दिन हमारी पकड छूट जाती है उस दिन हम अकेले रह जाते है। न तो पत्नी रह जाती है, न मित्र, न भाई, न मकान। ये सब अपनी जगह है और एक वडे खेल के हिस्से है। जिन्दगी के सारे सम्वन्ध शतरज के खेल है। उसके नियम है, उनका पालन करना चाहिए। और ध्यान रहे जो आदमी जिन्दगी को खेल समझता है उसके लिए नियम-पालन वडा आसान हो जाता है, कठिनाई ही नही रह जाती, गम्भीरता तिरोहित हो जाती है। लेकिन कुछ लोग खेल को ही जिन्दगी वना लेते है और खेल मे भी गम्भीर हो जाते है। तव खेल मे भी तलवारे निकल जाती है।

स्मरण रखे कि जिन्दगी की सारी की सारी व्यवस्था अपनी जगह ठीक है। वस्तुएँ वस्तुएँ हैं, धन धन है, पद पद है। इनमे आत्मा कुछ भी नही, कोई भी नही। इस स्मरण से अपरिग्रह फलित होता है। इससे परिग्रह से मुक्ति मिलती है। छोड़कर भाग जाने का नाम परिग्रह से मुक्ति नही है। इसलिए जिन्हे हम सन्यासी कहते हैं, वे साधारणतया इन्वर्टेड परिग्रही है—वे शीर्षासन करते हुए परिग्रही है। जो आप

है, वही वे हैं, बल्कि कई मामलों में वे आपसे भी ज्यादा गम्भीर हैं। मैं तो सोच ही नहीं सकता कि संन्यासी भी गम्भीर हो सकता है। संन्यासी अगर गम्भीर है तो इसका मतलब है कि वह सिर्फ शीर्षासन लगाकर खड़ा हो गया है संसारी है। गम्भीरता का मतलब है कि संसार बड़ा सार्थक है, नासमझियों का यह जो जोड़ है वह बड़ा कीमती है। परिग्रह नासमझी है परिग्रह के खिलाफ साधा गया त्याग भी नासमझी है। चीजों को पकड़ना पागलपन है तो चीजों को छोड़कर भागना कम पागलपन नहीं। चीजों के प्रति मोहग्रस्त होना पागलपन है तो चीजों के प्रति विरक्त होना कम पागलपन नहीं है। यदि परिग्रही पागल है तो संन्यासी भी उससे कम पागल नहीं है। संन्यासी मिलते हैं और मुझसे कहते हैं कि कई दफा मन में ऐसा सन्देह उठता है कि संन्यास लेकर कहीं हमने भूल तो न की? ऐसा सन्देह का उठना स्वाभाविक है। जो भाग रहे हैं वे भी कम परेशान नहीं हैं। वे संन्यासियों के पैर छूते रहते हैं जाकर। वे सोचते हैं कि संन्यासी बड़े आनन्द में होते हैं। संन्यासी एकान्त में संदिग्ध होता है, भीड़ में आश्वस्त। जब लोग उसके पैर छूते हैं तब पक्का हो जाता है कि लोग आनन्द में नहीं हैं—यदि होते तो उसके पैर न छूते। अगर किसी को अपना झूठा संन्यास बनाए रखना हो तो भीड़ अनिवार्य है।

नहीं, न तो वस्तुएँ पकड़ने योग्य हैं, न छोड़ने योग्य। इसलिए अपरिग्रह का अर्थ न तो विराग है और न त्याग। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि कहीं आप संसार को छोड़कर भागने न लगें, कहीं आप घर-द्वार को छोड़कर जंगल की राह न ले लें। अपरिग्रह का मतलब मालकियत के भाव का त्याग है। अपरिग्रही वह है जिसमें मालकियत का कोई भाव न रहा। उसने बाहर की दुनिया में मालकियत खोजनी बन्द कर दी। इसका यह अर्थ नहीं कि बाहर की दुनिया को छोड़कर वह भाग गया। भागेगा कहाँ? जहाँ वह जायगा वहाँ बाहर की दुनिया है। संन्यासी होकर वह वृक्ष के नीचे बैठ जायगा सही परन्तु ज्योंही कोई आकर कहेगा कि हटो यहाँ से, इस वृक्ष के नीचे हम धूनी रमाना चाहते हैं त्योंही वह कहेगा कि हटो मेरा यह स्थान, इस पर मेरा पहले से कब्जा है यह धाम मेरा है यह मन्दिर मेरा है यह आश्रम मेरा है। परिग्रह से भागा हुआ आदमी फिर परिग्रह पैदा कर लेगा, क्योंकि उसे साफ पता न होगा कि परिग्रह क्या है। जनता उसको रोकेगी, अनुयायी उसको रोकेंगे। तब संन्यासी अपना मूल्य खोजने लगेगा। वह अनुयायी इकट्ठा करने लगेगा। जो मजा किसी को तिजोरी के सामने रुपया गिनने में आता है, वही मजा उसको अनुयायियों को गिनने में आता है।

जिन्दगी भागने में नहीं समझी जा सकती। जिन्दगी जहाँ है वहीं उसे समझने की जरूरत है और जब वह समझ आ जाती है तो अचानक हम पाते हैं कि कुछ चीजें एकदम विदा हो गईं। छोड़नी नहीं पड़ीं। जिन्दगी की समझ आते ही मान

कियत का भाव विदा हो जाता है। पति-पत्नी अपनी जगह है, लेकिन बीच से मालकियत चली गई। पति पति नही रह जाता, सिर्फ मित्र रह जाता है। पत्नी पत्नी नही रह जाती, सहचरी बन जाती है। अपरिग्रह का मतलब है हमारे और व्यक्तियो के बीच ही नही, हमारे और वस्तुओ के बीच के सम्बन्ध का रूपान्तरण। मालकियत गिर गई और अपरिग्रह फलित हो गया। इसलिए अपरिग्रह त्याग से ज्यादा कठिन बात है। वैराग्य बडी सरल बात है, क्योकि वह दूसरी अति है और मन का पेडुलम दूसरी अति पर बहुत जल्द जा सकता है। जो आदमी बहुत ज्यादा खाना खाता है उससे उपवास कराना सदा आसान है। जो आदमी स्त्रियो के पीछे पागल है उसे ब्रह्मचर्य का व्रत दिलवाना बहुत आसान है। जो आदमी बहुत क्रोधी है, उसे अक्रोध की कसम दिलवाना सदा आसान है। लेकिन, ध्यान रहे, अक्रोध का यह व्रत भी क्रोधी आदमी ही ले रहा है, इसलिए जल्द ले रहा है। अगर कम क्रोधी होता तो सोचकर लेता। अगर और कम क्रोधी होता तो शायद लेता ही नही, क्योकि व्रत लेने के लिए भी क्रोध का होना जरूरी है।

अपरिग्रह जब फलित होता है तब मध्य मे फलित होता है। आप अपरिग्रह की बिलकुल चिन्ता न करे। आप चिन्ता करे परिग्रह को समझने की। परिग्रह को छोडने की भी चिन्ता न करे, चिन्ता करे उसे समझने की। आप देखेगे कि सब मिल जाय फिर भी कुछ नही मिलता, हम खाली के खाली ही रह जाते है। और स्मरण रखे कि जिन्हे हम बाँधते है उनसे ही हम बँध भी जाते है और उनके गुलाम हो जाते है। अपरिग्रह वहाँ है जहाँ न त्याग है, न भोग, न वस्तुओ की पकड और न वस्तुओ का त्याग।



तृतीय अध्याय

अचौर्य

दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥[1]

—उत्त० अ० १९, गा० २८

हिंसा का एक आयाम परिग्रह है। हिंसक हुए बिना परिग्रही होना असम्भव है। जब परिग्रह विक्षिप्त हो जाता है तब चोरी का जन्म होता है। चोरी परिग्रह की ही विक्षिप्तता है। यदि परिग्रह स्वस्थ हो तो उससे धीरे धीरे अपरिग्रह का जन्म होता है। जब मन अस्वस्थ होता है तब पराई चीज अपनी दिखाई पड़ने लगती है, यद्यपि दूसरा अपना नहीं दिखाई पड़ता। अस्वस्थ परिग्रही दूसरे को तो दूसरा मानता है लेकिन दूसरे की चीज को अपना मानने की हिम्मत करने लगता है। अगर दूसरा भी अपना हो जाय तब दान पैदा होता है। जब दूसरे की चीज भर अपनी हो जाय और दूसरा दूसरा रह जाय, तब चोरी पैदा होती है।

चोरी और दान में बड़ी समानता है। दोनों एक ही चीज के दो छोर हैं। यदि चोरी में दूसरे की चीज को अपना बनाने की कोशिश है तो दान में दूसरे को अपना बनाने की कोशिश। चोरी में हम दूसरे की चीज छीनकर अपनी कर लेते हैं, दान में अपनी चीज दूसरे की कर देते हैं। एक अर्थ में दान चोरी का प्रायश्चित्त है। दानी अक्सर अतीत का चोर होता है और चोर अक्सर भविष्य का दानी। धर्म का सम्बन्ध वस्तुओं की चोरी से उतना नहीं जितना गहरी चोरियों से है। चोरी शब्द का गहरा आध्यात्मिक अर्थ है। अगर किसी दिन समाज पूरी तरह समृद्ध हो गया तो चोरी बन्द हो जायगी। वस्तुओं की चोरी अनिवार्य गरीबी के कारण पैदा होती है। लेकिन और भी चोरियाँ हैं। महाव्रत का सम्बन्ध इन गहरी चोरियों से है।

चोरी का गहरा आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जो मेरा नहीं है उसे अपना घोषित करूँ। बहुत-कुछ मेरा नहीं है जिसे मैंने अपना घोषित किया है, यद्यपि मैंने कभी किसी की चोरी नहीं की। शरीर मेरा नहीं, है लेकिन मैं घोषित करता हूँ कि यह मेरा

---

१ दाँत कुरेदने का तिनका भी उसके मालिक के दिए बिना ग्रहण न करना साथ ही निरवद्य (पापरहित) और एषणीय वस्तुएँ ही ग्रहण करना—ये दोनों बातें अत्यन्त दुष्कर हैं। (एषणीयतापूर्वक के नियमानुसार उपयोग में ली जाने योग्य।)

है। अध्यात्म की दृष्टि मे यह चोरी हो गई। जिस दिन मैंने घोषणा की कि मैं शरीर हूँ उसी दिन आध्यात्मिक अर्थों मे मैंने चोरी की। माँ के पेट मे एक तरह का शरीर था मेरे पास। आज अगर मेरे सामने उसे रख दिया जाय तो मैं खाली आँखो से इसे देख नही सकूँगा और न यह मानने को राजी होऊँगा कि कभी यह मेरा शरीर था। फिर बचपन मे एक शरीर था जो रोज बदलता रहा। इस प्रकार मुझे कितने ही शरीर मिले और इन सारे शरीर को मैं कहता रहा कि यह मैं हूँ। कोई अभिनेता उतना अभिनय नही करता जितना अभिनय मैं करता हूँ। बचपन से लेकर मृत्यु की घडी तक अभिनय करता रहूँगा। मेरा जीवन अभिनय की लम्बी कहानी है। सभी मुझ-जैसे ही हैं। ऐसा एक भी आदमी नही जो अभिनय न करता हो। कुशल-अकुशल का फर्क भले ही हो, लेकिन ऐसा कोई नही जो अभिनेता न हो। जिस दिन अभिनय करना बन्द हो जाय उसी दिन व्यक्ति के भीतर धर्म का उदय होता है।

जिस शरीर को हम अपना मानते हैं वह भी अपना नही है और हम जिस व्यक्तित्व को अपना मानते हैं वह भी अपना नही। हमारे मुखौटे उधार के मुखौटे हैं और अपने ऊपर लगाए गए चेहरे दूसरो के चेहरे। जो बडी से बडी आध्यात्मिक चोरी है वह चेहरो की चोरी है। हम जो भी बाहर से साधते हैं वह स्वभावत हमारा चेहरा ही बनता है, जो भीतर से आता है वही हमारी आत्मा होती है। हम धर्म को बाहर से ही साधते हैं। अधर्म होता है भीतर, धर्म होता है बाहर। चोरी होती है भीतर, अचोरी होती है बाहर। परिग्रह होता है भीतर, अपरिग्रह होता है बाहर। इसलिए हम जिन्हे धार्मिक आदमी कहते है उनसे ज्यादा चोर व्यक्तित्व खोजना बहुत मुश्किल है। आध्यात्मिक अर्थों मे चोरी है उसे दिखाने की कोशिश जो आप नही हैं। हम सब बहुत चेहरे तैयार रखते हैं। जब जैसी जरूरत होती है वैसा चेहरा लगा लेते हैं और जो हम नही हैं वह दिखाई पडने लगते हैं। हमारी मुस्कराहट आँसुओ को छिपाने का इन्तजाम होती है, हमारी प्रसन्न मुद्रा उदासी को दबा लेने की व्यवस्था होती है। आदमी जैसा भीतर है वैसा बाहर दिखाई नही पड रहा है। यह आध्यात्मिक चोरी है। इस प्रकार की चोरी करनेवाले लोग वस्तुएँ नही चुराते, व्यक्तित्व चुराते हैं। और याद रहे, वस्तुओ की चोरी बहुत बडी चोरी नही है, व्यक्तित्वो की चोरी बहुत बडी चोरी है।

जिस आदमी को अचोरी की साधना करनी हो उसे पहली बात यह समझ लेनी चाहिए कि वह भूलकर भी कभी व्यक्तित्व न चुराए। महावीर से जो व्यक्तित्व लेगा वह चोर हो जायगा। बुद्ध और कृष्ण से जो व्यक्तित्व लेगा वह चोर हो जायगा। अब दूसरा कोई भी आदमी दुबारा महावीर नही हो सकता—हो ही नहीं सकता। वे सारी की सारी स्थितियाँ दुबारा नही दोहराई जा सकती जो महावीर के होने के वक्त हुई थी। न तो वह पिता खोजे जा सकते है, न वह माँ खोजी जा सकती है। न तो

यह युग लाया जा सकता है और न वे चाँद-तारे जिनके नीचे महावीर का जन्म हुआ था। इसलिए दूसरा कोई आदमी जब भी महावीर होने की कोशिश करेगा तब वह चोर महावीर हो जायगा। इस तरह की चोरी को ही हमने दुर्भाग्यवश, धर्म समझ लिया है। इसलिए हममें कोई जैन है कोई ईसाई है कोई हिन्दू है, कोई बौद्ध है। यह धर्म के नाम पर गहरी चोरी है। अनुयायी चोर होगा ही आध्यात्मिक अर्थों में। उसने दूसरे व्यक्तित्व को चुराकर अपने ऊपर ओढ़ना शुरू कर लिया है—उन व्यक्तित्वों को जो उसके नहीं हैं। स्वाभाविक इसका परिणाम होगा। न तो मैं किसी की जगह जी सकता हूँ और न किसी की जगह मर सकता हूँ। मेरा अनुभव अनिवार्यरूपेण निजी होगा और जिस दिन निजी होगा उसी दिन मैं अचोरी को उपलब्ध होऊँगा, उसके पहले नहीं। जिस दिन मेरे पास कोई ओढ़ा हुआ व्यक्तित्व न होगा उस दिन मैं अचोरी को उपलब्ध हो जाऊँगा अन्यथा मैं चोर ही बना रहूँगा।

ध्यान रहे, वस्तुओं की चोरी उस दिन बहुत जल्दी खत्म हो जायगी जिस दिन वस्तुएँ बहुत ज्यादा हो जायगी लेकिन व्यक्तित्वों की चोरी जारी रहेगी। हम चुराते ही रहेंगे, दूसरों को आदृत हो रहेंगे। इस पर आप जरा गौर करेंगे कि आप स्वयं होने की हिम्मत जुटा पाए या नहीं। अगर नहीं जुटा पाए तो आपके व्यक्तित्व की अनिवार्य आधार शिला चोरी की होगी। आपने कोई और बनने की कोशिश तो नहीं की? आपके चेतन अवचेतन में कहीं भी तो किसी और जैसा हो जाने का आग्रह नहीं है? अगर है तो उस आग्रह को ठीक से समझकर उससे मुक्त हो जाना जरूरी है, अन्यथा अचोरी की स्थिति पैदा नहीं होगी। और यह चोरी एक ऐसी चोरी है जिससे आपको कोई रोक नहीं सकता। धन के चोर को तो पकड़ा जा सकता है परन्तु व्यक्तित्व जैसी सूक्ष्म चीज के चोर को कौन पकड़ेगा? कैसे पकड़ेगा? व्यक्तित्व की चोरी एक ऐसी चोरी है जिसमें किसी से कुछ दौलत भी नहीं और आप चोर हो जाते हैं। व्यक्तित्व की चोरी आसान और सस्ती है। सुबह से उठकर यह देखना जरूरी है कि मैं कितनी बार दूसरा हो जाता हूँ कितनी बार स्वयं नहीं हो पाता व्यक्तित्वों के कारण।

मुझे तो ऐसा लगता है कि चोरों के पास अक्सर अपना व्यक्तित्व होता है परन्तु साधुओं के पास नहीं होता। अगर आप चोरों की आँखों में झाँकें तो ऐसा लगेगा कि वे जो हैं हैं। मन्दिरों में जाएँ और साधुओं की आँखों में झाँकें तो लगेगा कि वे जो नहीं हैं वही दीख रहे हैं। वे महावीर की तरह साधु बने हैं उधार-उधार हैं ठीक महावीर के ढंग वाले हैं। लेकिन वह होना केवल बाहर में है। चोर आदमी अक्सर वही होता है जो वह है क्योंकि चोर का कोई आदर्श नहीं। अच्छा आदमी अक्सर वही होता है जो वह नहीं है क्योंकि अच्छे का आदर्श का मन होगा है। अच्छा होना तो बहुत कठिन है अच्छा बनना सुगम है। अच्छा बनना सस्ता है,

लेकिन अच्छे को ओढ लेना खेल है, कन्वीनिएण्ट है। अनैतिक जगत् मे नैतिक होना तपश्चर्या है, एक बुरे समाज मे नैतिक होना कठिनाई मोल लेना है। चारो तरफ से चोटे पडती है, इसलिए सुविधापूर्ण है वस्त्र ओढ लेना। नैतिकता के वस्त्र ओढो बाजारो मे, सार्वजनिक स्थानो मे।

इसलिए हमारे पास दो तरह के चेहरे है—प्राइवेट फेसेज और पब्लिक फेसेज। हमारे ऊपर नकली चेहरो की इतनी परते है और अनन्त जन्मो की चोरी इतनी गहरी और इतनी लम्बी है कि हमारा असली चेहरा—निजी चेहरा—बिलकुल छिप-सा गया है। एक मुखौटा उतारो तो दूसरा उसके नीचे है। प्याज की तरह हो गए है हम सब। हमने अनन्त जन्मो मे इतने व्यक्तित्वो की चोरी की है और इतने मुखौटे ओढे है कि हमारा अपना तो कोई चेहरा ही नही रह गया है। अगर हमारे छिलके उतारे जाएँगे तो आखिर मे शून्य रह जायगा। उसी शून्य से अचोरी मे गति होगी, उसके पहले नही। अगर हमे यह पता चल जाय कि हमारा कोई चेहरा ही नही है तो बडी उपलब्धि है यह।

चोरी से बचने की कोशिश का नाम अचोरी नही है। जो चोरी से बचा है वह भी चोरी से बचा हुआ चोर है, जिसने चोरी की है वह चोरी मे फँस गया चोर है। दोनो ही चोर है। एक की चोरी व्यवहार तक चली गई है, दूसरे की चोरी मन तक रह गई है। लेकिन अचौर्य का सम्बन्ध असली चेहरे से है, अपने चेहरे से है। क्या हमारे पास अपना चेहरा है? पति के सामने पत्नी को कुछ और होना पडता है अपने पडोसियो के सामने कुछ और। तत्काल चेहरा बदल जाता है। अपने मालिक के सामने हम कुछ और होते है और अपने नौकर के सामने कुछ और। मालिक के सामने हम पूँछ हिलाते हुए होते है और नौकर के सामने उद्दड। कई दफे बहुत लोगो के बीच हम गिरगिट हो जाते है। चेहरो की यह बदलाहट तनाव पैदा करती है। जिस आदमी के पास एक चेहरा है उसको तनाव नही होता। तनाव सदा होता है चेहरो को बार-बार बदलने से। लेकिन हम बहुत होशियार लोग है। गियर बदलने के परपरागत तरीके की जगह हमने अब सरल तरीको का आविष्कार किया है। अब मोटर गाडियो मे ऑटोमैटिक गियर होते है। हम भी अपने चेहरे बदलते नही, हमारे चेहरे स्वत बदल जाते है। चेहरे को बदलने के लिए हमने आटोमैटिक गियर खोज निकाले है। नौकर आया कि चेहरा बदला। मालिक आया कि चेहरा बदला। पत्नी आई कि चेहरा और हुआ। प्रेयसी आई कि चेहरा और हुआ। पुराने आदमी को धार्मिक होने मे बडी सुविधा थी। उसके पास कन्वेन्शनल गियर थे। उसको चेहरा बदलना पडता था, इसलिए उसे यह भी पता चलता था कि मै अपना चेहरा बदल रहा हूँ। आधुनिक सभ्यता ने कन्वेन्शनल गियर हटा दिए है। सभ्य आदमी और असभ्य आदमी मे जो फर्क है वह मेरी दृष्टि मे कन्वेन्शनल गियर और ऑटो-

मटिक गियर का फर्क है, और कोई फर्क नही। सभ्य आदमी का धार्मिक होना मुश्किल हो जाता है क्योंकि उसे चोरी का पता ही नही चलता।

जीजस, बुद्ध और महावीर एक असभ्य दुनिया में पैदा हुए थ। सभ्य दुनिया में हम बुद्ध महावीर और जीजस जैसे आदमी पैदा नही कर पा रहे हैं। असभ्य आदमी इतना वंचक नही था। मैं आपसे कहना चाहूँगा कि अचोरी को समझने के लिए अपने चेहरे बदलने के प्रति आपको सजग होना पड़ेगा। अचोरी के महाव्रत में आप अपने चेहरे का बदलना देखें। घर से मन्दिर की ओर जाते समय जरा होशपूर्वक देखें कि चेहरा किस जगह बदलता है। किस जगह दूकानदार हटता है और सच्चा साधक आता है। जहा लिखा रहता है 'कृपया जूता यहा' वहा नीचे तख्ती होनी चाहिए—कृपया चेहरा यहाँ। कई लोग तो अपना चेहरा लिये ही भीतर घुस जाते है। जूता लिये मन्दिर में चले जाएँ तो उतनी अपवित्रता नही होगी, जितनी चेहरा लिये चले जाएँ तो होगी।

मेरी सलाह है कि जब आप चेहरा बदलें तो जरा होश रखें कि आप इस वक्त बदल रहे हैं। अब तक आप दूसरों पर हँसते रहे हैं अब आप अपने ऊपर हँसना शुरू कर देंगे। और जब आप जान बूझकर चेहरा बदलेंगे तो चेहरा बदलना मुश्किल हो जायगा और धीरे धीरे आपको एहसास होगा कि आप हमेशा अभिनय कर रहे हैं। धीरे धीरे चेहरा बदलना कठिन हो जायगा और जब चेहरा बदलना कठिन होगा तथा बीच का अन्तराल बढ़ेगा और आप कभी कभी चेहरे के बिना रह जाएँगे, तब आपका असली चेहरा जनमेगा—आपके भीतर आपका चेहरा आना शुरू होगा। तो पहली बात यह है कि चौबीस घंटे बदलते हुए चेहरों का खयाल रखना और दूसरी यह कि किसी का चेहरा—चाहे वह महावीर का हो या कृष्ण का या क्राइस्ट का—अपना बनाने की कोशिश मत करना। भूलकर मत करना। अनुयायी बनना ही मत अन्यथा चोर बने बिना कोई उपाय ही नही।

जो बहुत ईमानदारी से चोरी करता है वह चेहरे चुराता है, जो बेईमानी से चेहरे चुराता है वह चेहरे नही चुराता, सिर्फ विचार चुराता है। पंडित के पास सिर्फ विचार की चोरी होती है, तथाकथित साधु के पास चेहरा की चोरी। दो तरह की चोरी है—विचार की और चेहरे की। चेहरे की चोरी करनेवाले आदमी को हम ईमानदार चोर कहते हैं। जब आचरण में बाद विचार आता है तब उसकी सुगंध और होती है क्योंकि आचरण आत्मा से आता है। जिस आदमी का आचरण विचार से आता है वह आदमी चोर है। शास्त्र से आया हुआ विचार खुद भी चोरी है फिर शास्त्र से आए हुए विचार के अनुसार जीवन को ढाल लेना और बड़ी चोरी है। मैं नही कहता कि विचार के अनुसार आचरण हो। मैं कहता हूं कि आचरण के अनुसार विचार हो।

ध्यान रहे, जिस आदमी को अपनी जिन्दगी मे रूपान्तरण लाना हो उसे स्थगन से—पोस्टपॉन्मेंट से—बचना चाहिए। उसे चाहिए कि वह दूसरे को अपने कर्मों के लिए जिम्मेदार न ठहराए। जिसने भी इस दुनिया मे स्थगन की नीति अपनायी, रूपातरण मे विलम्ब होने दिया और दूसरे को जिम्मेदार ठहराया, वह आदमी धार्मिक नही हो पाया। धार्मिक आदमी वह है जो कहता है कि पूरे का पूरा दायित्व मेरा है। अधार्मिक आदमी कहता है कि दायित्व किसी और का है, मै तो भला आदमी हूँ, लोग मुझे बुरा किए दे रहे है। मै कहता हूँ कि आधा अच्छा आदमी बुरे आदमी से भी बुरा है। आधे सत्य पूरे असत्यो से बुरे होते है, क्योकि पूरे असत्य से मुक्त हो जायँगे आप, आधे असत्य से कभी मुक्त नही होगे। आधा सत्य बधन का काम करेगा।

तो मै आपसे कहूँगा कि विचार के अनुसार आचरण मत करना, आचरण के अनुसार ही विचार करना, ताकि चीजे साफ हो और अगर चीजे साफ हुई तो कोई भी आदमी इस दुनिया मे बुरे आदमी के साथ नही जी सकता। आप भी अपने बुरे आदमी के साथ नही जी सकते और एक दफा यह पता चल जाय कि मैं एक बुरी पर्त के साथ जी रहा हूँ तो इस पर्त को उखाड फेकने मे उतनी ही आसानी होगी जितनी पैर से कॉंटा निकालने मे होती है। प्याज की इस पर्त को, इस ओढे हुए व्यक्तित्व को उघाडकर फेंक देने मे उतनी ही आसानी होगी जितनी शरीर से मैल को अलग कर देने मे होती है। लेकिन अगर कोई आदमी अपनी मैल को सोना समझने लगे तो कठिनाई हो जायगी।

हम उपदेश ग्रहण करने को बहुत आतुर और उत्सुक होते है। फिर हम सोचते है कि उसके अनुसार आचरण बना लेगे। यह आचरण वैसा ही होगा जैसा रगमच पर अभिनेता का होता है। पहले उसे खेल की स्क्रिप्ट मिल जाती है, पाठ मिल जाता है, फिर वह उसे कठस्थ कर लेता है, इसके बाद वह रिहर्सल करता है और अन्ततोगत्वा आकर मच पर दिखा देता है। अभिनय का मतलब ही है विचार के अनुसार आचरण, लेकिन आत्मा का मतलब कुछ और है। इसका मतलब है आचरण के अनुसार विचार।

अगर चोरी खोनी है तो ओढे हुए चेहरे खोने ही चाहिए और वह क्षण आना ही चाहिए जब आपका कोई चोर चेहरा न हो। चोर चेहरे को हटाइए, चाहे महावीर से लिये हो, चाहे बुद्ध या कृष्ण से। उन चेहरो को हटाइए और उसको खोजिए जो आपका है। जिस दिन आपके सारे चेहरे गिर जायँगे उस दिन अचानक आपके सामने वह रूप प्रकट होगा जो आपका है। जैसे ही वह रूप प्रकट होता है वैसे ही आप अचोरी को उपलब्ध हो जाते है। याद रखिए, जिस आदमी ने व्यक्तित्व चुराने बन्द कर दिए उसने चेहरे चुराने बन्द कर दिए। जिसने आचरण चुराने बन्द कर दिए वह आदमी वस्तुएँ नही चुरा सकता, यह असम्भव है।

कोई कह सकता है कि हमारे चोर होने में मात्राएँ हैं डिग्रीज हैं। हो सकता है कि हम दो पैसे न चुराते हों, लेकिन इससे यह मत समझ लेना कि हम अचोर हैं। इससे क्या फर्क पड़ता है कि हमने दो पैसे चुराए कि दो लाख ? चोरी में कोई मात्रा हो सकती है ? दो पैसे चुराऊँ तो भी मैं उतना ही चोर हूँ जितना दो लाख चुराने वाला चोर होता है।

हम बच्चों से कहते हैं कि तुम विवेकानन्द जैसे हो जाओ। इस बच्चे की कौन सी गलती कि वह विवेकानन्द जैसा हो जाय ? अगर वह विवेकानन्द जैसा हो गया तो चोर हो गया। हम कहते हैं महावीर जैसे हो जाओ। अब कोई गलती की है आपने पैदा होकर ? अगर महावीर को ही सिर्फ पैदा होने का हक है पृथ्वी पर तो अबतक दुनिया खत्म हो जानी चाहिए। वह हो चुके पैदा मामला खत्म हो गया। अब आपके होने की क्या जरूरत है ? महावीर की कार्बन कापी होने की क्या आवश्यकता है ? कृपा करके वह भी मत करना जो मैं कह रहा हूँ। मैं जो कह रहा हूँ उसे समझ लेना और छोड़ देना। समझ आपके पास रह जाय, विचार नहीं। सुरभि रह जाय, फूल नहीं। यह समझ आपकी जिन्दगी को बदले तो बदल देना, न बदले तो ऊपर से थोपने की कोशिश मत करना अन्यथा चोरी जारी रहेगी।



चतुर्थ अध्याय

अकाम

सल्ल कामा विस कामा, कामा आसीविसोपमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥[1]

—उत्त० अ० ९, गा० ५३

ऊपर जिन तीन व्रतों की हमने बात की उन सबके आधार मे काम की शक्ति ही काम करती है। अकाम ही अहिंसा, अपरिग्रह और अचौर्य का आधार है, कामवासना अर्थात् चाह, हिंसा, परिग्रह और चौर्य का आधार। काम (कामना, इच्छा) के मार्ग मे यदि बाधा उपस्थित हो तो काम हिंसक हो उठता है, अगर कोई बाधा न हो और काम सफल हो जाय तो वह परिग्रह बन जाता है।

विज्ञान की दृष्टि मे आज सारा काम ऊर्जा का समूह है, एनर्जी है। धर्म इस शक्ति को परमात्मा का नाम देता है। विज्ञान इस शक्ति को अभी एनर्जी मात्र ही कह रहा है। विज्ञान थोडा आगे बढेगा तो उससे एक और भूल टूट जायगी। जैसे विज्ञान को पता चला कि पदार्थ ऊर्जा का सघन रूप है वैसे ही उसे आज नही तो कल पता चलेगा कि चेतना का सघन रूप एनर्जी है। प्रत्येक व्यक्ति इसी ऊर्जा का स्फुलिंग है, एक छोटा-सा रूप है। यह ऊर्जा अगर बाहर की ओर बहे तो वह काम बन जाती है और अगर भीतर की ओर बहे तो अकाम बन जाती है, आत्मा बन जाती है। भेद सिर्फ दिशा का है। जब कामना घर की ओर लौट पटती है तब अकाम का जन्म होता है; जब काम-ऊर्जा बाहर की ओर बहती है तब आदमी क्षीण, निर्बल और निस्तेज होता चला जाता है। जिसे हमे पाना है, शक्ति उसी की ओर प्रवाहित होनी चाहिए। अगर हमे बाहर की वस्तुएँ उपलब्ध करनी है तो शक्ति को बाहर जाना पडेगा और अगर हमे आत्मा पानी हो तो शक्ति को भीतर जाना पडेगा।

काम को मैं बाहर बहती हुई ऊर्जा कहता हूँ · अकाम से मतलब है भीतर बहती हुई ऊर्जा। शक्ति चाहे तो बाहर की ओर बहे या भीतर की ओर। जब वह बाहर की ओर बहती है तब हमे सब-कुछ उपलब्ध हो सकता है, केवल आत्मा

---

१. कामभोग शल्यरूप है, कामयोग विष के समान है और कामभोग भयंकर सर्प-जैसे है। जो कामभोग की इच्छा करता है, वह उसे प्राप्त किए बिना ही दुर्गति मे जाता है।

उपलब्ध नहीं हो सकती। व्यक्ति सब-कुछ पा सकता है सिर्फ स्वयं को खो देता है। सब पा लेने का भी कोई सार नहीं, यदि स्वयं खो जाय। जब ऊर्जा भीतर की ओर बहती है तब वह अकाम बन जाती है। काम का अर्थ है—इच्छा कामना डिजायर। जब भी हम कोई कामना करते हैं तब हम बाहर की ओर बहना पड़ता है। कुछ पाने को है बाहर इसलिए हम बाहर की ओर बहना पड़ता है। हम सब बाहर बहते हुए लोग हैं, हम सब कामनाएं हैं। चौबीस घंटे हम बाहर की ओर बह रहे हैं किसी को धन पाना है, किसी को यश, किसी को प्रेम। आश्चर्य उन लोगों को देखकर होता है जो परमात्मा को पाने के लिए बाहर की तरफ बहते चले जाते हैं। जिसे मोक्ष पाना है वह भी सोचता है कि मोक्ष कहीं ऊपर है, बाहर है।

परन्तु ध्यान रहे धर्म का बाहर से कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए जिनके ईश्वर बाहर हों वे समझ लें कि उनका धर्म से कोई नाता नहीं है। जिनका मोक्ष बाहर हो वे अच्छी तरह विश्वास कर लें कि वे धार्मिक नहीं हैं। पाने की कोई भी चीज जिनके लिए बाहर हो वे समझ लें कि वे कामी हैं। सिर्फ एक ही स्थिति से काम से मुक्ति होती है और वह यह कि हम भीतर बहना शुरू करें।

जन्म के साथ हम शक्ति लेकर आते हैं और मृत्यु के साथ शक्ति गंवाकर वापस लौट जाते हैं। जो व्यक्ति मृत्यु के साथ भी शक्ति लेकर वापस लौटता है उसे फिर आने की जरूरत नहीं रह जाती। अकाम जन्म मरण से मुक्ति है काम बार-बार संसार में लौट आने का कारण है। काम है मृत्यु की खोज, अकाम है अमृत की तलाश।

स्मरण रहे कि मनुष्य की कोई भी कामना कभी ठीक अर्थों में पूरी नहीं होती, हो नहीं सकती। बाहर की तरफ दौड़ना ही जिसकी जिन्दगी बन गई है वह एक इच्छा पूरी हुई नहीं कि दूसरी को जनमा लेता है। कहना चाहिए कि वह एक के बाद अनेक इच्छाओं को जनमा लेता है फिर दौड़ना शुरू कर देता है। सच पूछिए तो हम बाहर की तरफ दौड़ती हुई ऊर्जाएं हैं इसलिए हम खाली कारतूस की तरह मर जाते हैं। इसलिए हमारी मृत्यु सौंदर्य नहीं हो पाती, एक अनुभव नहीं बन पाती। मृत्यु की पीड़ा निस्तेज और खाली हो गए आदमी की है जो सब भांति रिक्त हो गया है जिसमें अब कुछ भी नहीं बचा। लेकिन मौन भी आनन्द देती है उसे जो खाली नहीं, भरा हुआ है। हम भरे हुए कैसे रह जाय, इस रहस्य को समझ पाने के लिए अकाम है लेकिन अकाम को समझने के लिए पहले काम की समस्त यात्रा समझ लेनी चाहिए। इसे समझ लें तो भीतर की तरफ बहना बड़ा सरल बात हो जाती है।

हम पता है कि पदार्थ अणुओं से बना है। इस सदी में पता चला है कि प्रत्येक

अणु के भीतर अनन्त ऊर्जा छिपी है। अगर अणु को तोड दिया जाय तो विस्फोट होता है और शक्ति बाहर वह जाती है। विज्ञान ने अणु को तोडा है, धर्म ने जोड़ा है। इसलिए धर्म का नाम है योग, जोड। मनुष्य की चेतना भी अणु है और यदि हम उस अणु को टूटा हुआ रहने दे तो उससे सव वह जाता है, अनन्त ऊर्जा बाहर निकल जाती है। अगर वह अणु टूटे नही, वरन् संश्लिष्ट हो जाय, बन्द हो जाय तो भीतर अनन्त ऊर्जा उपलब्ध होती है। इस अनन्त ऊर्जा की अनुभूति अनन्त परमात्मा की अनुभूति है, इसका अनुभव अनन्त आनन्द का अनुभव है। इस अनुभव के बाद फिर कुछ अनुभव करने को शेप नही रह जाता। लेकिन ऐसा समझना चाहिए कि आदमी टूटा हुआ अणु है, चेतना का टूटा हुआ ऐटम है। उसमे छेद है।

जन्म के क्षण मे हम ऊर्जा से भरे हुए होते है। जब तक जन्म नही होता तब तक हम भरी बाल्टी होते हैं। जन्म के साथ बाल्टी ऊपर उठी कुएँ से कि पानी गिरना शुरू हुआ। अगर ठीक से समझे तो जन्म के साथ ही हमारी मृत्यु शुरु हो जाती है, हमारा खाली होना शुरु हो जाता है। हम फूटी बाल्टी की तरह खाली होने लगते है। अगर कोई व्यक्ति अपने पूरे जीवन की ऊर्जा को ठहरा ले तो वह जिस ताजगी का अनुभव करेगा उसका हमे कोई भी पता नही। और काम, ऊर्जा को खोने की विधि है। काम के अनेक रूप है जिनमे सर्वाधिक सघन रूप यौन है। इसलिए धीरे-धीरे काम और यौन, काम और सेक्स पर्यायवाची बन गए। भोजन से ऊर्जा मिलती है, नीद से ऊर्जा बचती है और व्यायाम मे ऊर्जा जगती है। इस ऊर्जा का बहुत सा अंश सिर्फ जीवन-व्यवस्था मे व्यय हो जाता है। भोजन के समय आप साधारण मृत पदार्थ को भीतर ले जाते है और आप की जीवन-ऊर्जा उसे जीवन्त बनाती है। इसमे बहुत ऊर्जा व्यय होती है। चलते-फिरते है तो ऊर्जा व्यय होती है, बैठते हैं तो ऊर्जा व्यय होती है। जीवन की इन सारी आवश्यक प्रक्रियाओ के बाद जो थोडी-बहुत ऊर्जा बचती है उसका आप सिर्फ सेक्स मे उपयोग करते है। यह वैसा ही है जैसे कोई व्यक्ति दिन भर धन कमाए और सध्या समय जाकर उसे नदी मे फेंक आए। यह बड़ी ऐब्सर्ड जिन्दगी है। अजीब पागलपन है! इकट्ठा करना, फेकना, इकट्ठा करना, फेकना।

ऊर्जा का इकट्ठा करना तो ठीक है, लेकिन खोने के लिए ही इकट्ठा करना बहुत बेमानी है। यह जिन्दगी नही हो सकती, कही भूल हो रही है। अगर कोई आदमी कहे कि मैं इसलिए मकान बनाता हूँ कि गिरा दूँ तो हम कहेगे कि उसका दिमाग ठीक नही। लेकिन हम सब जिन्दगी मे करते क्या हैं? यही तो करते है। इधर आप ऊर्जा कमाते और यौन मे व्यय करते है उधर सन्यासी ऊर्जा को सदेह की दृष्टि से देखता है, उपवास करता है, खाना कम खाता है। आप कमाकर खो देते हैं, वह

कमाता ही नहीं। लेकिन संन्यासी लम्बे अरसे से अपने को धोखा दे रहा है। उपवास से यौन नष्ट नहीं होता, बैठा पड़ा रहता है। पड़ा रहता है, प्रतीक्षा करता रहता है कि जब शक्ति मिले तो उठूं।

गृहस्थ और संन्यासी भ्रान्तियों के उलट छोर हैं। अकाम का अर्थ है कि शक्ति तो पैदा हो लेकिन यौन से विसर्जित न हो। जब शक्ति बहुत बड़े पैमाने पर संगृहित होती है जब उसे सम्भोग में विसर्जित नहीं किया जाता तब वह आपके भीतर ऊर्ध्वगमन शुरू करती है। जब भी कोई शक्ति रोकी जाती है तब वह ऊपर उठती है। अभी आपकी शक्ति यौन केन्द्र के ऊपर नहीं उठती। और ध्यान रहे सेक्स मनुष्यका निम्नतम सेंटर है। समझ लें कि मनुष्य के भीतर सेक्स जैसे छह द्वार और हैं और ऊर्जा एक-एक द्वार पर जाती है। जब वह यौन केन्द्र से ऊपर उठकर अन्य चक्रों पर जाती है तब आप हैरान होते हैं और कहते हैं कि मैं कैसा पागल था, मैं शक्ति को कहाँ खो रहा था? सचमुच आप व्यक्तित्व की पहली परत पर ही जीते हैं—सेक्स की परत पर जहाँ कंकड़-पत्थर से ज्यादा कुछ नहीं मिल सकता। अगर वहाँ से ऊर्जा इकट्ठी हो और थोड़ी आगे बढ़े तो दूसरा चक्र सक्रिय हो उठता है, खुलने लगता है। जब आपकी ऊर्जा सातवें चक्र पर पहुँचती है मस्तिष्क तक, तब सेक्स-सेंटर (मूलाधार) और सहस्रार के बीच अद्भुत शक्ति प्रवाहित होने लगती है, आपकी कुंडलिनी जाग जाती है, आप आत्मज्ञान को उपलब्ध होते हैं। जिस दिन आपकी समस्त ऊर्जा इकट्ठी होकर आप के मस्तिष्क के चक्रों को चलाने लगती है, उस दिन पहली बार आप ब्रह्म को उपलब्ध होते हैं।

लेकिन हम तो पहले ही चक्र पर खो जाते हैं। वह हमारा छिद्र सब कुछ विदा करवा देता है। लेकिन मैं यह नहीं कहता कि आप सेक्स को काम-वासना को दबाएँ। अगर आपने दबाया और रोका तो वह विद्रोह कर उठेगी। शक्ति को दबाया नहीं जा सकता, सिर्फ मार्ग दिया जा सकता है। सेक्स से लड़नेवाले लोग जिंदगी भर के लिए कामुक हो जाते हैं। सेक्स से लड़कर कभी कोई व्यक्ति ऊपर के चक्रों तक नहीं पहुँचा। ब्रह्मचर्य सेक्स से लड़ाई नहीं है।

इसलिए याद रखें कि हमारे पास अतिरिक्त ऊर्जा चाहिए हो जो ऊपर के चक्रों को गतिमान कर सके। ऊर्जा को पैदा करने का ही नहीं, उसे नई दिशाएँ देने का भी इंतजाम होना चाहिए। इस सम्बन्ध में दो-तीन सूत्र स्मरणीय हैं।

पहला सूत्र तो यह है कि यदि हम वर्तमान में जीएँ तो ऊर्जा इकट्ठी होगी और ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगेगी। जो भविष्य में जीने की कोशिश करता है उसकी ऊर्जा बह जाती है। भविष्य दूर है और भविष्य से हमारा जो सम्बन्ध है वह कामना का ही हो सकता है। भविष्य है नहीं, भविष्य होगा। और होगा से हमारा सम्बन्ध सिर्फ कामना या इच्छा का हो सकता है। वासना का मतलब ही है भविष्य में जीना

पडेगे जो काम नही है, जो सिर्फ खेल है, लीलाएँ हे । कृष्ण की तरह उसे यही समझना होगा कि जिन्दगी एक खेल हे । नाच रहे हैं, पर कुछ मिलनेवाला नही । बाँसुरी वजा रहे है, पर कुछ मिलनेवाला नही । राम की तरह उसकी कसौटी उपयोगिता की न होगी । राम वहुत उपयोगितावादी हैं, इसलिए एक धोवी के कहने पर पत्नी को वाहर कर देते है । रघुकुल-परम्परा के लिए वे क्या नही करते ? परन्तु यश, वश आदि सव-कुछ उपयोगिता हे, वहुत गम्भीर मामला है । अगर राम की जगह कृष्ण होते तो सीता को न निकालते । हो सकता हे, वे खुद ही बाँसुरी वजाते हुए भाग जाते । वे सीता की अग्नि-परीक्षा भी न लेते—बहुत वेहूदी वात मालूम पडती । प्रेम की भी कही परीक्षा होती है ? प्रेम अपने आप मे पवित्र है : उसकी और कोई पवित्रता नही हो सकती । सीता ने राम की अग्नि-परीक्षा नही ली, यद्यपि राम भी अकेले थे, उनका भी क्या भरोसा ? स्त्री का तो थोडा-बहुत भरोसा हो सकता है, पुरुष का होना जरा मुश्किल है । लेकिन सीता ने नही कहा कि राम की भी परीक्षा हो । सीता के लिए जिन्दगी एक गम्भीरता नही, खेल हे । और स्मरण रहे, प्रेम परीक्षा नही माँगता, वह सव परीक्षाएँ दे सकता हे ।

जिन्दगी जितनी गम्भीर होती जा रही है कामुकता उतनी ही वढती जा रही हे । आप जितना गम्भीर होगे, तनाव से उतना ही भरते जायँगे और तनाव से जितना ही भरेगे उतना ही रिलीफ चाहेगे, काम की ओर प्रवृत्त होगे और आपकी कामुकता वढेगी । आप शक्ति फेककर अपने वोझिल चित्त को हलका करेगे ।

तीसरा सूत्र है—जिन्दगी को गम्भीरता से न ले । गम्भीरता वुनियादी रोग है, लेकिन आमतौर से साधु-संन्यासी वहुत गम्भीर होते है । जिन्दगी गम्भीरता नही है। जो जिन्दगी मे गम्भीर है वह कभी काम से मुक्त नही हो सकता । जिन्दगी खेल वन जाय तो आदमी काम से मुक्त हो सकता हे । ध्यान रहे कि वच्चे इतने अकाम इस कारण होते हैं कि उनकी जिन्दगी गम्भीर नही होती । जैसे-जैसे वे गम्भीर होते जाते है, वैसे-वैसे उनकी जिन्दगी मे सेक्स भरता जाता है ।

सेक्सुअल मैच्युरिटि की दृष्टि से लडकियाँ जहाँ चौदह साल मे सयानी होती थी वहाँ अव वे ग्यारह साल मे सयानी होने लगी हैं और सम्भावना है कि इस सदी के अत मे वे सात साल मे सयानी होने लगेगी । असल मे लडकियाँ अव सात साल मे ही उतनी गम्भीर हो जाती है जितनी चौदह साल मे पहले हुआ करती थी । शिक्षा, व्यवस्था, शिष्टाचार, सभ्यता आदि रोज भारी होती जा रही है । इस वोझ और गम्भीरता के अनुपात मे ही वच्चे सेक्स की शक्ति को वाहर फेकने के लिए मार्ग खोजने लगते है । इससे उलटा भी हो सकता है । अगर हम देर तक उन्हे हलका रख सके तो वीस-पच्चीस साल तक वे काम से वचाए जा सकते है । जितनी गम्भीरता वढ़ेगी, उतना वोझ वढेगा, जितना वोझ वढेगा, उतना तनाव होगा और

जितना तनाव होगा उतना ही निकास की माग होगा। इसी कारण पहले गुरुकुल मे युवको की जिन्दगी को खेल बनाया जाता था। न परीक्षाओ की गम्भीरता थी, न जिन्दगी से लडने की गम्भीरता थी। जिन्दगी एक खेल था गुरुकुल मे, इसलिए पच्चीस साल तक युवक काम के बाहर रह जाते थे उन दिनो।

अब ऐसा नही होता। बाप जब भी बेटे से मिलता है तब गम्भीर होता है। बेटा भी बाप से बचा रहता है। मेरी सलाह है कि आप बच्चो के साथ खेलें—एक घटा खेलें और देखें कि आपकी काम शक्ति मे कितना फर्क पडने लगा है। चित्र बनाएँ घर की दीवालो को स्वय रगें। यह जरूरी नही कि वह चित्र किसी बडे चित्रकार के चित्र-जैसे हो, जरूरी यह है कि वह आपसे निकले। घर के लोगो के साथ नाचें, खेलें—कभी घर के लोगो के साथ नाचा है आपने? अकाम की ओर बढना चाहते हो तो जीवन को सृजनात्मक बनाएँ—दो चार क्षण भी सृजन मे लगाएँ, बगीचे मे काम करें, नाचें, गाएँ, गम्भीरता को कुछ देर के लिए अलग कर दें। पल पल जीयें, भविष्य और कामना से मुक्त हो, सृजनात्मक बनें। चरित्र बनाने मे ही न लगें, बल्कि जीवन मे थोडी सी लीला भी आने दें और, अतिम बात, जब भी मौका मिले तो होशपूर्वक समस्त इन्द्रियो के द्वार बन्द कर भीतर देखें, भीतर सुनें भीतर सूघें। इन्द्रियो से जो बाहर किया है वह भीतर करने की कोशिश करें। भीतर के अपने नाद हैं अपने स्वाद हैं।

पंचम अध्याय

अप्रमाद

दुमपत्तए पडुयए, जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए॥[1]
—उत्त० अ० १०, गा० १

यद्यपि मनुष्य सात मजिलो का भवन है, फिर भी वह केवल एक मजिल को जानता है, उस एक मे ही जीता और मर जाता है। जिन मजिल मे हम जीते हैं, उसका नाम चेतन मन है। उसके नीचे दूसरी मजिल है जो तलघरे मे है, जमीन के नीचे है। उस मजिल का नाम अचेतन मन है। उससे भी थोडा और नीचे समष्टि अचेतन का तल है और उसके भी नीचे ब्रह्म अचेतन का तल। जिस मजिल पर हम रहते है उसके ठीक ऊपर अति-चेतन की ('सुपर-कॉन्सस' की) मजिल है और उसके ऊपर समष्टि चेतन ('कलेक्टिव कॉन्सस') की मजिल। समष्टि चेतन की मजिल के ठीक ऊपर ब्रह्म-चेतन ('कॉज्मिक कॉन्सस') का तल है। यद्यपि यह मकान सतमजिला है, फिर भी हममे से अधिकाश लोग चेतन मन मे ही जीते और मर जाते है। आत्मज्ञान का अर्थ है सात मजिल की इसी व्यवस्था से पूर्णतया परिचित हो जाना। इसमे कुछ भी अनजाना रहा तो मनुष्य अपना मालिक कभी नहीं हो सकता।

चेतन मन की मजिल मे ही जीते रहने का नाम प्रमाद है। प्रमाद का अर्थ है मूर्छा, वेहोशी, निद्रा या सम्मोहित अवस्था। और साधना का लक्ष्य है इस प्रमाद को तोड़ना, इस मूर्छा से जागना। चूंकि हम एक ही मजिल मे जीते है और केवल उससे ही परिचित रहते हैं, हमारी अवस्था उन लोगो की-सी होती है जो सोए हुए होते हैं। यदि हम जागे हुए होते तो वाकी मजिलो से अपरिचित रह जाना असम्भव होता। हम सोए हुए है, इसलिए हम जहाँ है वही जी लेते है। हमे और मजिलो का पता नही चलता।

फ्रॉयड ने जिस अचेतन मन की वात की है वह उसका अनुभव नही है, केवल अनुमान है। इसलिए पश्चिम का मनोविज्ञान अभी भी योग नही वन पाया। मनोविज्ञान उस दिन योग वनेगा, जिस दिन वह अनुभव मे रूपातरित होगा।

---

१. जिस तरह रात वीतने पर वृक्ष के पीले पत्ते झड़ जाते हैं, उसी तरह मनुष्य-जीवन का भी एक-न-एक दिन अन्त आता ही है; ऐसा समझकर हे गौतम! तू समय-मात्र का प्रमाद न कर।

ऊपर और नीचे फली हुई मन की मजिला का हमे तब तक पता नही चलेगा जब तक हम अपनी मजिल म सोए हुए हैं। इसलिए पहले हम अपने सोए हुए होने के तथ्य को ठीक से समझ लें जिससे जागने की यात्रा शुरू की जा सके। क्या आपने कभी खयाल किया कि आप सोए हुए आदमी हैं? शायद नही, क्योकि सोए हुए आदमी को इतना भी पता चल जाय कि म सोया हुआ हूँ तो जागने की शुरुआत हो जाती है। असल म इतनी बात का पता चलना कि मैं सोया हुआ हू, जागने की खबर है। सोए हुए का अनुभव भी जागने का अनुभव है नींद का नहीं।

हम क्रोध करते हैं, गालियां बकते हैं सांझ को क्षमा मांगते हैं और कहते हैं—माफ करें, मेरे मुह से ऐसी बातें निकल गई जिन्हें मैं नही चाहता था। क्या पूछा जा सकता है कि मैं नही चाहता था तो बातें कैसे निकल गई? क्या मैं जागा हुआ था या सोया हुआ? जब जब मैंने क्रोध किया है तब-तब मुझे यह अनुभव हुआ है कि जो मुझे नहीं करना चाहिए वही मैं करता रहा हूँ। इससे जाहिर है कि मैं सोया हुआ आदमी हूँ। यदि सोया हुआ न होता तो मुझे इस बात का पता रहता कि मैं वही कर रहा हूँ जो मुझे नही करना चाहिए। हम पश्चात्ताप इसलिए करते हैं कि हमारे समस्त कार्य बेहोशी म होते हैं। जब होश का क्षण आता है तब पछतावा होता है। होश म जीनेवाले आदमी की जिन्दगी म पश्चात्ताप नही होता क्योंकि वह जो भी करता है वह पूरी तरह समझ-बूझकर करता है। पछताता वह है जो सोया हुआ है।

अँगरेजी का एक मुहावरा है—'फॉलिंग इन लव'। मुहावरा इसलिए ठीक है कि हम प्रेम भी सोयी हुई हालत म करते हैं, प्रेम म मूछित हो जाते हैं। इसलिए प्रेमी-जन अक्सर कहते हैं कि मैंने प्रेम नहीं किया, हो गया! हो गया का क्या मतलब है? चीज नींद म ही होती हैं, जागने म की जाती हैं। आपने प्रेम किया है या हो गया है? अगर हो गया है तो आप बेहोश आदमी हैं। आप मशीन हैं यत्र हैं आप पर चीजें घट रही हैं। आप उन्हें कर नही रहे, यही आपका प्रमाद है। आप जो भी कर रहे हैं सोए हुए कर रहे हैं। प्रेम घृणा दोस्ती दुश्मनी, क्रोध, क्षमा प्रायश्चित—सब सोए हुए हो रहा है। आपको जिया जा रहा है। आपकी इस अवस्था का नाम प्रमाद है। मैं रात की नींद की बात नहीं कर रहा हूँ दिन की नींद की बात कर रहा हूँ, जब कि हम जागे हुए भी सोए हुए होते हैं। कभी-कभी, किसी खतरे के क्षण म, थोड़ी देर हम जाग उठते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए हमारे मन म खतरे की भी इच्छा पैदा होती है खतरे म भी थोड़ा रस आने लगता है क्योंकि खतरे म हम जागते हैं। जुए का पागलपन जागने के रस से ही आता है। हम हजार तरह के खतरे चुनते हैं जिनमें हम क्षणभर को जाग पाते हैं। फिर नींद शुरू हो जाती है। इन आकस्मिक उपायों से कोई कभी पूरा तरह जाग नहीं सकता।

साधारण जन की बात तो दूर रही, आज का कलाकार भी सोया हुआ आदमी है। सच पूछिए तो जहाँ कहानी खत्म होनी चाहिए वहाँ खत्म न होकर वह कहीं और भटक जाती है, कहीं और पूरी होती है। कवि चाहता कुछ है, लिखता कुछ। इसका कारण यह है कि सचेतन कला अभी तक पैदा ही नहीं हुई, निर्वैयक्तिक कला का अभी तक जन्म ही नहीं हुआ। अभी तो सोए हुए आदमी कविता लिखते हैं। वे शुरू कुछ करते हैं और हो कुछ जाता है। सोए हुए आदमी चित्र बनाते हैं, कहानियाँ रचते हैं, दुनिया चलाते हैं। सोए हुए आदमी का क्या भरोसा ? लेकिन कहानी की बात छोड़ दें। जिन्दगी में आप जो बनना चाहते थे, वह बन पाए ? शायद ही कोई ऐसा मिले जो कहे—मैं बन गया जो मैं बनना चाहता था।

हमें इस बात का साफ-साफ ज्ञान नहीं होता कि हम क्या बनना चाहते हैं। नींद में यह कैसे साफ हो सकता है ? पता ही नहीं चलता कि हमें क्या बनना है। एक धीमी-सी, सोयी हुई आकांक्षा होती है कि मैं यह बनना चाहता हूँ, साफ नहीं। साथ ही यह भी पता चलता रहता है कि मैं वह भी नहीं बन पा रहा हूँ जो मैं बनना चाहता था। मरते वक्त सभी को लगता है कि जिन्दगी बेकार गई, जो होना चाहते थे वह नहीं हो पाये—हाँलाकि मरता हुआ आदमी भी साफ-साफ नहीं कह सकता कि क्या होना चाहते थे।

हम जो तय करते हैं वह खो जाता है, जो नहीं तय करते वह हो जाता है। तय करके लौटते हैं कि आज पत्नी से झगड़ा नहीं करना है। पत्नी तय करके रखती है कि अब कलवाली साँझ फिर न आ जाय। फिर वे आमने-सामने आते हैं और कल की साँझ वापस लौट आती है। जो तय किया था वह खो जाता है। यह हमारी सोयी हुई अवस्था है। महावीर ने इसे प्रमाद कहा है—प्रमाद, अर्थात्, सोए हुए होना। यदि यह स्मरण आ जाय कि मैं सोया हुआ हूँ तो खोज शुरू हो सकती है। इसलिए अप्रमाद का पहला सूत्र है इस बात की समझ कि मैं सोया हुआ हूँ, नींद का बोध। नींद को तोड़ने का पहला सूत्र है नींद को ठीक से पहचान लेना, यह जान लेना कि आप चाहे दूकान जाते हों या मन्दिर, आप हमेशा सोए हुए जाते हैं, सोए हुए मित्रता करते हैं, सोए हुए उठते-बैठते हैं। ध्यान रहे, कुछ प्रमादी धर्म को भी नींद में ही साधते हैं, नींद में ही मालाएँ फेरते हैं, नींद में ही व्रत करते हैं। धर्म सोए-सोए नहीं हो सकता। सोए-सोए, सिर्फ अधर्म हो सकता है। इसलिए धर्म के नाम पर भी सिर्फ अधर्म ही होता है।

साधना गहराई है और सिद्धि एक ऊँचाई। साधना नीचे जाती है, सिद्धि ऊपर जाती है। जड़ें जितना ही नीचे उतरने लगती हैं, वृक्ष उतना ही आकाश को छूने लगते हैं। अगर वृक्ष को ऊपर जाना है तो जड़ को नीचे जाना ही पड़ता है। सीधे ऊपर जाने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए साधक को पहले अपनी ही गहराइयों

में उतरना पड़ता है ताकि वह सिद्धि के आकाश को छू सके। उसे चेतन से अचेतन में, अचेतन से ब्रह्म अचेतन में जाना पड़ता है। जब वह चेतन से अचेतन में जाता है तब अचानक ऊपर का भी एक दरवाजा खुल जाता है—अतिचेतन का दरवाजा। जब वह समष्टि अचेतन में प्रवेश करता है तो साथ ही समष्टिगत चेतन का भी दरवाजा खुल जाता है। जब वह ब्रह्म-अचेतन में जाता है तब उसी समय ब्रह्मचेतन का दरवाजा खुल जाता है। वह जितना नीचे उतरता है उतना ही ऊँचा उठता जाता है। इस लिए ऊँचाई की फिक्र छोड़ दें, गहराई की फिक्र करें।

अपनी ही गहराइयों में हम कैसे उतरें?

अगर कोई पूछे कि हम तैरना कैसे सीखें तो उसे हम क्या कहेंगे? उसे हम कहेंगे कि तैरना शुरू करो। पहली बार जब कोई पानी में उतरता है तब बिना तैरना सीखे ही उतरता है। असल में बिना सीखे तैरने के लिए उतर जाने से ही सीखने की शुरुआत होती है। हाँ, इतनी ही सावधानी बरतें कि गहरे पानी में न उतरें।

तो आपसे मैं परम जागरण की आकांक्षा नहीं रखता हूँ। थोड़े से पानी में उतरना शुरू करें। अपनी छोटी छोटी क्रियाओं को जानना शुरू करें। छोटी छोटी क्रियाओं में प्रति जागना शुरू करें। कपड़ा पहन रहे हों तो जागे हुए पहनें, जूते डाल रहे हों तो जागे हुए डालें, कुछ सुन रहे हों तो जागे हुए सुनें। इसके बाद उन क्रियाओं के प्रति जागें जिनके लिए पछताना पड़ता है। क्रोध घृणा, अभद्रता आदि के प्रति जागें। अगर आप सुबह से उठकर साँझ तक जागने का प्रयोग करेंगे तो थोड़े ही दिनों में आप एकदम दूसरे आदमी हो जायेंगे। आपका प्रमाद टूट जायगा। इसका प्रमाण क्या होगा कि आपका प्रमाद टूट गया? इसका प्रमाण यह होगा कि नींद में भी आपका जागरण शुरू हो जायगा। जिस दिन जागरण में आपकी नींद टूटेगी उसी दिन आप नींद में भी सचेतन प्रवेश कर सकेंगे।

आप रोज सोते हैं। यदि आपकी उम्र साठ साल की है तो आपने बीस वर्ष सोकर बिताए। लेकिन आपको पता है कि नींद कब आती है? कैसे आती है? क्या है नींद? अपने जीवन की इतनी बड़ी घटना से भी आपका परिचय नहीं हुआ रहता। अभी आप न तो यह जानते हैं कि आप कब सोए, नींद का अंधेरा आपके ऊपर कैसे गिरा, आप नींद में कैसे डूब और न यह कि सुबह नींद कैसे टूटी, कैसे विदा हो गई? जिस दिन आप जागरण की घड़ियों में जाग जायेंगे और जागने की क्रिया जागकर करने लगेंगे उस दिन आपका नींद में भी सचेतन प्रवेश होगा।

रचे। घर जाएँ तो तय करके जाएँ कि टूट पडना है किसी के ऊपर। पूरी तरह क्रोध करें तो आप देख पाएँगे क्रोध को! इधर क्रोध चलेगा, उधर आप देखते रहेंगे कि क्रोध चल रहा है। अगर एक बार भी हम क्रोध का अभिनय कर सके तो फिर कभी क्रोध बिना अभिनय के नही होगा। अभिनय ही हो जायगा। तो जो चीजे गहरी है उनको अभिनय से शुरु करे। जो चीजे गहरी है यदि उनपर होशपूर्वक अभिनय करें तो आप जाग सकेंगे और अगर जागने के क्षणो मे जागना आ जायगा तो फिर नीद के क्षणो मे जागना शुरु हो जायगा। जिस दिन आप नीद मे जाग जाएँगे, उस दिन आप अचेतन मे प्रवेश करेगे। कृष्ण ने गीता मे यही बात कही है। रात मे जब योगी सोते है तब भी वे जागते रहते हैं। अगर आप नीद मे जागे हुए सो सके तो एक अद्‌भुत, चमत्कारपूर्ण घटना घटेगी—दूसरे दिन सुबह आप जैसी ताजगी का अनुभव करेगे वैसी ताजगी का आपको कभी पता भी न रहा होगा। उस ताजगी का शरीर से कोई सम्बन्ध न होगा। बहुत गहरे मे वह आपकी आत्मा की ताजगी होगी। आपके स्वप्न तिरोहित हो जायँगे, क्योकि आप स्वप्नो के प्रति जाग जायँगे। ऐसा नही कि आपको बाद मे पता चलेगा कि स्वप्न आए थे। जब स्वप्न आने लगेंगे तभी आपको इसकी जानकारी हो जायगी।

चेतन मन की क्रियाओ के प्रति जागने से अचेतन मन मे प्रवेश होता है, अचेतन मन की क्रियाओ के प्रति जागने से समष्टि अचेतन मे प्रवेश। स्वप्न अचेतन मन की ही क्रिया है। स्वप्न के प्रति जागते ही आप पाएँगे कि एक दरवाजा और खुल गया जो समष्टि अचेतन का दरवाजा है। इस समष्टिगत अचेतन की अपनी क्रियाएँ हैं जिनको धर्मो ने बडा महत्त्व दिया है। इस सामूहिक अचेतन से ही दुनिया के सभी मिथक पैदा हुए है। सृष्टि का जन्म, प्रलय की सम्भावना, परमात्मा का रूपरग, आकार, नाद आदि का सम्बन्ध इसी अचेतन से है। नृत्य भी सामूहिक अचेतन से पैदा होता है, इसलिए नृत्य को समझने के लिए दूसरे की भाषा का ज्ञान अनिवार्य नही। जो फ्रासीसी भाषा नही जानता वह भी पिकासो की पेंटिंग का आनन्द ले सकता है। चूँकि बहुत गहरे मे हम सब एक हैं इसलिए दुनिया के सारे धर्मो के प्रतीक कई बातो मे समान है। दुनिया की भिन्न-भिन्न भाषाओ मे जो समानता है वह समष्टिगत अचेतन की समानता है। सागर की लहरो की तरह हम अलग-अलग है, लेकिन बहुत गहरे मे हम परस्पर अभिन्न है।

समष्टिगत या सामूहिक अचेतन की क्रियाओ के प्रति जागने से ब्रह्म-अचेतन मे प्रवेश होता है। ब्रह्म-अचेतन मे उतरने का अर्थ प्रकृति मे उतरना है। प्रकृति अर्थात् वह जो कृति के भी पहले था, अर्थात् प्री-क्रीएशन। जो सृष्टि के पहले था, जिससे सब पैदा हुआ, जो पैदा होने के पहले भी था वह है प्रकृति। जिसे ब्रह्म-अचेतन कहा जाता है वह है प्रकृति। उससे ही सब आया। चेतन और अचेतन मन तो मेरा है,

लेकिन समष्टि-अचेतन हमारा है, मेरा नहीं। वहा अचेतन हमारा भी नहीं, सबका है। उसमे पत्थर, पहाड पशु-पक्षी, नदी-नाले सब सम्मिलित है। वह प्रकृति है। वहाँ जो उतर जाय उसके लिए आगे उतरने को नहीं रहता। वह अनन्त है, अथाह है शून्य खाई है। उसमे उतरने की प्रक्रिया अप्रमाद है। जहा आप हैं वहा से जागना शुरू करें। जिस दिन आप वहाँ जाग जाएंगे उस दिन आपको नीचे के दरवाजे की कुजी मिल जायगी। फिर वहाँ जागना शुरू करें और नीचे की कुजी मिल जायगी। जब तक आप चेतन में हैं, तब तक आप अति चेतन में नहीं जा सकते ऊपर नहीं चढ सकते। आप की जडो को अचेतन में उतरना ही पडेगा। जिस दिन आपकी जड अचेतन मे उतर जायँगी उस दिन आपकी शाखाएँ अति चेतन मे फैल जायँगी। आप जितना नीचे उतरेंगे अँधेरा उतना ही बढता चला जायगा। वहा अचेतन में, प्रकृति में पूर्ण अधकार है, अधकार ही अधकार है। इसके विपरीत आप जितना ही ऊपर बढेंगे प्रकाश उतना ही बढता जायगा। वह जो ब्रह्म चेतन है ब्रह्म है, वह पूर्ण प्रकाश है प्रकाश ही प्रकाश है। लेकिन ऊपर जाने का रास्ता नीचे होकर जाता है। जो नीचे खाई है उसके द्वारा ही चोटी तक पहुँचा जाता है। साधना की यही सबसे बडी कठिनाई है। यही समझना सबसे ज्यादा कठिन हो जाता है कि ऊपर जाने के लिए नीचे जाने की आवश्यकता होती है।

अत जिस धर्म के अनुभव में जाना है उसे पहले नीचे उतरना पडेगा। जिसे सन्त होना हो उसे बहुत गहरे अर्थों में पापी होना पडता है। जो व्यक्ति गहरे अर्थों में पापी होने से बच गया, वह गहरे अर्थों में सत नहीं हो सकता। नीत्से ने ठीक ही कहा है कि जिस वृक्ष को आकाश छूना है उसे अपनी जडें पाताल तक पहुँचाने की हिम्मत जुटानी पडती है।

इसलिए ऊपर की फिक्र छोड दें, नीचे की फिक्र करें और एक एक कदम पर प्रमाद को तोडते चल जायँ। कहाँ से शुरू करेंगे ? शुरू सदा वहीं से करना पडता है जहाँ आप हैं। जागने मे जागना शुरू करना पडेगा। महावीर अपने भिक्षुओं से निरन्तर कहते थे—विवेक से उठो, विवेक से चलो विवेक से बढो। विवेक का अर्थ है होश, 'अवयरनेस'। महावीर कहते हैं—जागते हुए चलो, होश में चलो। होश पूर्वक जो भी किया जाता है वह सदा ठीक होता है। होशपूर्वक पुण्य ही किया जा सकता है, पाप नहीं। जो विवेक में जीता है वह गल्ती नहीं करता, गल्ती नहीं करने की कसम भी नहीं खाता। व्रत सिर्फ अधे लेते है। आँखवाले लोग व्रत नहीं लेते। वे जिस ढग से जीते है, वही व्रत है।

महावीर जब कहते हैं कि विवेक से चलो, तो इसका मतलब है कि चलने की क्रिया होशपूर्वक हो अप्रमादी हो। पैर उठे तो जानो कि उठा। जमीन पर गिरे तो जानो कि गिरा। कोई भी क्रिया ˜ * ाय। इसलिए महावीर स

जब किसी ने पूछा कि आप साधु किसे कहते हैं, तो उन्होंने यह नहीं कहा कि जो मुँह पर पट्टी बाँधता है उसे मैं साधु कहता हूँ। अगर महावीर ऐसा कहते तो दो कौडी के आदमी हो जाते! उन्होंने यह भी नही कहा कि जो नगा रहता है उसे मैं साधु कहता हूँ। अगर वे ऐसा कहते तो बडे नासमझ सिद्ध होते! उन्होंने कहा कि मैं 'सुत्ता मुनि' को साधु कहता हूँ। जो सोया हुआ नहीं है, उसे मैं मुनि कहता हूँ। जो सोया हुआ है, उसे मैं असाधु कहता हूँ—'सुत्ता अमुनि'। अगर आप जागकर जी रहे हैं तो आपकी जिन्दगी में साधुता उतर आयगी। अगर आप सोकर जी रहे हैं तो आपकी जिन्दगी मे असाधुता के सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। आप सोये-सोये भी साधु बन सकते हैं, लेकिन तब वह साधुता बनी हुई—कृत्रिम—होगी और बने हुए साधु असाधुओं से भी बदतर होते हैं, क्योंकि उन्हे यह भ्रम पैदा हो जाता है कि वे साधु हैं। जब असाधु को साधु होने का भ्रम पैदा हो जाय तब जनम-जनम लग जायेंगे इस भ्रम से छूटने मे।

अप्रमाद साधना का सूत्र है। अप्रमाद साधना है। प्रत्येक क्रिया स्मरण-पूर्वक हो। एक भी क्रिया ऐसी न हो जो कि बेहोशी मे हो रही हो। बस आपकी धर्म-यात्रा शुरू हो जायगी। जाये पाताल मे ताकि पहुँच सकें मोक्ष मे। उतरे गहरे ताकि छू सके ऊँचाई को। जागने की कोशिश करे और जागने की कोशिश जब गहरी हो जाय तब रुक न जायँ, अन्यथा दूसरे चरण पर नीद पकड लेगी। स्मरण रखें कि यात्रा लम्बी है परन्तु असम्भव नही, कठिन है। नीचे-नीचे उतरते जायँ, ऊपर की फिक्र छोड दे। सात मंजिलो का यह मकान जिस दिन पूरा जान लिया जाता है, उस दिन फिर इसमे सात मंजिलें नही रह जाती। बीच के सब परदे गिर जाते हैं। दीवाल हट जाती है और एक भवन रह जाता है। उस एक का अनुभव ही परमात्मा का अनुभव है! उस एक का अनुभव ही मोक्ष का अनुभव है!

तृतीय खंड

जापान के एक पर्वत-शिखर पर पच्चीस हजार वर्ष पुरानी मूर्तियो का एक समूह है। ये मूर्तियाँ 'दोवु' कहलाती हैं। अब तक उन मूर्तियो को समझना सम्भव नही हुआ था, किन्तु जिस दिन हमारे यात्री अतरिक्ष मे गए, उसी दिन 'दोवु' मूर्तियो का रहस्य खुल गया। अतरिक्ष मे यात्रियो ने जिन वस्तुओ का उपयोग किया, वे ही इन मूर्तियो के ऊपर है। पत्थर मे खुदे है। अब मानना ही पडता है कि पच्चीस हजार साल पहले आदमी ने अतरिक्ष की यात्रा की थी और अतरिक्ष या किन्ही ओर ग्रहो से आदमी जमीन पर आता रहा है। आदमी जो जानता है वह पहली वार जान रहा है, ऐसी भूल मे पडने का कारण नही है। आदमी वहुत वार जान लेता है और भूल जाता है। वहुत वार शिखर छू लिये गए है और खो गए है।

महावीर एक वहुत वडी सस्कृति के अन्तिम व्यक्ति है। उस सस्कृति का विस्तार कम से कम दस लाख वर्ष है। महावीर जैन-विचार और परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर हैं—चौवीसवे। आज इन सूत्रो को समझना इसलिए कठिन है कि वह पूरा-का-पूरा वातावरण जिसमे ये सूत्र सार्थक थे, आज कही भी नही है। हो सकता है कि तीसरे महायुद्ध के वाद जव सारी सभ्यता विखर जायगी, लोगो के पास हवाई जहाज मे उडने की याददाश्त भर रह जायगी। हवाई जहाज तो विखर जायेंगे, याददाश्त रह जायगी। यह याददास्त हजारो साल तक चलेगी और वच्चे हँसेगे, कहेंगे कि कहाँ है हवाई जहाज? ऐसा मालूम होता है कि ये कहानियाँ है, पौराणिक कथाएँ हैं, मिथ हैं।

(३) चौवीस जैन तीर्थंकरो की ऊँचाई, शरीर की ऊँचाई आज वहुत काल्पनिक मालूम पडती है। केवल महावीर की ऊँचाई सामान्य आदमी की ऊँचाई है। शेष तेईसो तीर्थंकर वहुत ऊँचे थे। इतनी ऊँचाई हो नही सकती। अव तक लोग ऐसा ही सोचते थे। अव वैज्ञानिक कहते हैं कि जैसे-जैसे जमीन सिकुड़ती गई है वैसे-वैसे जमीन का गुरुत्वाकर्षण भारी होता गया है और जिस मात्रा मे गुरुत्वाकर्पण भारी होता है, उसी मात्रा मे लोगो की ऊँचाई कम होती जाती है। छिपकिली आज से दस लाख पहले हाथी से वडा जानवर थी। वह अकेली वची, उसकी जाति के अन्य सारे जानवर खो गए। अगर जमीन का गुरुत्वाकर्षण और सघन होता गया तो आदमी और छोटा होता चला जायगा। अगर आदमी चाँद पर रहने लगे तो उसकी ऊँचाई चौगुनी हो जायगी, क्योकि चाँद पर चौगुना कम है गुरुत्वाकर्पण।

नमोकार को जैन-परम्परा ने महामत्र कहा है। पृथ्वी पर दस-पाँच ही ऐसे मंत्र हैं जो नमोकार की हैसियत के है। असल मे प्रत्येक धर्म के पास महामत्र अनिवार्य है, क्योकि इसके इर्दगिर्द ही सारी व्यवस्था, सारा भवन निर्मित होता है।

ये महामत्र करते क्या है? इनका प्रयोजन क्या है?

आज ध्वनि-विज्ञान वहुत-से नए तथ्यो के करीव पहुँच रहा है। उसमे एक तथ्य

यह है कि इस जगत म पदा की गई कोई भी ध्वनि कभी भी नष्ट नहा होती। वह अनन्त आकाश म सगृहीत होती चली जाती है, आकाश म भी सूक्ष्म तल पर गूञ्ज बन जाता है।

(४) अगर सद्भाव और मगल-कामना से भरा हुआ कोई आदमी जल की एक मटकी को कुछ देर हाथ म लिये रहे तो उस मटकी का जल गुणात्मक रूप स परिवर्तित हो जाता है। रूसी वज्ञानिक कामेनियाव और अमरीकी वैज्ञानिक डॉ० रुडाल्फ किर ने अनेक प्रयोगो से यह सिद्ध किया है कि एसे जल म रासायनिक परिवतन नहा होता लेकिन गुणात्मक परिवतन अवश्य हो जाता है। अगर उस जल को बीजा पर छिडका जाय तो व जल्द अकुरित होन ह। उनम बडे फल लगत है उनके पौधे ज्यादा स्वस्थ हात है। अगर रुग्ण, विक्षिप्त और 'नेगेटिव इमोशन' से भरे हुए व्यक्ति के हाथ मे रखा गया जल बीजा पर छिडका जाय तो बीज अकुरित ही नही होते, या अकुरित हाते ह तो रुग्ण अकुरित होते ह। यदि मगल-अमगल भावनाओ के कारण जल म यह रूपान्तरण हो सकता है तो हमारे चारो ओर फल हुए आकाश म भी हो सकता है। किसी मत्र की प्राथमिक आधारशिला यही है। मगल भावनाओ से भरा हुआ मत्र हमारे चारो ओर आकाश म गुणात्मक अतर पैदा करता रहता है। और उस मत्र से भरा हुआ व्यक्ति भी जब आपके पास से गुजरता है तब आपम तत्काल परिवतन हो जाता है।

(५) एक दूसरे रूसी वज्ञानिक किरलियान ने हाइ फ्रिक्वेंसी की फोटोग्राफी विकसित की है। अगर एसी फोटोग्राफी स मेरे हाथ का चित्र लिया जाय तो उससे मेरे हाथ का ही चित्र नही आता इससे जो किरणें निकल रही हैं उनका भी चित्र आता है। आश्चय की बात तो यह है कि अगर मैं निषेधात्मक विचारो स भरा हूँ तो मेरे हाथ के आसपास जो विद्युत् ऐटम्स ह उनका चित्र अस्वस्थ, रुग्ण और अराजक होता है, मानो किसी पागल आदमी द्वारा खीची गई लकीरें हो। शुभ भावनाओ से भरे हुए व्यक्ति के हाथ के आसपास जो किरणें ह उनका चित्र लयबद्ध, सुदर और सानुपातिक होता है। किरलियान का कहना है कि बहुत जल्द ही वह समय आनेवाला है जब किसी के बीमार होन के पहले ही हम यह बताने मे समथ हो जायेंगे कि वह बीमार होनेवाला है। शरीर पर बीमारी के उतरन के पहले विद्युत के वतुल पर बीमारी उतर जाती है। इसके पहले कि आदमी मरे, उसके विद्युत के वतुल का सिकुडना आरम्भ हो जाता है। इसके पहले कि कोई आदमी हत्या करे, उस विद्युत के वतुल म ही हत्या के लक्षण दीख पडन लगत हैं।

प्रत्यक मनुष्य अपने आसपास एक आभामडल लेकर चलता है। आप अकेले ही नहा चलते, आपके आसपास एक विद्युत वतुल, एक इलेक्ट्रोडाइनमिक फील्ड भी चलता है। यह आभामडल पशुओ और पड-पौधो के भी आसपास होता है। रूसी

लेकिन अरिहत शब्द नकारात्मक है। इससे उस व्यक्ति का बोध होता है जिसके सभी शत्रु समाप्त हो गए। असल मे इस जगत मे जो भी श्रेष्ठतम अवस्था है, उसे निषेध से ही प्रकट किया जा सकता है। इसका कारण है। सभी विधायक शब्दो मे सीमा आ जाती है, निषेध मे सीमा नही होती। 'नही' की कोई सीमा नही, 'है' की तो सीमा है। 'नही' बहुत विराट् है। इसलिए अरिहत को परम शिखर पर रखा है।

(१०) चूँकि अरिहत बहुत वायवीय और सूक्ष्म शब्द है, इसलिए ठीक दूसरे शब्द मे विधायक का उपयोग किया गया है—'नमो सिद्धाणम्'। सिद्ध का अर्थ होता है वह जिसने पा लिया। अरिहत का अर्थ होता है वह जिसने कुछ छोड़ दिया। जिसने खो दिया उसे सिद्ध के ऊपर रखा गया है। क्यो? सिद्ध अरिहत से छोटा नही होता: सिद्ध वही पहुँचता है जहाँ अरिहत पहुँचता है। फिर भी, भाषा मे विधायक का स्थान दूसरा ही होगा। सिद्ध के सम्बन्ध मे भी सिर्फ इतनी ही सूचना है कि पहुँच गए। कुछ और कहा नही गया, कोई विशेषण भी नही जोडा।

तीसरे सूत्र मे कहा है—आचार्यो को नमस्कार।

(११) आचार्य उस व्यक्ति को कहते हैं जिसने केवल पाया ही नही, वरन् आचरण से भी प्रकट किया। आचार्य वह व्यक्ति है जिसका आचरण और ज्ञान एक है। ऐसा नही कि सिद्ध का आचरण ज्ञान से भिन्न होता है, लेकिन शून्य हो सकता है। ऐसा भी नही कि अरिहत का आचरण भिन्न होता है। लेकिन अरिहंत इतना निराकार हो जाता है कि हो सकता है, उसका आचरण हमारी पकड मे न आए। आचार्य से शायद निकटता मालूम पडती है, ज्ञान और आचरण के अर्थो मे। आचार्य हमारी पकड मे आता है, लेकिन जहाँ से हमारी पकड शुरू होती है, वही से खतरा शुरू होता है। खतरा यह है कि कोई आदमी आचरण ऐसा कर सकता है कि वह आचार्य मालूम पडने लगे। जहाँ से सीमाएँ बननी शुरू होती हैं वही से हमे दिखाई पड़ता है और जहाँ से हमे दिखाई पडता है वही से हमारे अधे होने का डर है।

पर मत्र का प्रयोजन यही है कि हम उनको नमस्कार करे जिनका ज्ञान और आचरण अभिन्न है।

(१२) आचरण बडी सूक्ष्म बात है और हम स्थूल बुद्धि के लोग हैं। आचरण को पकड पाना आसान नही। उदाहरणार्थ—महावीर का नग्न खडा हो जाना निश्चित ही लोगो को अच्छा नही लगा। गाँव-गाँव से उन्हे खदेडकर भगाया गया। गाँव-गाँव मे महावीर पर पत्थर फेके गए। महावीर की नग्नता लोगो को भारी पडी, उन्होने कहा कि यह आचरण-हीनता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि आचरण को ठीक-ठीक पकड पाना मुश्किल है। महावीर का नग्न हो जाना निर्दोष आचरण है जिसका कोई हिसाब लगाना कठिन है। उनकी हिम्मत अद्भुत है। वे इतने सरल

हो गए हैं कि छिपाने को कुछ नहीं बचा है। ऐसा नहीं कि उन्होंने कपड़े छोड़े हैं। उनके कपड़े गिर गए हैं।

एक दिन राह से गुजरते समय एक झाड़ी में उनकी चादर उलझ गई। इसलिए कि झाड़ी के फूल गिर न जायें, पत्ते टूट न जायें, कांटा को चोट न लग जाय, उन्होंने आधी चादर फाड़कर वहां छोड़ दी। आधी रह गई शरीर पर, फिर भी वह गिर गई। वह कब गिर गई, इसका महावीर को पता न चला। लोगों को पता चला कि महावीर नग्न खड़े हैं। आचरण सहज मुश्किल हो गया। आचरण के रास्ते सूक्ष्म हैं, किन्तु आचरण के सम्बन्ध में हमारे बँधे बँधाए ख्याल हैं।

चौथे चरण में उपाध्यायों को नमस्कार कहा गया है। उपाध्याय—अर्थात आचरण ही नहीं, उपदेश भी। उपाध्याय जानता है, जानकर वैसा ही जीता है और जैसा वह जीता है और जानता है, वैसा ही बताता भी है।

(१३) ये चार स्पष्ट रेखाएँ हैं। लेकिन इन चार के बाहर भी कुछ जानने वाले छूट सकते हैं क्योंकि जाननेवालों का वर्गीकरण नहीं हो सकता। इसलिए पाँचवें चरण में एक सामान्य नमस्कार है—'नमो लोए सव्वसाहूणं'। लोक में जो भी साधु हैं उन सबको नमस्कार। कुछ ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो बहुत सरल हों और उपदेश देने में सकोच करें। हो सकता है कि वे आचरण को भी छिपाएँ। पर उनको भी हमारे नमस्कार पहुँचने चाहिए। ऐसी बात नहीं कि हमारे नमस्कार से उनका कुछ फायदा होगा। बात यह है कि हमारा नमस्कार हमें रूपान्तरित करता है। न अरिहंतों को फायदा होगा न सिद्धों आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को ही। पर आपको फायदा जरूर होगा।

लेकिन हम अद्भुत लोग हैं। अगर अरिहंत भी सामने खड़ा हो जाय तो हम पहले इस बात का पता लगाएँगे कि वह अरिहंत है भी या नहीं? महावीर के बारे में भी लोग यही पता लगाते लगाते जीवन नष्ट करते रहे। वे जाँच करने आते कि महावीर अरिहंत हैं या नहीं तीर्थंकर हैं या नहीं। आप जाँच भी कर लेंगे और यह सिद्ध भी हो जायगा कि महावीर भगवान नहीं हैं, तो आपको क्या मिलेगा? असली सवाल यह नहीं है कि महावीर भगवान हैं या नहीं। असली सवाल यह है कि आपको कहाँ भगवान दीख सकते हैं या नहीं—कहाँ भी? पत्थरों में, पर्वत में? असली राज तो नमन में है झुक जाने में है। वह जो झुक जाता है उसके भीतर सब-कुछ बदल जाता है। महावीर सिद्ध हैं या नहीं, यह वे खुद सोचें और समझें। आपके लिए चिन्तित होने का कोई भी तो कारण नहीं है।

(१४) ध्यान में रख लें कि मंत्र आपके लिए हैं। मन्दिर में मूर्ति के चरणों में जब आप सिर रखते हैं तब सवाल यह नहीं होता कि वे चरण परमात्मा के हैं या नहीं। सवाल इतना ही होता है कि चरण के समक्ष झुकनेवाला सिर परमात्मा के

समक्ष झुक रहा है या नही। चरण तो निमित्त-मात्र है। लेकिन झुकने मे पीडा होती है। अगर महावीर आएँ और आपके चरणो पर सिर रखे तो आपका चित्त बडा प्रसन्न होगा। फिर आप महावीर को पत्थर न मारेगे। मारेगे? लेकिन याद रहे, अगर महावीर आपके चरणो मे सिर रख दे तो आपको इससे कोई लाभ न होगा। आपकी अकड और गहन हो जायगी।

महावीर ने अपने साधुओ से कहा है कि वे गृहस्थो को नमस्कार न करे। बडी अजीब-सी बात है। साधु को तो विनम्र होना चाहिए। लेकिन महावीर अपनी अगाध करुणा के कारण ही ऐसा कहते है ताकि गृहस्थ और गैर साधु मे नमस्कार पैदा हो—साधु उनको नमस्कार न करे। यदि साधु गृहस्थो को नमस्कार करेगा तो इससे गृहस्थो की अस्मिता और अहकार को प्रोत्साहन मिलेगा।

नमोकार नमन का सूत्र है। नमन है ग्राहकता। जैसे ही आप नमन करते है वैसे ही आपका हृदय खुलता है और आप भीतर किसी को प्रवेश देने के लिए तैयार हो जाते है। जिसके चरणो मे आपने सिर रखा, उसे आप भीतर आने मे बाधा न डालेगे, उसे निमत्रण देगे। लेकिन अगर भरोसा नही है तो नमन असम्भव है और नमन असम्भव है तो समझ असम्भव है।

(१५-१६) मॉस्को यूनिवर्सिटी मे १९६६ तक एक अद्भुत व्यक्ति था, डॉ० वासिलिएव। उसने एक अनूठा प्रयोग किया है जिसका नाम है कृत्रिम पुनर्जन्म—आर्टिफिशियल री-इनकार्नेशन। ई० जी० नामक यत्र से पहले वह इस बात का पता लगाता था कि व्यक्ति कितनी गहरी निद्रा मे है। जब व्यक्ति अचेतन मन की अतल गहराइयो मे उतर आता तब वह उसे सुझाव देना शुरू करता। जिस व्यक्ति पर वह प्रयोग करता उसे—यदि वह व्यक्ति चित्रकार होता तो–बताता कि तुम पिछले जन्म मे माइकेल एन्जेलो या वानगॉग थे यदि वह व्यक्ति कवि होता तो उसे समझाता कि तुम पिछले जन्म मे शेक्सपियर थे। तीस दिन मे उस व्यक्ति का चित्त उस सुझाव को सचमुच ग्रहण कर लेता। उस साधारण-से चित्रकार मे यह भरोसा हो जाता कि मै माइकेल एन्जेलो हूँ। और जब उसके भीतर भरोसा हो जाता तब तत्काल वह विशेष चित्रकार बन जाता। वासिलिएव कहता है कि अगर हमे भरोसा दिला दिया जाय कि हम बडे है तो हमारे चित्त की खिडकी बडी हो जाती है। इसलिए आनेवाले भविष्य मे हम जीनियस निर्मित कर सकेगे। सच तो यह है कि वासिलिएवोके अनुसार नव्वे प्रतिशत बच्चे प्रतिभा की क्षमता लेकर ही पैदा होते है, पर दुर्भाग्यवश हम उनकी खिडकी छोटी करते जाते है। माँ-बाप, स्कूल, शिक्षक—सब मिलकर उन्हे साधारण आदमी बना डालते है। कुछ जो हमारी तरकीबो से बच जाते हैं, वे जीनियस बन जाते है, बाकी नष्ट हो जाते है। पर उसका कहना है कि असली सूत्र है ग्राहकता। इतना ग्राहक हो जाना चाहिए चित्त कि उसे जो कहा जाय वह उसके भीतर प्रवेश कर जाय।

आप यह जानकर हैरान होंगे कि गहन सम्मोहन, निद्रा, ध्यान और श्रद्धा मे ई० जी० नामक मशीन एक सा ग्राफ बनाती है। श्रद्धा से भरा हुआ चित्त उसी शान्ति की अवस्था मे होता है जिस शान्ति की अवस्था म वह गहन ध्यान मे होता है। आपको टेलिपथिक जगत म प्रवेश कराने म मन्त्र उपयोगी सिद्ध होता है। अगर आप हृदय से अपने को छोड पाएँ और उस गहराई स कह पाएँ जहा सब आपकी अचेतना म डूब जाता है—

नमो अरिहंताण।
नमो सिद्धाण।
नमो आयरियाण।
नमो उवज्झायाण।
नमो लोए सव्वसाहूण'।

तब आप अपने अनुभव से कह पाएँगे—एसो पच नमुक्कारो, स व्वपावप्पणासणो।'

द्वितीय अध्याय

धम्मो लोगुत्तमो

केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।[1]

—पचप्रति० सथारा० सू०

(१) महावीर ने कहा है कि जिसे पाना हो उसे देखना शुरू करना चाहिए, क्योकि हम उसे ही पा सकते है जिसे हम देखने मे समर्थ हो जायँ। जिसे हमने देखा नही, उसे पाने का भी कोई उपाय नही। जिसे खोजना हो, उसकी भावना करनी प्रारम्भ कर लेनी चाहिए, क्योकि इस जगत् मे हमे वही मिलता है, जिसके लिए हम अपने हृदय मे जगह बना लेते हे। यदि स्वय मे अरिहत को निर्मित करना हो, कभी सिद्ध को पाना हो, किसी क्षण स्वय भी केवली बन जाना हो तो उसे देखने, उसकी भावना करने, उसकी आकाक्षा और अभीप्सा की ओर चरण उठाना जरूरी है।

(२) जो मगल है, उसकी कामना स्वाभाविक है। हम वही चाहते है जो मगल है। अरिहत मगल है, सिद्ध मगल है, साहू मगल है। कवलिपन्नत्तो धम्मो मगलम्। जिन्होने स्वय को जाना और पाया, उनके द्वारा निरूपित धर्म मगल है।

अरिहता मगल।
सिद्धा मगल।
साहू मगल।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मगल।

इनमे सिर्फ मगल का भाव है। जो भी मगल है, उसका भाव गहन हो जाय तो उसकी आकाक्षा शुरू हो जाती है— आकाक्षा को पैदा नही करना पडता। मगल की धारणा को पैदा करना पडता है। आकाक्षा मगल की धारणा के पीछे छाया की भाँति चली आती है। धारणा पतजलि योग के आठ अगो मे कीमती अग है जहाँ से अन्तर्यात्रा शुरू होती है। धारणा, ध्यान, समाधि। छठा सूत्र है धारणा, सातवाँ ध्यान और आठवाँ समाधि। मगल की यह धारणा पतजलि योग का छठा सूत्र हे और महावीर के योगसूत्र का पहला। महावीर का मानना यह है कि धारणा से सब शुरू हो जाता है। धारणा जैसे ही हमारे भीतर गहन होती है, वैसे ही हमारी चेतना रूपान्तरित होती है। न केवल हमारी, वरन् उसकी भी जो हमारे पडोस मे

१. केवलीप्ररूपित अर्थात् आत्मज्ञ-कथित धर्म लोकोत्तम है।

थे।है। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि आप अपनी ही धारणाओं से प्रभावित नहीं होते, आपके निकट धारणाओं के जो प्रवाह हैं उनसे भी होते हैं। इसलिए महावीर ने कहा है कि अज्ञानी से दूर रहना मंगल है, ज्ञानी के निकट रहना मंगल है। चेतना जिसकी स्वस्थ है उसके सान्निध्य में रहना मंगल है। जिस वातावरण में धारणाएँ शुभ हों उसमें रहना हितकर है।

(३) रूस के एक विचारक का नाम है डॉ० सिलोव। उनके यान्त्रिक आविष्कारों से पता चलता है कि पड़ोसी की धारणाएँ भी हमें प्रभावित किए बिना नहीं रहतीं। उनका कहना है कि जो धारणा एक के मन में पैदा हुई, उसके वर्तुल आसपास फैल जाते हैं और दूसरा भी पकड़ लेते हैं। आपको शायद पता नहीं कि आपको जो क्रोध हुआ है वह आपका नहीं है। शायद वह आपके पड़ोसी का है।

(४) जिस राष्ट्र के हाथ में धारणा को प्रभावित करने के मौलिक सूत्र आ जाएँगे, उस राष्ट्र को अणु की शक्ति से हराया नहीं जा सकता। सच तो यह है कि जिनके हाथ में अणु बम हों, उनको भी धारणा से ऐसा प्रभावित किया जा सकता है कि वे उन्हें अपने ऊपर ही फेंक लें। यदि कोई हवाई जहाज बम फेंकने आ रहा हो तो उसके चालक को प्रभावित किया जा सकता है कि वह वापस लौट जाय और अपनी ही राजधानी पर बम गिरा दे। इसलिए नामार नामक विचारक का कहना है कि धारणा की शक्ति ही अब युद्ध में आखिरी अस्त्र सिद्ध होने जा रही है। वैज्ञानिक धारणा की शक्ति पर काम करने में जुटे हैं। स्टालिन जैसे लोगों की उत्सुकता तो इस शक्ति के विनाशकारी पक्ष की ओर थी, पर महावीर जैसे लोग इसके निर्माण और सृजनवाले पक्ष में ही दिलचस्पी रखते थे। इसलिए उनकी मंगल की धारणा है। महावीर ने कहा है—भूलकर भी, कभी स्वप्न में भी कोई बुरी धारणा मत करना क्योंकि उसका परिणाम बुरा ही होता है।

आप राह से गुजर रहे हैं। आपके मन में खयाल भर आता है कि इस आदमी की हत्या कर दूँ। आपने कुछ किया नहीं, बस खयाल किया या मन में सोचा कि इस दुकान से अमुक चीज चुरा लूँ। आपने न हत्या की और न चोरी। लेकिन क्या आप निश्चिन्त हो सकते हैं कि राह में किसी हत्यारे या चोर ने आपकी धारणा न पकड़ ली होगी?

(५) माँ अपने बच्चे के जीने की कामना करती है, कहती है कि वह बड़ा हो, जिए। लेकिन किसी क्षण क्रोध में वह यह भी कह देती है कि वह जनमते ही मर जाता तो ठीक था। बेचारी माँ को पता नहीं कि हजार दफा उसने शुभ की कामना की है और एक दफा अशुभ की भी। उसकी सभी शुभ कामनाएँ इस अशुभ कामना के कारण विनष्ट हो उठी हैं, कट गई हैं। उसे जानना चाहिए कि मनुष्य की कोई भी धारणा व्यर्थ नहीं जाती।

(६) महावीर अपने साधुओं से कहते है कि चौवीस घंटे मगल की कामना मे डूबे रहो—उठते-बैठते, साँस लेते-छोडते। स्वभावत मगल की कामना शिखर से शुरू करनी चाहिए। इसलिए वे कहते है कि अरिहत मगल है। जिनके समस्त आन्तरिक रोग समाप्त हो गए, वे मगल है। सिद्ध मगल हैं, साधु मगल है। जिन्होने जाना, उन्हे जैन-परम्परा मे केवली कहते है। जानने की दिशा मे वे उस जगह पहुँच जाते है जहाँ जाननेवाला भी नही रह जाता, जानी जानेवाली वस्तु भी नही रह जाती—सिर्फ जानना रह जाता है, केवल ज्ञानमात्र रह जाता है। जो केवल ज्ञान को उपलब्ध हो गया और वहाँ पहुँच गया जहाँ ज्ञान-मात्र रह गया है और जहाँ न कोई जाननेवाला बचा, न जानी जानेवाली वस्तु बची, उसे केवली कहते है!

जैन-परम्परा कहती है कि जिस चीज का भी स्रोत होता है, वह कभी न कभी चुक जाती है, चुक ही जायगी, कितना भी बडा स्रोत क्यो न हो। सूर्य भी चुक जायगा एक दिन।

(७) लेकिन महावीर कहते है कि चेतना अनन्त है, यह कभी चुक नहीं सकती। यह स्रोतरहित है। इसमे जो प्रकाश है वह किसी मार्ग से नही आता। वह बस, है—'इट जस्ट इज'। कही से आता नही, अन्यथा एक दिन वह भी चुक जायगा। सागर भी चम्मचो से उलीचकर सुखाए जा सकते है। एक चम्मच थोडा तो काम कर ही जाती है। महावीर कहते है कि चेतना स्रोतरहित है, इसलिए उन्होने ईश्वर को मानने से इनकार कर दिया, क्योकि अगर हम ईश्वर को मानते है तो ईश्वर स्रोत हो जाता है और हम सब उसी के स्रोत से जलनेवाले दीए हो जाते हैं जो कभी-न-कभी चूक जाएँगे।

इसमे सन्देह नही कि महावीर ने आत्मा को जितनी प्रतिष्ठा दी, उतनी प्रतिष्ठा इस पृथ्वी पर किसी अन्य व्यक्ति ने कभी नही दी। उन्होने इतनी प्रतिष्ठा दी कि यह कहने मे सकोच न किया कि परमात्मा अलग नहीं, आत्मा ही परमात्मा है। इसका स्रोत अलग नहीं, यह ज्योति ही स्वय स्रोत है। भीतर जलनेवाला जो जीवन है, वह कही से शक्ति नही पाता। वह स्वय ही शक्तिमान् है। वह न तो किसी के द्वारा निर्मित है और न किसी के द्वारा नष्ट हो सकता है। वह स्वय मे समर्थ और सिद्ध है। जिस दिन ज्ञान उस सीमा पर पहुँचता है, जहाँ हम स्रोतरहित प्रकाश को उपलब्ध होते है, उसी दिन हम मूल को उपलब्ध होते है। जैन-परम्परा ऐसे ही व्यक्ति को केवली कहती है। ऐसा व्यक्ति कही भी पैदा हो सकता है। वह क्राइस्ट हो सकता है, बुद्ध, कृष्ण या लाओत्से हो सकता है। इसलिए इस सूत्र मे यह नही कहा गया कि महावीर मगलम् या कृष्ण मगलम्। कहा गया—'केवलिपन्नत्तो धम्मो मगल।' जो केवल ज्ञान को उपलब्ध हो गए, उनके द्वारा जो प्ररूपित धर्म है, वह मगल है।

यदि मगल की यह धारणा प्राणा की अतल गहराइया मे वठ जाय तो अमगल की सम्भावना कम हो जाती है। जो जैसी भावना करता है धीरे धीरे वह वसा ही हो जाता है। जो हम मांगत हैं वह हमे मिल जाता है। लेकिन हम सदा गलत मांगत हैं। यही हमारा दुभाग्य है। हम उसी की तरफ आंख उठाकर दखत हैं जो हम हाना चाहते हैं। अगर आप किसी राजनीतिज्ञ के आस-पास भीड लगाकर इकट्ठे हो जात हैं तो यह सिफ इस बात की सूचना नही है कि किसी नता का पदापण हुआ है। गहन रूप से यह इस बात की सूचना है कि आप वही राजनीतिक पद पर होना चाहत हैं। हम उसी को आदर देत हैं जो हम होना चाहते हैं। अगर आप किसी अभिनेता के पास भीड लगाकर खडे हो जाते हैं तो यह आपकी भीतरी आकाक्षा की खबर देती है। आप भी वही हो जाना चाहत है। अगर महावीर ने कहा कि कहो—

अरिहता मगल।
सिद्धा मगल।
साहू मगल।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मगल।

तो वे इस बात पर बल दे रहे हैं कि तुम यह कह ही तब पाओगे जब तुम अरिहत, सिद्ध और साधु होना चाहोगे। या जब तुम यह कहना शुरू करोगे तब तुम्हारे अरिहत होने की यात्रा शुरू हो जायगी। और बडी से बडी यात्रा बडे छोटे कदम से शुरू होती है। धारणा पहला कदम है।

कभी आपने सोचा कि आप क्या होना चाहते हैं?

जो आप होना चाहत हैं वह सचेतन मन न सही, पर अचेतन मे तो अवश्य ही घूमता रहता है। उसी के प्रति आपके मन म आदर पैदा होता है जो आप होना चाहत हैं। जो आप होना चाहत हैं, उसी के सम्बन्ध म आपके मन म चित्त के बतुल बनते हैं। वही आपके स्वप्नो म उतर आता है, आपकी सांसो म समा जाता है।

(८) मगल भावना और खून के कणों में अन्योन्याश्रय सम्बध है। मेडिकल साइन्स कहती है कि आपके स्वास्थ्य की रक्षा का मूल आधार रक्त म सफेद कणो की अधिकता है। मगल भावना से भरे व्यक्ति के पास बठने पर इन सफेद कणो म १५०० सफेद कण तत्काल बढ जात हैं। जो व्यक्ति आपके प्रति दुर्भाव रखता है उसके पास जाकर १६०० कम हो जाते हैं।

(९) अमरीकी वनानिक बैकस्टर ने सिद्ध किया है कि पौधे अपने मित्रो को पहचानते हैं और अपने शत्रुओ को भी। वे अपने मालिक को पहचानते हैं और अपने माली को भी। अगर मालिक मर जाता है तब उनकी प्राणधारा क्षीण हो

जाती है और वे बीमार हो जाते है। वेक्सटर ने यह भी सिद्ध किया है कि पौवो मे स्मरण-शक्ति होती है। जब आप अपने गुलाब के पौधे के पास जाकर प्रेम से खडे हो जाते है तब वह कल फिर उसी समय आपकी प्रतीक्षा करता है। वेक्सटर का यह भी कहना है कि जिन पौधो के प्रति हममे प्रेम का भाव होता है वे हमारी ओर बडी पॉजिटिव भावनाएँ छोडते है। उसने अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन को सुझाव दिया है कि शीघ्र ही हम मरीजो को खास-खास तरह के पौधो के पास ले जाकर स्वस्थ करने मे समर्थ हो सकेगे। पौधो के पास अपना हृदय है। माना कि वे अशिक्षित है, लेकिन उनके पास हृदय है। आदमी बहुत शिक्षित होता चला जाता है, लेकिन हृदय खोता चला जाता है।

(१०) धर्म शब्द का जैन-परम्परा मे वह अर्थ नही है जो अग्रेजी के 'रिलीजन' का है या उर्दू के 'मजहब' का। मत, पथ या क्रीड को मजहब कहते है और जोडने को 'रिलीजन'। अर्थात् अग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द का अर्थ करीब-करीब वही है जो योग का है। वह जिस सूत्र से बना है वह है 'रिलिगेयर' जिसका अर्थ होता है जोड़ना—आदमी को परमात्मा से जोडना। लेकिन जैन-चिन्तन परमात्मा के लिए जगह ही नही रखता। इसलिए आप यह जानकर हैरान होगे कि जैन योग का अर्थ अच्छा नही मानते। वे कहते हैं कि केवली अयोगी होता है, योगी नही। महावीर को कुछ भूल से भरे लोग अपनी नासमझी मे महायोगी कहते है। महावीर कहते हैं कि धर्म का लक्ष्य जोडना नही है किसी से, जो गलत है उससे टूटना है, अलग होना है—अयोग, ससार से अयोग। योग बल देता है परमात्मा से मिलन पर, स्वरूप की उपलब्धि पर। किन्तु महावीर कहते है कि स्वरूप तो उपलब्ध ही है, जो हमे पाना है, वह हमे मिला ही हुआ है। सिर्फ हम गलत चीजो से चिपके खड़े है, इसलिए दिखाई नही पडता। जरूरत है कि गलत को छोड दे, अयुक्त हो जायँ। इसलिए जैन-परम्परा मे अयोग का वही मूल्य है जो हिन्दू परम्परा मे योग का है। महावीर कहते है कि वस्तु का जो स्वभाव है, 'नेचर' है, वही धर्म है। महावीर की दृष्टि मे धर्म का वही अर्थ है जो लाओत्से के 'ताओ' का है।

(११) वस्तु का जो स्वभाव है, जो उसकी स्वय की परिणति है, वही धर्म है। अगर कोई व्यक्ति किसी से प्रभावित हुए बिना सहज आचरण कर पाए तो वह धर्म को उपलब्ध हो जाता है। इसलिए प्रभाव को महावीर अच्छी बात नही मानते। किसी से भी प्रभावित होना बँधना है। पूर्णतया अप्रभावित हो जाना ही स्वय हो जाना है। इस निजता को—स्वय होने को—महावीर धर्म कहते है। जब कोई व्यक्ति केवल ज्ञान-मात्र या चेतना-मात्र रह जाता है, तब वह जैसे जीता है, वही धर्म है।

महावीर कहते है कि जब कोई धुआँ नही है तब अग्नि अपने धर्म मे है, जब

चेतना बिलकुल शुद्ध होती है और पदार्थ का कोई प्रभाव नहा होता और न शरीर का पता होता है, तब चेतना अपने धम म हाती है। महावीर कहते हैं कि प्रत्यक का अपना धम होता है। अग्नि का अपना है जल का अपना है, पदाथ का अपना है। अपने धम मे शुद्ध हो जाना आनद है, अशुद्ध रहना दुख है। अपन स्वभाव म चले जाना धार्मिक हो जाना है। वे कहते हैं—

अरिहता लोगुत्तमा।
सिद्धा लोगुत्तमा।
साहू लोगुत्तमा।
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

अरिहत उत्तम है लोक म, सिद्ध उत्तम है लोक म, साधु उत्तम है लोक म, केवली-प्ररूपित धम उत्तम है लोक म। लेकिन मगल कह दन के बाद उत्तम कहने की क्या जरूरत है? कारण है हमारे भीतर। हम इतन नासमझ ह कि जो उत्तम नहा है, उसे भी हम मगलरूप मान सकते है। हमारी वासनाएँ एसी हैं कि जो लोक म निकृष्ट है वे उसी की ओर बहती है।

रामकृष्ण कहा करते थे कि चील आकाश म भी उडे तो यह मत समझना कि उसका ध्यान आकाश म है। हमारी वासनाए चील की तरह नीचे दखती हैं। उनका ध्यान कचरा पर या घर म पडे मास पर लगा होता है।

महावीर के उत्तम शब्द का अर्थ स्पष्ट है। अरिहत उत्तम हैं। वे जीवन म शिखर हैं, श्रेष्ठ हैं पाने और चाहने योग्य हैं।

(१२) जब महावीर कहते हैं 'अरिहता लोगुत्तमा', तब लोग इसे समझ नहा पाते। उन्हें क्या पता कि अरिहत कौन हैं सिद्ध और साधु कौन हैं? व मजबूरी म इन्हें मान लेते हैं यद्यपि अपन भीतर उन्हान वैसी काइ अनुभूति नहा जानी जसी अरिहतो, सिद्धा और साधुआ का उपलब्ध हाता है। अपनी मजबूरी को ही व धम की सज्ञा देते रहे हैं। जन धम म पदा हो जाना उनकी मजबूरी है इसम उनका काइ कृत्य नहीं है। पयुषण भी उनकी मजबूरी है उनका मदिर जाना उपवास करना व्रत करना—सब मजबूरी है। उनम कहीं कोइ स्फुरण, कोइ सहज भाव नहीं होता। व मदिर की ओर अपना घरा का घसीटे जाते हैं। मन्दिर जाना, मानो एक मजबूरी है काम है। प्रफुल्लता नहा हाती उनके चरणा म। कभी नत्य भी नहीं होता जैसा सिनेमागृह जाने म होता है।

(१३) हो सकता है नमोकार आपके आस-पास पढा जा रहा हो लेकिन आपके भीतर उसका कोइ प्रवेश नहीं हो पाता। जिन्होंने उसके प्रवेश की तयारी नहा की, व अगर सोचते हो कि क्षण म उसका प्रवेश हो जायगा तो वे भ्रम म हैं हमारे

लोक मे उत्तम है', वह भले ही इसे यो ही दुहराता रहा हो, फिर भी उसे निराश होना नही पड़ता। यदि वह तोते की नाई इसे रटता भी है तो उमके चित्त पर निशान वनते है, ग्रन्थ निर्मित होते है जो किसी भी प्रकाश के क्षण मे सक्रिय हो सकते है। जिसने निरन्तर कहा है कि अरिहत लोक मे उत्तम है, उसने अपने भीतर एक धारा प्रवाहित की है। जव वह अरिहत होने के विपरीत जाने लगेगा तव उसके भीतर कोई उससे कहेगा कि तुम जो कर रहे हो वह उत्तम नही है, लोक मे श्रेष्ठ नही है। सिर्फ पुनरुक्ति भी हमारे चित्त मे रेखाएँ छोड जाती है, ऐसी रेखाएँ जो किसी भी क्षण सक्रिय हो सकती है। जानकर, समझकर कहा गया लाभप्रद तो होता ही है, न समझकर कहा हुआ सूत्र भी लाभदायी होता हे।

(१४) महावीर ने जिस परम्परा-धारा का उपयोग किया है उसमे श्रेष्ठतम स्थान मनुष्य की शुद्ध आत्मा को मिला है। उन्होने मनुष्य की ही शुद्ध आत्मा को परमात्मा माना है। इसलिए उनके हिसाव से इस जगत् मे जितने लोग हैं, उतने भगवान् हो सकते है, जितनी चेतनाएँ है, वे सभी भगवान् हो सकती है। दुनिया के सारे धर्मो मे भगवान् की जो धारणा है वह ऐरिस्टोकैटिक है—वह सिर्फ एक सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान् की धारणा है। महावीर की धारणा डेमोक्रैटिक है—प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से भगवान् है। वह जाने-न जाने, पाये-न पाये, फिर भी वह भगवान् है। और किसी-न-किसी दिन वह, जो उसमे छिपा है, प्रकट होकर रहेगा, सम्भावना सत्य वनकर रहेगी। अत कहने की जरूरत नही है कि महावीर अनन्त भगवत्ताओ को मानते हैं। जिस दिन सारा जगत् अरिहत तक पहुँच जाय, उस दिन जगत् मे अनन्त भगवान् होगे। महावीर का मतलव भगवान् से है—उससे है जिसने अपने स्वभाव को पा लिया। स्वभाव भगवान् है।

भगवान् की यह धारणा अनूठी है। महावीर के अनुसार न कोई जगत् को वनानेवाला है और न जगत् को चलानेवाला। वे कहते है कि कोई वनानेवाला नही है—वनाने की धारणा ही वचकानी है। वचकानी इसलिए है कि इसमे कुछ हल नही होता। हम कहते है कि जगत् को भगवान् ने वनाया। फिर सवाल खड़ा हो जाता है कि भगवान् को किसने वनाया ? हम जवाव देते है कि भगवान् ने जगत् को वनाया, लेकिन भगवान् को किसी ने नही वनाया। महावीर कहते हैं कि जव यह मानना ही पडता है कि भगवान् को किसी ने नही वनाया तो फिर सारे जगत् को ही अनवना—अनक्रिएटेड—मानने मे कौन-सी अड़चन है ? अडचन एक ही थी मन को कि विना वनाए कोई चीज कैसे वनेगी ? फिर नास्तिक के पास जो उत्तर है वह तथाकथित ईश्वरवादी के पास नही है। नास्तिक पूछता है कि तुम्हारे भगवान् ने सृष्टि क्यो की ? ईश्वरवादी के लिए यह वडा कठिन प्रश्न है। उसे मानना पड़ता है कि ईश्वर मे जगत् को वनाने की वासना उठी। जव भगवान् तक मे वासना

उठती है चाह है, तब आदमी को वासना और चाह से मुक्त कैसे किया जा सकता है ?

ईश्वरवादी दिक्कत में रहता है। उसको स्वीकार करना पड़ता है कि ईश्वर में वासना और चाह है। और तब अनेक अनर्गल बातें उसे स्वीकार करनी पड़ती हैं। उसे मानना पड़ता है कि ब्रह्मा ने स्त्री को जन्म दिया और वह उसका पिता हो गया। फिर उसने अपनी बेटी को चाहा और सम्भोग के लिए आतुर हो गया। परिणामस्वरूप वह अपनी बेटी के पीछे भागने लगा। बेटी अपने पिता से बचने के लिए गाय बन गई। वह बैल हो गया। तब बेटी उससे बचने के लिए कुछ और हो गई तो वह भी कुछ और हो गया। बेटी जो जो होती चली गई, वह उसी-उसी जाति का होता चला गया। अगर ब्रह्मा भी चाह में ऐसा भाग रहा होता तो आपका सिनेमा घरों में जाना बिलकुल ब्रह्मस्वरूप है, आप बिल्कुल ठीक चले जा रहे हैं। स्त्री फिल्म अभिनत्री हो गई तो आप फिल्म-दर्शक हो गए। फिर सारा जगत वासना का फैलाव हो गया।

महावीर ने इस धारणा को जड़ से काट दिया। उन्होंने कहा कि अगर लोगों को भगवान् बनाना है तो भगवान की इस धारणा को अलग करो। उन्होंने कहा कि अगर पहले भगवान् में भी चाह रख दोगे तो फिर आदमी की चाह को नष्ट करने का कारण क्या बचेगा ? जगत अनिर्मित है अनबना है। किसी ने बनाया नहीं है इसे। विज्ञान के लिए भी यही तर्कयुक्त मालूम पड़ता है, क्योंकि जगत में कोई चीज बनायी नहीं मालूम पड़ती और न कोई चीज नष्ट होती मालूम पड़ती है—सिर्फ रूपान्तरित होती मालूम पड़ती है। इसलिए महावीर ने पदार्थ की जो परिभाषा की है वह इस जगत् की सर्वाधिक वैज्ञानिक परिभाषा है। उन्होंने 'मैटर' के लिए एक अद्भुत शब्द का प्रयोग किया है —'पुद्गल'। ऐसा शब्द जगत की किसी भी भाषा में नहीं है। 'पुद्गल' का अर्थ है—जो बनता और मिटता रहता है और फिर भी है। जो प्रतिपल बन रहा है मिट रहा है और है नदी की नाईं। नदी भागी जा रही है, चली जा रही है, फिर भी है। 'पुद्गल' का अर्थ है 'बिकमिंग', वह जो प्रतिपल जन्म ले रहा है और प्रतिपल मर रहा है, फिर भी कभी न तो निर्मित होता है और न समाप्त होता है। चलता रहता है, गत्यात्मक है।

(१५) महावीर ने कहा कि यह जगत् पुद्गल है। इसमें सभी चीजें सदा से हैं, वे बन रही हैं मिट रही हैं, न कोई चीज कभी समाप्त होती है और न निर्मित होती है। इसलिए निर्माता का प्रश्न नहीं उठता और न परमात्मा में वासना की कल्पना ही तर्कयुक्त है।

कहते हैं। महावीर का अरिहंत अंतिम मंजिल है। व्यक्ति भगवान् तब होता है जब वह वहाँ पहुँच जाता है जिसके आगे और कोई यात्रा नही है। दूसरे धर्मों का भगवान् आरम्भ है, वहाँ है जहाँ दुनिया शुरू होती है। महावीर का भगवान् वहाँ है जहाँ दुनिया समाप्त होती है। सब कहते है कि दुनिया को बनानेवाला भगवान् है; महावीर कहते है कि दुनिया को पार कर जानेवाला भगवान् है। दुनिया का भगवान् बीज की तरह है, महावीर का भगवान् फूल की तरह।

महावीर यह नही कहते कि शास्त्र मे लिखा हुआ धर्म लोकोत्तम है। वेदो को माननेवाला कहता है कि उनमे प्ररूपित धर्म ही लोक मे उत्तम है। बाइबिल और कुरान को माननेवाले लोग बाइबिल तथा कुरान मे प्ररूपित धर्म को ही लोकोत्तम मानते है। लेकिन महावीर कहते है—केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो। नही, शास्त्र मे कहा हुआ धर्म लोकोत्तम नही है। केवल ज्ञान के क्षण मे जो झरता है वही श्रेष्ठ है, जीवन्त है। महावीर ने कभी नही कहा कि शास्त्रो मे प्ररूपित धर्म लोकोत्तम है। ऐसा भी नही कहा कि मेरे शास्त्र मे कहा हुआ धर्म श्रेष्ठ है। उन्होंने खुद कोई शास्त्र निर्मित नही किया। केवलिप्ररूपित जो धर्म है वह शास्त्र मे लिख लिया गया है। इसलिए जैन उस शास्त्र को सिर पर वैसे ही ढोये चलते है जैसे कोई कुरान या गीता को ढोता है। यह महावीर के प्रति ज्यादती है। उन्होने कभी कोई शास्त्र निर्मित नही किया, कभी कुछ नही लिखवाया। उनके मरने के सैकडो वर्ष बाद उनके वचन लिखे गए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि महावीर बराबर मौन रहे। अत उनकी जो वाणी है वह कही हुई नही है, सुनी हुई है। महावीर का जो धर्म-प्ररूपण है वह मौन सम्प्रेपण है, टेलिपथिक ट्रांसमिशन है। बात पुराण-जैसी जरूर लगती है, लेकिन उसे वैज्ञानिक आधार मिलते चले जा रहे है। महावीर जब बोलते थे तब वे बोलते नही थे, बैठते थे। न तो वे होंठ का उपयोग करते थे और न कंठ का। उनके अन्तर-आकाश मे ध्वनि जरूर गूँजती थी।

(१६) मैं कहता हूँ कि महावीर बोले नही, सुने गए। वे मौन बैठे और पास बैठे लोगो ने उन्हे सुना। जो जिस भाषा मे उन्हे समझ सकता था, उसने उस भाषा मे ही सुना और समझा। वहाँ पशु भी इकट्ठे थे और पौधे भी खडे थे। कथा कहती है कि उन्होने भी सुना। बेक्सटर भी तो कहता है कि पौधो के भाव होते है और वे समझते है आपकी भावनाएँ। पौधो को प्रेम करनेवाला व्यक्ति जब दुखी होता है तब वे भी दुखी होते है और जब उसके घर मे उत्सव मनाया जाता है तब वे प्रफुल्लित होते है। जब घर मे कोई मर जाता है तब वे मातम मनाते है, जब उनका प्रेमी उनके पास खडा होता है तब उनमे आनन्द की धाराएँ बहती है। अचेतन पर जो वैज्ञानिक प्रयोग किए जा रहे है उन्होने यह सिद्ध कर दिया है कि अपने अचेतन मे हम कोई भी भाषा समझ सकते है। यदि आपको गहन रूप से सम्मोहित किया जाय,

इतना बेहोश किया जाय कि आपको अपना कोई पता न रह जाय तो आपसे किसी भी भाषा में बात की जा सकती है और आप उसे समझ लेंगे।

(१७) चेक वैज्ञानिक डॉ० राज डेक का कहना है कि हम महासागर में निकले हुए छोटे-छोटे द्वीपों की भांति हैं। ऊपर से अलग-अलग, किन्तु जमीन पर अपनी अतल गहराइयों में परस्पर जुड़े हुए। ऊपर हमारी भाषाएँ पृथक् पृथक् हैं। लेकिन हमारे अचेतन की भाषा एक है। गहरे उतर जायें तो पशुओं और मनुष्यों की भी भाषा एक है। अचेतन की गहराइयों में हम पौधों से भी जुड़े हुए हैं और हमारा अचेतन मनुष्यों की ही भाषा नहीं समझता, पशु-पक्षियों और पौधों की वाणी भी सुनता समझता है। अतः आनेवाले बीस वर्षों में विज्ञान बताएगा कि महावीर ने निःशब्द विचार-सचरण का जो प्रयोग किया था वह पुराण-कथा मात्र नहीं है। इस पर काम तेजी से चल रहा है और स्पष्ट होती जा रही हैं बहुत-सी अँधेरी गलियाँ जो पहले साफ न थीं। इसका अर्थ यह भी हुआ कि अगर हम किसी व्यक्ति को दूसरी भाषा सिखानी हो तो उसके चेतन का नहीं, प्रत्युत अचेतन का सहारा उपयुक्त होगा। राज डेक कहता है कि चेतन रूप से सिखाने में आप श्रम का दुरुपयोग करते हैं, व्यर्थ की परेशानियाँ मोल लेते हैं। वह ठीक कहता है कि चेतन रूप से जो भाषा आप दो साल में सीखेंगे, उसे ही बलारिया के डा० लोरेंजो आपको सम्मोहित हालत में बीस दिन में सिखा सकते हैं। उनका कहना है कि जब कोई व्यक्ति सचेतन रूप में सुनता है तब उसका ऊपरी मन सुनता है, इसलिए वे कहते हैं कि ऊपरी मन को तो लगा दो संगीत सुनने में और भीतरी मन के द्वार से सुना दो जो सुनना चाहिए। इस तरह दो साल का कोर्स बीस दिन में ही पूरा किया जा सकता है।

बात क्या है ? बात कुल इतनी ही है कि नीचे गहरे में हमारी बहुत सारी क्षमताएँ छिपी पड़ी हैं। आप अपने घर से यहाँ तक आ गए। अगर आप पैदल चल कर आए हों, तो क्या आप बता सकते हैं कि रास्ते में कितने घर और खम्भे मिले ? आप कहेंगे क्या मैं कोई पागल हूँ जो इनकी गिनती करता ? लेकिन आपको बेहोश करके पूछा जाय तो आप इनकी संख्या बता सकते हैं। जब आप आ रहे थे इधर तब आपका ऊपरी मन आने में लगा था और नीचे का मन सब-कुछ अंकित करता जा रहा था। पानी के ऊपर निकला हुआ जो द्वीप है, उसे इसका कुछ भी पता नहीं है लेकिन नीचे जो जुड़ी हुई भूमि का विस्तार है उसे सब पता है।

(१८) चूंकि महावीर बोले नहीं, इसलिए उनका धर्म बहुत व्यापक नहीं हो पाया, बहुत लोगों तक नहीं पहुँच पाया। यदि वे बोलते तो सबकी समझ में आता। उनके न बोलने के कारण केवल वे ही समझ पाए जो उतने गहरे जाने को तैयार थे। इसलिए महावीर के वक्त जो श्रेष्ठतम लोग थे केवल वे ही उनको सुन पाए— वे श्रेष्ठतम लोग चाहे पौधों में हों या पशु-पक्षियों में, या मनुष्यों में। महावीर को

सुनने के पहले प्रशिक्षण से, ध्यान की प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता था, ताकि आपका वाचाल मन शान्त हो जाय और आपकी गहन आत्मा महावीर के सामने आ जाय। संवाद हो सके उस आत्मा से। इसलिए महावीर की वाणी को पाँच सौ वर्ष तक फिर लिखा नही गया। तब तक लिखा नही गया, जब तक ऐसे लोग मौजूद थे जो महावीर के शरीर के गिर जाने के बाद भी महावीर के सन्देश लेने मे समर्थ थे। जब ऐसे लोग भी समाप्त होने लगे तब घबराहट फैली और तब महावीर-वाणी को सगृहीत करने की कोशिश की गई। इसलिए जैनो का एक वर्ग—दिगम्बर—महावीर की किसी भी वाणी को विश्वसनीय नही मानता। उनका कहना है कि चूंकि वह उन लोगो के द्वारा सगृहीत हुई है जो दुविधा मे पड गए थे, इसलिए वह प्रामाणिक नही कही जा सकती। श्वेताम्बरो के पास भी जो शास्त्र हैं, वे भी पूर्ण नही हैं।

लेकिन महावीर की पूरी वाणी को कभी भी पुन पाया जा सकता है। उसके पाने का ढग यह नही है कि महावीर के ऊपर लिखी गई किताबो मे उसे खोजा जाय। उसके पाने का बस एक ही रास्ता है। ऐसा ग्रुप, ऐसा स्कूल कायम किया जाय जिसमे थोडे-से लोग, जो चेतना को गहराई तक ले जा सके, महावीर से आज भी सम्बन्ध स्थापित कर सके। महावीर ने कहा है कि वही धर्म उत्तम है जो तुम केवली से सम्बन्धित होकर जान सको, बीच मे शास्त्र से सम्बन्धित होकर नही। केवली से कभी भी सम्बन्धित हुआ जा सकता है। शास्त्र बाजार मे मिल जाते हैं, किन्तु केवली से सम्बन्धित होना हो तो बडी गहरी कीमत चुकानी पड़ती है। स्वय के भीतर बहुत-कुछ रूपान्तरित करना पडता है। महावीर कहते थे, बिना कीमत चुकाए कुछ भी नही मिलता और जितनी बडी चीज पानी हो, उतनी ही बड़ी कीमत चुकानी पडती है।

इसलिए जब वे बार-बार कहते है कि अरिहत उत्तम हैं, सिद्ध उत्तम हैं, साधु उत्तम है, केवली-प्ररूपित धर्म उत्तम है, तब वे यह कह रहे है कि इतने उत्तम को पाने के लिए सब-कुछ निछावर करने की तैयारी रखना, सब-कुछ खोना पडेगा, स्वय को भी। जब भी कोई स्वय को खोने को तैयार होता है तब वह केवली-प्ररूपित धर्म से सीधे सयुक्त हो जाता है। वही धर्म जो जाननेवाले से सीधे मिलता हो अथवा बिना मध्यस्थ के प्राप्त होता हो, श्रेष्ठ है।



तृतीय अध्याय

शरण की स्वीकृति

केवलिपन्नत्त धम्मं सरणं पवज्जामि।[1]

—प्रचप्रति० संथारा० सू०

(१) कृष्ण ने गीता में कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (१८।६६) "हे अर्जुन! तू सभी धर्मों को छोड़कर एक मेरी ही शरण में आ।" कृष्ण जिस युग में बोल रहे थे वह युग अत्यन्त सरल एवं मृदुल श्रद्धा का युग था। किसी को ऐसा न लगा कि कृष्ण अहंकार की बात कह रहे हैं कि तू सब छोड़कर मेरी ही शरण में आ। वस्तुतः इससे ज्यादा अहंकारग्रस्त घोषणा दूसरी नहीं हो सकती। लेकिन बुद्ध और महावीर तक आते-आते आदमी की चित्त-दशा में बहुत फर्क हो जाता है। इसलिए जहाँ हिन्दू चिन्तना 'मामेकं शरणं व्रज' को केन्द्र मानकर खड़ा है वहाँ बुद्ध और महावीर को अपनी दृष्टि में आमूल परिवर्तन करना पड़ा। महावीर ने नहीं कहा कि तुम सब छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। बुद्ध ने भी ऐसी बात नहीं कही। जो महावीर और बुद्ध का सूत्र है वह साधक की ओर से है सिद्ध की ओर से नहीं। अरिहंत, सिद्ध और केवली प्ररूपित धर्म को स्वीकार करता हूँ—यह दूसरा छोर है शरणागति का। दो ही छोर हो सकते हैं। चाहे तो सिद्ध कहे कि मेरी शरण में आओ या साधक कहे कि मैं आपकी शरण में आता हूँ।

(२) हिन्दू और जैन विचार में यही मौलिक भेद है। हिन्दू विचार में सिद्ध कहता है आओ मेरी शरण में, जैन विचार में साधक कहता है कि मैं आपकी शरण में आता हूँ। इससे पता चलता है कि जहाँ कृष्ण का युग श्रद्धा का युग था वहाँ महावीर का युग तर्क का युग था। यदि महावीर कहते कि मेरी शरण में आ जाओ तो लोगों को तत्काल लगता कि ये बड़े अहंकारी हैं।

बुद्ध की परम्परा में भी ऐसा ही सूत्र है—बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि। फिर तो महावीर और बुद्ध के सूत्र में जो बात [illegible] है। यह भेद संस्कृति और [illegible] का [illegible] है [illegible] एकदम साफ पड़ते हैं। जब कोई कहता है—बुद्धं शरणं

१ केवली प्ररूपित (अर्थात् भगवान्-कथित) धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

गच्छामि, तब वह पहला कदम उठाता है। जब कोई कहता है—अरिहंते शरणम् पवज्जामि, तब वह शरण जाने की अन्तिम स्थिति में है, वह अन्तिम कदम उठाता है। जब कोई कहता है कि शरण मे आता हूँ, तब वह बीच से लौट भी सकता है। यह भी हो सकता है कि यह उसकी यात्रा का प्रारम्भ हो, यात्रा पूरी न हो या उसके बीच मे व्यवधान हो जाय—यात्रा के मध्य में ही कोई तर्क द्वारा समझाकर वापस लौटा दे, कारण कि तर्क शरण में जाने का नितान्त विरोधी है।

(३) महावीर का सूत्र है—अरिहन्त की शरण स्वीकार करता हूँ। उसमें लौटना नहीं हो सकता। यह 'प्वाइंट ऑफ नो रिटर्न' है। यदि 'शरण मे जाता हूँ' कहें तो इसमें क्षमी काल का व्यवधान होगा, समय लगेगा शरण तक पहुँचते-पहुँचते। आज जो कहता है कि शरण मे जाता हूँ, वह हो सकता है कि कितने जन्मो के बाद शरण में पहुँचे। अपनी-अपनी गति और अपनी-अपनी मति पर निर्भर होगा यह। लेकिन 'स्वीकार करता हूँ' की खूबी यह है कि यह 'सडेन जम्प' है, समग्र छलांग है। 'स्वीकार करता हूँ'—अर्थात् स्वय को तत्काल अस्वीकार करता हूँ क्योकि शरण स्वीकार करता हूँ। अगर आप अपने को स्वीकार करते हैं तो शरण को स्वीकार नहीं कर सकेंगे। शरण की स्वीकृति अहकार की हत्या है। चेतना मे धर्म का विकास अहंकार के विसर्जन से शुरू होता है।

कृष्ण के युग मे सत्य को उपलब्ध कर लेना जितना आसान था उतना महावीर के युग मे नही। हमारे युग मे सत्य को उपलब्ध कर लेना अत्यधिक कठिन है। आज न तो सिद्ध कह सकता है कि मेरी शरण मे आ और न साधक कह सकता है कि मैं आपकी शरण मे आता हूँ। महावीर चुप रह गए। आज अगर साधक किसी सिद्ध की शरण जाए और सिद्ध मौन रहे तो साधक समझेगा कि अच्छा है, मौन सम्मति का लक्षण है। मतलब कि साधक की दृष्टि मे सिद्ध अहकारी है। आश्चर्य नही कि कुछ दिनो बाद साधक से सिद्ध को ही कहना पडे कि मैं आपकी शरण मे आता हूँ, मुझे स्वीकार कीजिए। शायद साधक तभी यह मानने को तैयार होगा कि यह आदमी ठीक है।

शरण की स्वीकृति का मूल्य क्या है, इसे हम दो-तीन दिशाओ से समझने की कोशिश करे।

(४) पहले तो शरीर के समर्पण को ही समझने की कोशिश करे। भारतीय योग मे शवासन का प्रयोग शरीर के पूर्ण समर्पण का प्रयोग है। शवासन का अर्थ है पूर्ण समर्पित शरीर की दशा, जब आदमी ने अपने शरीर को बिलकुल छोड दिया हो, जब उसने अपने शरीर को पूरी तरह 'रिलैक्स' कर दिया हो। यह बहुत ही अद्भुत वैज्ञानिक सत्यो से भरा हुआ प्रयोग है। बल्गेरियन डॉक्टर लोज़ानोव का कहना है कि जब हम पृथ्वी के साथ समानान्तर लेट जाते है तब जगत् की शक्ति हममे सहज ही प्रवेश कर जाती है। जब हम खड़े होते हैं तब शरीर ही खडा नही होता, भीतर

अहंकार भी इसके साथ खड़ा हो जाता है। जब हम लेट जाते हैं तब हमारा अहंकार भी लेट जाता है। हमारे डिफेंस के तत्त्व गिर जाते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि मनुष्य की बुद्धि विकसित हुई है उसके खड़े होने से। यह सच है। सभी पशु पृथ्वी के समानान्तर जाते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि आदमी का पैर पर खड़ा हो जाना ही उसकी तथाकथित बुद्धि का विकास है। लेकिन साथ ही जीवन के अन्तरतम से जागतिक शक्तियों से, उसके सब गहरे सम्बन्ध शिथिल और क्षीण हो गए हैं। उस लेटकर यह सम्बन्ध पुनः स्थापित करना पड़ता है। इसलिए अगर मंदिरों में मूर्तियों के सामने, गिरजाघरों में, मस्जिदों में लोग झुककर जमीन पर लेट जाते हैं तो उसका वैज्ञानिक कारण है। लेटने पर हमारा डिफेंस टूट जाता है हमारी अकड़ छूट जाती है। जब कोई समर्पण कर देता है तब वह अपने को सब भाँति छोड़ देता है जैसे कोई तैरना छोड़ नदी की धार में अपने को छोड़ दे और धार बहाने लगे [illegible] बहने दे। सो शरणागति बहाव है, फ्लोट करना है और जैसे ही कोई बहता है वैसे ही चित्त के सभी तनाव छूट जाते हैं।

(५) शरणागति आन्तरिक आकृति का बदलना भी है। जब आप खड़े होते हैं तो आपके भीतर की चित्ताकृति अहंकार किस्म की होती है और जब आप पृथ्वी पर लेट जाते हैं तब वह कुछ और होती है। चित्त की भी विशेष आकृतियाँ होती हैं। अगर कोई परिपूर्ण भाव से कहे कि मैं अरिहंत की शरण आता हूँ, सिद्ध की शरण आता हूँ, धर्म की शरण आता हूँ तो यह भाव उसकी आन्तरिक आकृति को बदल देता है और आन्तरिक आकृति के बदलते ही उसके आचरण में रूपान्तरण शुरू हो जाता है। आपके अन्दर में आपकी ऊर्जा भी रूप लेती है। आप जिस तरह के भाव करते हैं, आपकी ऊर्जा उसी तरह का रूप ग्रहण करती है।

(६) तिब्बती योगाभ्यासी बिना किसी सहारे के जमीन से चार फुट ऊपर उठ जाता है और कुछ मिनट तक जमीन से चार फुट ऊपर गुरुत्वाकर्षण के पार रहा आता है। वैज्ञानिकों द्वारा की गई जाँच-पड़ताल से प्रमाणित है कि यह चमत्कार घटता है। तिब्बती का कहना है कि इस उठने का रहस्य उसके समर्पण भाव में है। मैं परमात्मा से कहता हूँ कि मैं तेरे हाथ में, अपने को छोड़ता हूँ [illegible]। मैं अपनी ताकत से नहीं उठता, उसकी ताकत से ऊपर उठता हूँ। जब तक मैं लड़ता हूँ, मेरा अहंकार रहता है तब तक मैं ऊपर नहीं उठ पाता।

शरणागति का अर्थ ही पूर्ण समर्पण है।

जब परमात्मा पर सब कुछ छोड़ दिया [illegible] जीवन के [illegible] हमें [illegible] है? हमारा अपना [illegible] है? अगर [illegible] कोई [illegible] तो [illegible] शक्ति की शरण [illegible] तो [illegible] [illegible]

शरीर की माँग—भूख, प्यास आदि—छूट जाए ? अगर जमीन कशिश छोड सकती है, अगर प्रकृति का एक नियम टूट सकता है, तो सब नियम टूट सकते हैं।

यह भी स्मरण रहे कि सिद्धासन में बैठना शरीर में पिरामिड की ही आकृति पैदा करना है। बुद्ध और महावीर की सारी मूर्तियाँ जिस आसन में हैं, वह पिरामिडिकल है। जमीन पर दोनो पैर का आधार बडा हो जाता है और ऊपर सब छोटा होता जाता है, सिर पर शिखर हो जाता है, एक त्रिकोण बन जाता है। ऐसे आसन को सिद्धासन कहते है। क्यो ? क्योंकि इस आसन मे सरलता से प्रकृति के नियम अपना काम छोड देते है और प्रकृति के ऊपर परमात्मा के जो गहन सूक्ष्म नियम हैं, वे भी काम नही करते।

(७) शरणागति की अपनी आकृति है, अहकार की अपनी आकृति। अहकार को हम सदा खडा हुआ ही सोच सकते हैं। शरण का भाव लेट जाने का भाव है, किसी विराट् शक्ति के समक्ष अपने को छोड देने का भाव है।

महावीर ने बारह वर्षो मे केवल तीन सौ पैसठ दिन भोजन किया। ग्यारह वर्ष बिलकुल नही। फिर भी महावीर से ज्यादा स्वस्थ शरीर खोजना मुश्किल है। महावीर के पीछे चलनेवाले व्यक्ति इसके रहस्य को समझ नही पाए। इस सम्बन्ध मे राबर्ट पावलिता द्वारा किए गए कुछ प्रयोग बड़े प्रासगिक हैं। उसने बरफिलाव नामक व्यक्ति को तीन सप्ताह के लिए सम्मोहित रखा और सम्मोहन की अवस्था मे उसे बार-बार झूठा भोजन दिया। बरफिलाव की जाँच के लिए डॉक्टर नियुक्त किए। वे रोज आते और बताते कि बरफिलाव का शरीर और भी स्वस्थ होता चला जा रहा है। उसको जो शारीरिक तकलीफ थी, वह पाँच दिन के बाद विलीन हो गई, उसका शरीर पूर्ण स्वस्थ हो गया। सातवे दिन के बाद शरीर की सामान्य क्रियाएँ भी बन्द हो गई। उसका वजन बढ गया।

इस प्रयोग के बाद महावीर को समझना आसान होगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि जिन लोगो को भी उपवास करना हो, वे तथाकथित जैन साधुओ के उपवास के पागलपन मे न पडे। उन्हे कुछ भी पता नही है। वे सिर्फ भूखे मरवा रहे हैं, अनशन को उपवास कह रहे है। उपवास की तो कोई और ही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। और अगर इस भाँति प्रयोग किया गया तो वजन नही गिरेगा। परन्तु महावीर का वह सूत्र खो गया। सम्भव है, राबर्ट पावलिता-जैसे लोग उस सूत्र को फिर से पैदा कर ले। लेकिन हम अभागे लोग धर्म की बातो और विवादो मे इतना समय नष्ट करते और करवाते हैं कि सार्थक बातों को करने के लिए समय और सुविधा नही बच रहती।

पावलिता का प्रयोग बेहोश और सम्मोहित आदमी पर किया गया है। महावीर तो पूर्ण जाग्रत पुरुष थे। वे उन जाग्रत लोगो मे से थे जो निद्रा मे भी जाग्रत रहे। तो महावीर का सूत्र क्या था ?

(८) असल में सम्मोहन में और महावीर के सूत्र में एक आंतरिक सम्बन्ध है। सम्मोहित व्यक्ति बेहोशी में विवश होकर समर्पित हो जाता है, उसका अहंकार सो जाता है। महावीर जागकर उस अस्मिता और अहंकार को खो देते हैं और समर्पित हो जाते हैं। अगर आप होशपूर्वक भी, जागे हुए भी समर्पित हो सकें और कह सकें कि 'अरिहंत शरणम पवज्जामि' तो आप उसी रहस्य-लोक में प्रवेश कर जाएँगे जहाँ रजलिव और पावलिता प्रयोग करता है।

ध्यान रहे, मनुष्य के चित्त में जब तक अहंकार है तब तक भय होता है। भय और अहंकार एक ही ऊर्जा के नाम हैं। अहंकारी अत्यंत भयातुर होता है। महावीर कहते हैं कि अभय तो वही हो सकता है जो समर्पित है, शरणागत है। जिसने अपने को छोड़ा उसके भय का कोई कारण नहीं रहा।

(९) यह सूत्र शरणागति का है। इस सूत्र के साथ नमोकार पूरा हो जाता है। नमस्कार से शुरू होकर वह शरणागति पर पूरा होता है और इस अर्थ में नमोकार पूरे धर्म की यात्रा बन जाता है।

शरणागति का पहला सम्बन्ध उस आंतरिक ज्यामिति से है जो आपके भीतर की चेतना की आकृति बदलती है। दूसरी बात—आप प्रकृति के साधारण नियमों के बाहर चले जाते हैं, किसी गहन अर्थ में आप निष्क्रिय हो जाते हैं। और तीसरी बात—शरणागति आपके जीवन-द्वारों को परम ऊर्जा की तरफ खोल देती है। विश्व-ऊर्जा के स्रोतों की ओर स्वयं को खोलना हो तो शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

(१०) इसलिए अहंकारी व्यक्ति दीन-से-दीन व्यक्ति है जिसने अपने को समस्त स्रोतों से तोड़ लिया है, जो सिर्फ अपने पर ही भरोसा कर रहा है। उसका जीवन सिर्फ सड़ने का एक क्रम होगा, मरने की एक प्रक्रिया होगा। रस पाता है फूल अपनी जड़ों से, सूर्य से, चाँद-तारों से। अगर फूल समर्पित है तो प्रफुल्लित हो जाता है। सब द्वारों से उसे रोशनी और प्रकाश मिलता है। जीवन-ऊर्जा के परम स्रोतों की तरफ अपने को खोलना ही शरणागति है।

(११) अगर आप में भी ऊर्जा प्रवाहित हो जाती है, तो क्या परम शक्ति के प्रति समर्पित होकर आप उसकी ऊर्जा को अपने में समाविष्ट नहीं कर सकते? ऊर्जा के प्रवाह हमेशा दोनों तरफ होते हैं। जो ऊर्जा आपसे बह सकती है वह आपकी तरफ भी बह सकती है। अगर गंगा सागर की तरफ बहती है तो क्या सागर गंगा की तरफ नहीं बह सकता? यह शरणागति सागर को गंगा की गंगोत्री की तरफ बहाने की प्रक्रिया है। शरणागति कहती है तुम मत, गिर जाओ और तुम पाओगे कि जिसकी शरण में तुम गिर गए हो, उससे तुमने कुछ खोया नहीं, पाया है। ईसा मसीह ने कहा है कि जो भी अपने को बचाएगा वह मिट जायगा, किन्तु धन्य हैं वे जो अपने को मिटा देते हैं क्योंकि उनको मिटाने की फिर किसी में सामर्थ्य नहीं है।

वह जो अमृत तथा जीवन का अनन्त रहस्य-स्रोत है चारो तरफ, उसके प्रतीक-शब्द है अरिहत, सिद्ध, साधु आदि। ये उस स्रोत की आकृति है हमारे पास। परमात्मा तो निराकार मे खडा है।

(१२) लेकिन आकार मे भी परमात्मा की छवि बहुत बार दिखाई पडती है—कभी किसी महावीर मे, कभी किसी बुद्ध या क्राइस्ट मे। लेकिन हम उस निराकार को पहचान नही पाते और उस आकृति मे कोई-न-कोई दोप निकाल लेते है। कहते है—क्राइस्ट की आकृति थोडी कम लम्बी है, यह परमात्मा की नही हो सकती। महावीर को तो बीमारी पकडती है, ये परमात्मा कैसे हो सकते है ? आपको खयाल नही कि आप आकृति की भूले निकाल रहे है और आकृति के भीतर जो मौजूद था, उससे चूके जा रहे है। आप वैसे आदमी हैं जो दीए की मिट्टी की भूले निकालता है और उसकी देदीप्यमान ज्योति की ओर दृक्पात नही करता। दीये की निराकार स्रोतरहित ज्योति ही मुख्य है, न कि दीये की मिट्टी, उसकी आकृति। लेकिन हम यह नही देखते कि कृष्ण ने क्या कहा, हम इसकी फिक्र करते है कि उनकी वाणी मे व्याकरण की भूले तो न थी ! वे शास्त्र-सम्मत बाते करते है अथवा नही ! जब तक हम दीये की नाप-जोख करते है तब तक ज्योति विदा हो जाती है और हम मरे हुए दीयो को हजारो साल तक पूजते रहते है। मरे हुए दीयो का हम बडा आदर करते है। इस जगत् मे जिन्दा तीर्थंकर का उपयोग नही होता, सिर्फ मुर्दा तीर्थंकर का उपयोग होता है, क्योकि मुर्दा तीर्थंकर के साथ भूल-चूक निकालने की सुविधा नही रह जाती। अगर आप महावीर के साथ रास्ते मे चलते हो और महावीर थककर वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे तो आपको शक होगा और आप कहेगे—'अरे, महावीर तो कहते थे कि भगवान् अनन्त ऊर्जा, अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य है ! कहाँ गई अनन्त ऊर्जा ? ये तो थक गए ! दस मील चले और पसीना निकल आया !' असल मे दीया थकता है। महावीर जिस अनन्त ऊर्जा की बात कर रहे है, वह ज्योति की बात है। दीए तो सभी के थक जायँगे और गिर जायँगे।

(१३) लेकिन हम दीये की भूलो पर ही ध्यान क्यो देते है ? हम यह इसलिए करते है कि हमे शरणागति से बचने का कोई बहाना मिल सके। आकृति के दोष कारण बनकर हमे शरण मे जाने से रोक सके। बुद्धिमान् वह है जो कारण खोजता है शरण मे जाने के लिए, बुद्धिहीन वह है जो कारण खोजता है शरण से बचने के लिए। दोनो प्रकार के कारण खोजे जा सकते है। महावीर जिस गाँव से गुजरते है उस गाँव के सभी लोग उनके भक्त नही हो जाते। उस गाँव मे भी उनके शत्रु होते ही है और वे भी अकारण नही होते होगे। वे कहते होगे कि अगर महावीर सर्वज्ञ हैं तो वे उस घर के सामने भिक्षा क्यो माँगते है जिसमे कोई है ही नही ? यदि ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति सर्वज्ञ होता है—महावीर खुद ऐसा ही कहते थे—तो उन्हे पता होना

ही चाहिए कि घर में कोई भी नहीं है। नहीं, वे सवार नहीं हैं। बस, बात यहीं खत्म हो गई, शरण से रुकने का उपाय हो गया। जिन्हें कारण ढूढ़ना होगा व यह भी कहते होंगे कि शास्त्र में तीर्थंकरों के कई लक्षण वर्णित हैं जिनमें एक लक्षण यह है कि जहां जहां तीर्थंकरों के चरण जाते हैं वहां वहां से घृणा का भाव तिरोहित हो जाता है, शत्रुता का भाव मिट जाता है। यदि महावीर तीर्थंकर होते तो उनके कान में कोई कीलें कैसे ठोंक पाता? कान में कीलें तो बहुत दूर से नहीं ठोंकी जा सकतीं, बहुत पास आना पड़ता है। यदि महावीर के पास आकर भी शत्रुता का भाव बच रहता है तो बात गड़बड़ है, संदिग्ध है मामला, महावीर तीर्थंकर नहीं हैं। मगर महावीर तीर्थंकर हैं या नहीं इससे आप क्या पा लेंगे? हां उनकी शरण जाने से आप बच सकेंगे, बस इतना ही। ऐसा प्रतीत होता है कि आपके शरण जाने से महावीर को कुछ मिलनेवाला है, जो आपने रोक लिया! भूल रहे हैं आप। शरण जाने से आपको ही कुछ मिल सकता था, जो आप चूक गए!

अगर आपको शरण नहीं जाना है तो आप कारण खोज ही लेंगे न जाने के। और अगर आपको शरण जाना है तो पत्थर की मूर्ति में भी आप कारण खोज सकते हैं जाने के। मजा यह है कि शरण में जाएं तो पत्थर की मूर्ति भी आपके लिए उसी परम सत्य का द्वार खोल देगी, शरण न जाएं तो खुद महावीर सामने खड़े रहेंगे और वह द्वार बन्द रहेगा। **धार्मिक आदमी मैं उसे कहता हूं जो कहीं भी शरण जाने का कारण खोजता ही रहता है।**

(१४) अगर ईसा मसीह सूली पर चमत्कार दिखा दें और तब आप उनकी शरण में जाएं, तो, ध्यान रखना यह शरणागति नहीं है। इसमें कारण ईसा मसीह हैं, आप नहीं। यह सिर्फ चमत्कार को नमस्कार है, इसमें कोई शरणागति नहीं है। शरणागति तो तब होती है जब कारण आप हों, ईसा मसीह या बुद्ध या महावीर का चमत्कार नहीं। इस फर्क को ठीक से समझ लें नहीं तो सूत्र का राज चूक जायगा। शरणागति उसी मात्रा में गहन होती है जिस मात्रा में शरणागति जाने का कोई कारण नहीं होता। अगर कारण होता है तो वह सौदा हो जाती है, शरणागति नहीं रह जाती। अगर बुद्ध मुर्दे को जिला रहे हैं तो उन्हें नमस्कार करना ही पड़ेगा। इसमें खूबी आपकी नहीं है इसमें तो कोई भी नमस्कार कर लेगा। परन्तु जब महावीर-जैसा आदमी आपके सामने खड़ा हो जाता है जिसमें कोई चमत्कार नहीं है जिसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो आपका ध्यान खींचे या जिससे आपको तत्काल लाभ दिखाई दे, जिसमें कुछ भी ऐसा नहीं जो आपके सिर पर पत्थर की चोट-जैसा प्रमाण बन जाय, और आप उसकी शरण चले जाते हैं तब आपके भीतर क्रान्ति घटित होती है, आपका अहंकार विलीन होने लगता है। सब तर्क, सब प्रमाण सब चालाकी की बातें अहंकार के ईद गिर्द हैं।

चतुर्थ अध्याय

धर्म का परम सूत्र : अहिसा और स्वभाव

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥[1]

—दश० अ० १ गा० १

(१) महावीर कहते है कि धर्म सर्वश्रेष्ठ मगल है। जीवन मे आनन्द की जो भी सम्भावना है वह धर्म के द्वार से ही प्रवेश करती है। जीवन मे सौन्दर्य के जो फूल खिलते है वे धर्म की जडो मे पोषित होते है। जीवन मे जो भी दुख है वह किसी-न-किसी रूप मे धर्म से च्युत हो जाने मे या अधर्म मे सलग्न हो जाने मे है। महावीर की दृष्टि मे धर्म का अर्थ है—जो मै हूँ उस होने मे ही जीना, जो मैं हूँ उससे जरा भी च्युत न होना।

जो मेरा अस्तित्व है उससे बाहर जाते ही मेरे दुख का प्रारम्भ हो जाता है। दुख का प्रारम्भ इसलिए हो जाता है कि जो मैं नही हूँ, उसे कितना ही चाहूँ तब भी वह मेरा नही हो सकता। जो मै नही हूँ, उसे मै कितना ही बचाना चाहूँ, उसे मै बचा नही सकता। वह खोएगा ही। मैं केवल उसे ही पा सकता हूँ जिसे मैंने किसी गहरे अर्थ मे सदा से पा रखा है। मै केवल उसका ही मालिक हो सकता हूँ जिसका मै जाने-न-जाने अभी भी मालिक हूँ। मृत्यु जिसे मुझसे छीन नही सकेगी, वही केवल मेरा है। रुग्ण हो जायगा सब-कुछ, नष्ट हो जायगा सब-कुछ, फिर भी जो विलीन नही होगा, वही मेरा है। गहन अधकार छा जाए, अमावस आ जाए जीवन मे चारो तरफ, फिर भी जो अँधेरा न होगा, वही मेरा प्रकाश है। लेकिन हम स्वय को खोजते है उसमे जो हम नही है, वही से विफलता और विवाद जनमता है, निराशा उत्पन्न होती है। इस जगत् मे बहुत कम लोग है जो स्वय को चाहते हैं।

(२) हम स्वय को पा सकते है और कुछ पा नही सकते। सिर्फ दौड सकते है। सत्य केवल एक है और वह यह कि मै स्वय के अतिरिक्त इस जगत् मे और कुछ भी नही पा सकता। हाँ, पाने की कोशिश कर सकता हूँ, श्रम कर सकता हूँ, आशा बाँध सकता हूँ। पाने के स्वप्न देख सकता हूँ। अधर्म का अर्थ है—स्वय को छोडकर

१. धर्म सर्वश्रेष्ठ मगल है। (कौन सा धर्म ?) अहिसा, संयम और तप।
जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म मे सदा सलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

और कुछ भी पाने का प्रयास। अधर्म का अर्थ है—स्वयं को छोड़कर अन्य पर दृष्टि। सच पूछिए तो हमारी दृष्टि सदा दूसरे पर लगी होती है, यहाँ तक कि हम अपनी शक्ल भी देखते हैं तो वह भी दूसरे के लिए। धर्म तो स्वयं को सीधा चाहने से उत्पन्न होता है क्योंकि धर्म का अर्थ है—स्वभाव, 'दि अल्टीमेट नेचर'।

(३) सार्त्र ने कहा है कि 'दि अदर इज हेल', अर्थात् वह जो दूसरा है वही नर्क है हमारा। 'दूसरा नर्क है,' महावीर यह सीधे नहीं कहते, क्योंकि इतना कहने में भी दूसरे को चाहने की आकांक्षा और फिर विफलता छिपी है। दूसरा नर्क इसीलिए मालूम पड़ता है कि हमने दूसरे को स्वर्ग मानकर खोज की। हम दूसरे के पीछे गए माना कहा—उसके पास—स्वर्ग है। सार्त्र कहता है कि दूसरा नर्क है क्योंकि उसमें स्वर्ग खोजने की कोशिश की गई है। जब स्वर्ग नहीं मिलता तो वह व्यक्ति नर्क मालूम पड़ता है। महावीर नहीं कहते कि दूसरा नर्क है। यह जानना कि दूसरा नर्क है, दूसरे में स्वर्ग को मानने से निकालना पड़ता है। अगर मैंने दूसरे से कभी सुख नहीं चाहा तो मुझे दूसरे से कभी दुःख नहीं मिल सकता। हमारी अपेक्षाएँ ही दुःख बनती हैं। अपेक्षाओं का भ्रम जब टूटता है तब निराशा हाथ लगती है। इसलिए दूसरा नर्क नहीं है। चूंकि तुमने दूसरे को स्वर्ग माना, इसलिए दूसरा नर्क हो जाता है। लेकिन तुम तो स्वयं स्वर्ग हो।

स्वयं को स्वर्ग मानने की जरूरत नहीं है। स्वयं का स्वर्ग होना स्वभाव है।

महावीर का वक्तव्य बहुत पाजिटिव है। वे कहते हैं धर्म मंगल है, स्वभाव मंगल है, स्वयं का होना मोक्ष है और स्वयं को मानने की जरूरत नहीं है कि मोक्ष है। ध्यान रहे, मानना हमें वहीं पड़ता है जहाँ नहीं होता। कल्पनाएँ हम वहाँ करनी होती हैं जहाँ कि सत्य कुछ और है। स्वयं को सत्य, धर्म या आनन्द मानने की जरूरत नहीं है। स्वयं में है मोक्ष—यह तब दिखाई पड़ना शुरू होता है, जब ध्यान की धारा दूसरे से हट जाती है और स्वयं पर लौट आती है।

(४) महावीर की यह घोषणा कि धर्म मंगल है, कोई परिकल्पनात्मक सिद्धान्त नहीं है और न यह कोई दार्शनिक वक्तव्य है। *जिस अर्थ में हीगल, कांट या बर्ट्रेंड रसल* दार्शनिक हैं उस अर्थ में महावीर दार्शनिक नहीं हैं। महावीर का यह वक्तव्य सिर्फ एक अनुभव, एक तथ्य की सूचना है। महावीर सोचते नहीं कि धर्म मंगल है वे जानते हैं कि धर्म मंगल है। अगर पश्चिम में किसी दार्शनिक ने यह कहा होता तो दूसरा वक्तव्य होता—क्यों? ह्वाई? लेकिन महावीर का दूसरा वक्तव्य ह्वाई का नहीं, ह्वाट का उत्तर देना है। वे कहते हैं—धर्म मंगल है। कौन सा धर्म? अहिंसा संजमो तवो। यदि अरस्तू ऐसा कहता तो वह तत्काल बताता कि मैं धर्म को मंगल क्यों कहता हूँ। महावीर कोई कारण नहीं देते। वस्तुतः अनुभूति के लिए कोई प्रमाण नहीं होता, सिद्धान्तों के लिए तर्क और प्रमाण होते हैं।

(५) महावीर-जैसे लोग प्रमाण नही देते, सिर्फ वक्तव्य देते है। उनके वक्तव्य वैसे ही वक्तव्य हैं जैसे आइस्टीन के या किसी और वैज्ञानिक के। अगर हम आइस्टीन से पूछते कि पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से मिलकर क्यो बना है, तो वह कहता कि क्यो का सवाल नही है, हम इतना ही कह सकते है कि वह बना है, ऐसा हुआ है। विज्ञान दूसरे के, अर्थात् पर के, सम्बन्ध मे वक्तव्य देता है, धर्म स्वय के सम्बन्ध मे।

क्या आपको पता है कि जब भी आपके जीवन मे कोई दुख आता है तो दूसरे के द्वारा ही आता है ? चिन्ता भीतर से नही, बाहर से आती मालूम पडती है। क्या कभी आप भीतर से चिन्तित हुए है ? आपकी चिन्ता का केन्द्र सदा बाहर रहा है। वह धन हो, बीमार मित्र हो, टूटती हुई दुकान हो, हारा हुआ चुनाव हो, कुछ भी हो—वह सदा दूसरा ही होता है।

(६) कभी-कभी ऐसा लगता है कि दूसरा सुख का भी कारण बनता है। इस भ्रान्ति का टूट जाना जरूरी है। इसी से सब उपद्रव शुरू होते है। ऐसा तो लगता ही है कि दूसरा दुख का कारण है, लेकिन ऐसा भी लगता है कि दूसरो से सुख मिल सकता है। सुख भी दूसरो से आते मालूम पडते है। ध्यान रखे कि दूसरो से दुख मिलने का कारण यही है कि हम दूसरो से सुख की आशा करते है। दूसरो से दुख आता ही इसलिए है कि हमने उनसे एक भ्रान्ति का सम्बन्ध बना रखा है और समझ रखा है कि उनसे सुख आ सकता है। सुख का आना सदा भविष्य मे होता है।

क्या कभी आपने जाना कि दूसरे से सुख आ रहा है ? सदा ऐसा लगता है कि आएगा, आता कभी नही। जिस मकान के लिए लालसा थी और कभी लगता था कि उसके मिल जाने से सुख मिलेगा, उसके मिलते ही सुख गायब हो जाता है। जब तक वह नही मिलता तब तक सुख की सम्भावना रहती है। यही बात अन्य चीजो पर भी लागू होती है। जिस दिन आपकी सभी मनोकामनाएँ पूरी हो जायँगी उस दिन पृथ्वी कितनी दुखी हो जायगी ! इसलिए जिस मुल्क मे सुख की जितनी सुविधाएँ बढती है उसमे उतना ही दुख भी बढता है। गरीब मुल्क कम दुखी होते है। मेरे इस कथन से आपको थोडी हैरानी होगी, लेकिन यह न भूले कि गरीब कम दुखी होता है, क्योकि अभी उसकी आशाओ का पूरा का पूरा जाल जीवित है—अभी वह अपनी आशाओ मे जी सकता है, वह अभी सपने देख सकता है।

वर्तमान मे सदा दुख है दूसरे के साथ। दूसरे के साथ सुख होता है सिर्फ भविष्य मे। अगर सारा भविष्य नष्ट हो जाय और जो-जो भविष्य मे मिलना चाहिए वह आपको अभी, इसी क्षण मिल जाय, तो आप सिवा आत्महत्या करने के कुछ भी नही कर सकेंगे। इसलिए जितना सुख बढता है, उतनी आत्महत्याएँ बढती

हैं। महावीर अपने घर म जितने दुखी हुए, उनके घर के सामने भीख मागनेवाला भिखारी भी उतना दुखी न था। महावीर का दुख इस बात से पैदा हुआ है कि उस युग म जो भी मिल सकता था वह मिला हुआ था। उनके लिए कोई भविष्य नहा बचा था। जब भविष्य न बचे तो सपने कहा खडा कीजिएगा? जब भविष्य न बच तो कागज की नाव किस सागर में चलाइएगा? भविष्य के सागर म ही चलती है कागज की नाव। अगर भविष्य न बच तो किस भूमि पर ताशो का भवन बनाइएगा? अगर ताशो का भवन बनाना हो तो भविष्य की नाव चाहिए।

(७) हम भी अनुभव है लेकिन हम पीछे लौटकर नही देखते। हम आगे ही देखे चले जाते हैं। जो आदमी आगे ही देखे चला जाता है वह कभी धार्मिक नही हो सकेगा। उस अनुभव स कोई लाभ न होगा। भविष्य म कोई अनुभव नही है अनुभव तो अतीत म है। आदमी की स्मृति भी बहुत अदभुत है! उसे खयाल नही रहता कि जिस कपडे का शो विण्डो म देखकर उसे कितना गुदगुदी मालूम पडी थी, वही जब उसके शरीर पर होता है तब उसम कोई क्रान्ति घटित नही होती कोई स्वर्ग उतर नहा आता। वह उतना का उतना ही दुखी रहता है। हा जब दूसरी दुकान की शो विण्डो म उसका मुख टटक जाता है। अब दूसरी दुकान की शो विण्डो उसकी नींद हराम कर देती है। पीछे लौटकर अगर देखें तो आप पाएँगे कि आपने जिन-जिन सुखो की कामना की थी व सभी दुख सिद्ध हो गए। आप एक भी ऐसा सुख नहा बता सकते जिसकी आपने कामना की थी और जो मिलने पर सचमुच सुख सिद्ध हुआ हो। आश्चर्य है कि आदमी फिर भी वही पुनरुक्ति किए चला जाता है और कल के लिए पहली-जैसी योजनाएँ बनाता है। वह जिस गड्ढे म कल गिरा था आज फिर उसी की तलाश करता है। ऐसा नहा कि वह केवल कल ही गिरा था। वह रोज रोज गिरता है फिर भी उसकी भ्रान्ति नही टूटती।

(८) असल म दूसरा पटकता है तो हम हँसते हैं लेकिन हम अपने को ही पटकते चले जाते हैं। जिन्दगी भर ऐसा ही चलता है और आखिर म दुख के घाव के अतिरिक्त हमारी कोई उपलब्धि नहा होती। घाव ही घाव रह जाते हैं।

इतना हम जानते हैं कि अधम अमगल है और अधम का मतलब समझ लेना—दूसरे से सुख पाने की आकाक्षा। दुख ही अमगल है। और कोई अमगल नहा। जब भी दुख मिले तो आप जानना कि आपने दूसरे से कहा सुख पाना चाहा था। बाहर म अपने शरीर से ही सुख पाना चाहूँ तो भी मुझे दुख ही मिलेगा—कल बीमारी आयगी शरीर क्षीण होगा बूढा होगा परसो मरेगा। यह शरीर जो इतना निकट मालूम होता है, पराया है। महावीर कहते थे कि जिससे भी दुख मिले, जानना कि वह और है वह तुम नहा हो।

(९) सुख अपरिचित है, क्योंकि हमारा सारा परिचय 'पर' से है दूसरे से

है। सुख सिर्फ कल्पना मे ही एक अनुभव है। लेकिन दुख, जो कि अनुभूत है, हम भुलाए जाते हैं और सुख, जो कि कल्पना है, हमे खीचे चला जाता है। महावीर का यह सूत्र इस पूरी वात को वदल देना चाहता है। धर्म मगल है। आनन्द की तलाश स्वभाव मे है। आपके जीवन मे कभी अगर आनन्द की कोई छोटी-मोटी किरण उतरी होगी, तो वह तभी उतरी होगी जव आप जाने-अनजाने किसी भाँति एक क्षण के लिए स्वय से सवद्ध होगे।

(१०) एक पत्नी को वदलकर दूसरी पत्नी के साथ जो क्षण भर का सुख मिलता है, वह सिर्फ वदलाहट का सुख है। वदलाहट का सुख भी सिर्फ इसलिए कि दो चीजो के वीच से क्षण भर के लिए आपको अपने भीतर से गुजरना पडता है। अनिवार्य है कि जव मैं एक से टूटूँ और दूसरे से जुडूँ, तो टूटने और जुडने के वीच मे जो गैप या अन्तराल है, उसमे कही तो रहूँगा। उसमे मैं अपने मे रहूँगा। वही अपने मे रहने का क्षण प्रतिफलित होगा और लगेगा कि दूसरे से सुख मिला। सभी वद-लाहट अच्छी लगती है। वस, वदलाहट का—यानी 'चेन्ज' का—जो सुख है, वह क्षण भर के लिए अचानक अपने से गुजर जाने का सुख है। इसलिए आदमी शहर से जगल भागता है, भारत से यूरप जाता है और यूरप से भारत आता है।

(११) सभी वदलाहटे आपके भीतर एक ऐसी स्थिति ला देती है कि आपको अनिवार्यरूपेण कुछ देर के लिए अपने भीतर से गुजरना पडता है। उसका ही प्रति-विम्व आपको सुख मालूम पडता है। अपने भीतर से क्षण भर गुजरते ही यदि आप सुखी हो जाते हैं तो जो सदा अपने भीतर जीने लगता है, उसके सुख की क्या सीमा होगी।

आधा सत्य हमारे पास है कि 'दूसरा' ही दुख है। कामना दुख है, वासना भी दुख है, क्योकि कामना और वासना सदा दूसरे की तरफ दौड़ानेवाले होते हैं। वासना का अर्थ है—दूसरे की तरफ दौडती हुई चेतन-धारा, भविष्य की ओर उन्मुख जीवन की नौका। अगर दूसरा दुख है तो उसकी ओर ले जानेवाला जो सेतु है, वह नर्क का सेतु है। उसको महावीर वासना कहते हैं। वही वुद्ध के लिए तृष्णा है।

वासना का न दौडना आत्मा का हो जाना है। आत्मा उस शक्ति का नाम है जो अपने मे खडी है। अहिसा, सयम और तप दौडती हुई ऊर्जा को ठहराने की विधियो के नाम हैं। धर्म के दो रूप हे। धर्म स्वभाव है और धर्म विधि है स्वभाव तक पहुँचाने की। धर्म का जो आत्यन्तिक रूप है वह है स्वभाव, स्वधर्म। चूँकि हम स्वभाव से भटक गए हैं, इसलिए यह कहने की जरूरत पडती हे। स्वस्थ व्यक्ति चिकित्सक से नही पूछता कि मैं स्वस्थ हूँ या नही।

(१२) धर्म का परम सूत्र है स्वभाव।

अहिसा धर्म की आत्मा है, केन्द्र है। तप धर्म की परिधि हे और सयम केन्द्र को

परिधि से जोड़नेवाला सेतु है। अहिंसा आत्मा है तप शरीर है और सयम प्राण है, यह दोना का जोड़ता है सांस है। साम टूट जाय ता शरीर होगा आत्मा भी होगी, लेकिन आप न होंगे। सयम टूट जाय ता तप हो सकता है अहिंसा भी हा सकती है, लेकिन धम नही हा सकता।

महावीर की दृष्टि मे अहिंसा धम की आत्मा है। अगर हम महावीर से पूछें कि एक ही शब्द म यह बतला दें कि धम क्या है, तो व कहेंगे—अहिंसा। दूसरे लोग कहेंगे—परमात्मा, आत्मा सेवा, ध्यान समाधि योग, पूजा प्रार्थना आदि-आदि। लेकिन महावीर के लिए धम का पर्याय है अहिंसा। पर महावीर की अहिंसा वह बचकानी अहिंसा नहीं है जो उनके माननवाले समझते रहे हैं।

(१३) धम की परिभाषा स्वभाव है। महावीर यह नहीं कहेंगे कि दूसरे को सुख देना ही धम है क्योंकि इससे दूसरा आ खड़ा होता है। महावीर कहते हैं कि धम तो वही है जहाँ दूसरा है ही नहीं। दूसरे को दुख मत दो—यह भी महावीर की परिभाषा नहीं हो सकती कारण महावीर मानने को तैयार नहीं कि हम दूसरे का दुख दे सकते हैं जब तक दूसरा लेना ही न चाहे। यह भ्रान्ति है कि मैं दूसरे का दुख दे सकता हूँ। यह भ्रांति इस पर खड़ी है कि मैं दूसरे से दुख पा सकता हूँ। मैं दूसरे से सुख पा सकता हूँ, मैं दूसरे को सुख दे सकता हूँ—ये सब भ्रान्तियाँ एक ही आधार पर खड़ी हैं। क्या कोई महावीर को दुख दे सकता है? नहीं, आप महावीर का दुख नहीं दे सकते, क्योंकि वे दुख लेने को तैयार नहीं हैं। आप उसी को दुख दे सकते हैं जो दुख लेने को तैयार हो। आप यह जानकर हैरान होंगे कि आप हमेशा दुख लेने को उत्सुक रहते हैं। अगर कोई आदमी आपकी चौबीसों घंटे प्रशंसा करे तो आपको सुख नहीं मिलेगा लेकिन अगर वह एक गाली दे दे तो आप आजीवन दुखी रहेंगे। कोई आपकी बरसों सेवा करे आपको सुख नहीं मिलेगा, लेकिन एक दिन वह आपके खिलाफ एक शब्द बोल दे तो आप बेहद दुखी हो जायेंगे, उसकी सारी सेवा व्यर्थ हो जायगी। इससे क्या सिद्ध होता है?

(१४) इससे यही सिद्ध होता है कि आप सुख लेने को उतना आतुर नहीं हैं जितना दुख लेने को। यानी आपकी उत्सुकता जितनी दुख लेने में है उतनी सुख लेने में नहीं है। अगर मुझे किसी ने उन्नीस बार नमस्कार किया और एक बार नमस्कार नहीं किया तो उन्नीस बार के नमस्कार से मैंने जितना सुख नहीं लिया है उससे अधिक दुख एक बार के नमस्कार न करने से ले लेता हूँ। आश्चर्य है! हम दुख के लिए जो इतने संवेदनशील हैं, उसका कारण क्या है? उसका कारण यह है कि हम दूसरों से सुख चाहते हैं। इतना ज्यादा कि वही चाह हमारे दुख का द्वार बन जाती है। महावीर नहीं कह सकते कि अहिंसा का अर्थ है दूसरे को दुख न देना। दूसरे का कौन दुख दे सकता है अगर दूसरा लेना न चाहे तो? जो लेना

चाहता है उसको कोई न भी दे तो भी वह ले लेगा—यह भी मैं आपसे कह देना चाहता हूँ।

(१५) जितने दुख आपको मिल रहे है, उनमे से ९९ प्रतिशत आपके आविष्कार है। जरा सोचे, किस-किस तरह आप आविष्कार करते है दुख का ! असल मे बिना दुखी हुए आप रह नही सकते। दुख भी जीने के लिए काफी बहाना है ! देखते है न कि दुखी लोग कितने रस से जीते है और अपने दुख की कथा कितने रस से कहते है और उसे किस प्रकार बढा-चढाकर सुनाते हैं ! यदि सुई लग जाय तो तलवार से कम नही लगती वह उन्हे !

(१६) वे अपनी सारी इन्द्रियो को चारो तरफ सजग रखते है एक ही काम के लिए कि कही से दुख आ रहा हो तो चूक न जाएँ, उसे जल्दी से ले ले। कही अवसर न खो जाय ! यही दुख हमारे जीने की वजह है।

तो महावीर की अहिंसा का अर्थ यह नही है कि दूसरे को दुख मत देना। महावीर तो कहते है कि दूसरे को न तो कोई दुख दे सकता है और न कोई सुख दे सकता है। महावीर की अहिंसा का यह भी अर्थ नही है कि दूसरे को मार मत डालना। महावीर भलीभाँति जानते है कि इस जगत् मे कौन किसको मार सकता है ? मृत्यु असम्भव है।

(१७) लेकिन महावीर के पीछे चलनेवालो ने अत्यन्त साधारण परिभाषाओ का ढेर इकट्ठा कर लिया है। क्या अहिंसा का अर्थ यही है कि मुँह मे पट्टी बाँध ली जाय ? अहिंसा का अर्थ यही है कि रात मे पानी न पिया जाय ? यह सब ठीक है; मुँह पर पट्टी बाँधने मे या पानी छानकर पीने मे कोई हर्ज नही है। लेकिन इस भ्रम मे न रहिए कि आप किसी को मार सकते है। किसी को दुख मत दीजिए, लेकिन इस भ्रम मे भी न रहिए कि आप किसी को दुख दे सकते है। मैं यह नही कहता कि आप जाएँ और मार-पीट करे (क्योकि मार तो कोई सकता नही)। मैं आप से यह नही कह रहा हूँ। महावीर की अहिंसा का अर्थ यह नही है। महावीर के लिए अहिंसा वही अर्थ रखती है जो बुद्ध के लिए तथाता रखती थी। तथाता का अर्थ है 'टोटल ऐक्सेप्टिबिलिटी'। जो जैसा है, वह वैसा ही हमे स्वीकार है। हम उसमे कुछ हेर-फेर नही करेगे। मान लीजिए कि एक चीटी चल रही है रास्ते पर। हम कौन है जो उसके रास्ते मे किसी तरह का हेर-फेर करने जाएँ ? शायद वह अपने बच्चो के लिए भोजन जुटाने मे लगी है। हो सकता है, योजनाओ का उसका निजी जगत् हो। महावीर कहते है कि मै अपनी ओर से उसके बीच मे न आऊँ। जरूरी नही है कि मै ही चीटी पर पैर रखूँ तो वह मरे। चीटी खुद मेरे पैर के नीचे आकर मर सकती है। यह चीटी जाने और उसकी योजना जाने। योजना छोटी नही है, यह जन्मो-जन्मो की है, कर्मो का विस्तार है। चीटी के अपने कर्मो और फलो

की लम्बी यात्रा है। मैं किसी की यात्रा म किसी भी कारण बाधा न बनू। मैं चुप चाप अपनी पगडडी पर चलता रहूँ। मैं ऐसा हो जाऊँ जैसे हूँ ही नहीं।

(१८) महावीर की अहिंसा का यही गहनतम अर्थ है—म ऐसा हो जाऊँ जैसे मैं हूँ ही नही। मेरी उपस्थिति कही प्रगाढ न हो जाय, मेरा होना कही किसी के होने म जरा सा भी अडचन और व्यवधान न बने। मैं जीते जी मर जाऊँ।

अपनी उपस्थिति का अनुभव करवाना ही महावीर की दृष्टि मे हिंसा है। जब मैं चाहूँगा कि आप मेरी उपस्थिति का अनुभव कर तो मैं यह भी चाहूँगा कि आपकी उपस्थिति का मुझे पता न चले। मेरी उपस्थिति का आपको पता चले, यह तभी हो सकता है जब मैं आपकी उपस्थिति को एस मिटा दू जैसे आप हैं ही नही। हम सबकी कोशिश यही होती है कि दूसरे की उपस्थिति मिट जाय और हमारी उपस्थिति कायम रह लोगो को महसूस हो—यही हिंसा है।

अहिंसा इसके विपरीत है। दूसरा उपस्थित हो और इतनी अच्छी तरह उप स्थित हो कि मेरी उपस्थिति से उसकी उपस्थिति म कोई बाधा न पडे। अहिंसा का गहन अर्थ यही है—अनुपस्थित व्यक्तित्व। चाहे हम हीरे का हार पहन कर खडे हो गए हो या हमन लाखो क वस्त्र डाल रखे हो या हम नग्न खडे हो गए हो—हमारी कोशिश यही है कि दूसरा अनुभव कर कि मैं हूँ। मैं चन से बैठने नही दूगा। आपको मानना ही पडेगा कि म हूँ। छोटे-छोटे बच्चे भी ऐसा हिंसा म निष्णात होना शुरू हो जाते हैं और मेहमानो के सामने अपने होने की घोषणा किए बिना नही रहते। इसका कारण यह है कि हमारा पूरा-का पूरा आयोजन, हमारा पूरा समाज हमारी पूरी सस्कृति अहकार पर निर्मित है, अधम की नीव पर खडी है।

(१९ २०) अहिंसक वह है जो परिवतन के लिए जरा भी चेष्टा नहीं करता। उसके लिए जो हो रहा है वह ठीक है। जीवन रहे तो ठीक, मृत्यु आ जाए तो ठीक। हमारी हिंसा किस बात से पैदा होती है ? इसस कि जो हो रहा है वह नही, जो हम चाहते हैं वह हो। इसलिए जिस युग म परिवतन की जितनी ज्यादा आकाक्षा भरती है, वह युग उतना ही हिंसक होता चला जाता है।

(२१) महावीर की अहिंसा का अर्थ यह है कि जो है उसके लिए हम राजी हैं। कोई बदलाहट नही करनी है। आपने चाँटा मार दिया, ठीक है हम राजी हैं। हम अब कुछ भी नहीं करना है, बात समाप्त हो गई। हमारा कोई प्रत्युत्तर नहीं है। जीजस कहते ह दूसरा गाल सामने कर दो। महावीर इतना भी नहीं कहते, क्योकि दूसरा गाल सामने करना भी एक उत्तर है। महावीर कहते है कि करना ही हिंसा है कर्म ही हिंसा है अकम अहिंसा। तुम चुपचाप गुजरते जाना। पानी म लहर उठती है उसे मिटानी नही पडती, वह अपने आप मिट जाती है। इस जगत म जो

तुम्हारे चारो तरफ हो रहा है, उसे होने देना—वह अपने आप उठेगा और गिर जायगा। उसके उठने और गिरने के नियम हैं। तुम बीच मे व्यर्थ मत आना।

(२२) लाओत्से ने कहा है कि श्रेष्ठतम सम्राट् वह है जिसकी प्रजा को पता ही नही चलता कि वह है भी या नही। महावीर की अहिंसा का अर्थ है—ऐसे हो जाओ कि तुम्हारे होने का पता ही न चले।

लेकिन हमारी सारी चेष्टा यह दिखाने मे लगी है कि हम भी कुछ है। हम चाहते है कि सारी दुनिया का ध्यान हम पर ही केन्द्रित रहे, सभी हमे देखें। यही हिंसा है। पूरे वक्त हमारा यह चाहना कि ऐसा हो, ऐसा न हो, हिंसा है। यदि हम दौड रहे है कि वह मकान मिले, वह धन-यश और पद मिले, तो हमे हिंसा से गुजरना ही पडेगा। वासना हिंसा के बिना नही हो सकती। इसलिए समझिए कि आदमी जितना वासनाग्रस्त है, वह उतना ही हिंसक भी है, वह जितना वासनामुक्त है, उतना ही अहिंसक भी। यदि आपमे मोक्ष पाने की वासना है तो आपकी अहिंसा भी हिंसक हो जायगी। बहुत-से लोगो की अहिंसा हिंसक है। अहिंसा भी हिंसक हो सकती है। जो मोक्ष की वासना से अहिंसा के पीछे जायगा, उसकी अहिंसा हिंसक हो जायगी। इसलिए तथाकथित अहिंसक साधकों को अहिंसक नही कहा जा सकता।

महावीर कहते हैं कि पाने को कुछ भी नही है। जो पाने योग्य है, वह पाया ही हुआ है। बदलने को कुछ भी नही है, क्योकि यह जगत् अपने ही नियमो से बदलता रहता है। क्रान्ति करने का कोई कारण नही है, क्रान्ति होती ही रहती है। कोई क्रान्ति-वान्ति करता नही, क्रान्ति होती ही रहती है। लेकिन क्रान्तिकारी को ऐसा लगता है कि वह क्रान्ति कर रहा है। उसका यह दावा उस तिनके के दावे की तरह है जो सयोग से सागर की एक बडी लहर पर चढ जाता है और कहता है कि लहर मैंने ही उठाई है।



पचम अध्याय

जीवेपणा और महावीर की अहिंसा

अहिंमा ममय चेव, एयावन्त वियाणिया ।[1]

—सू० श्रु० १ अ० ११, गा० १०

(१) हिंसा पैदा ही क्या होता है ? हिंमा जन्म के साथ ही क्या जुडी है ? जिसे हम जीवन कहते ह वह हिंसा का ही तो विस्तार है । ऐसा क्या ? पहली बात, और अत्यधिक आधारभूत बात—वह ह जीवेपणा । जीने की जो आकाक्षा है, उसस ही हिंमा जन्म लेती है । अकारण भी हम जीने को आतुर हैं । जीवन से कुछ फलित न भी होता हो तो भी जीना चाहत हैं । जीने का एक अत्यन्त पागल और विक्षिप्त माव है हमारे मन म । मरने के आखिरी क्षण तक भी हम जीना ही चाहत ह दूसरे के जीवन के मूल्य पर भी जीना चाहत है । जीवेपणा की इस विक्षिप्तता से ही हिंसा के मब रूप जन्म लेत हैं ।

(२) महावीर यही पूछते हैं कि जीना क्या है ? बडा गहन सवाल उठाते हैं । सृष्टि किसने रची, मोक्ष कहाँ है—य सवाल शायद इतने गहरे नहीं हैं । महावीर पूछते हैं—जीना ही क्या है ? इसी प्रश्न से महावीर का सारा चिन्तन और सारी साधना निकलती है ।

महावीर कहत ह कि जीने की यह बात ही पागलपन है । जीने की इस आकाक्षा म जीवन बचता हो ऐसा नहीं है केवल दूसरो के जीवन को नष्ट करने की दौड पैदा होती है । जीवन बच जाता, तो भी ठीक था । बचता भी नहीं है । अन्तत मौत ही हाथ लगती है । महावीर कहते हैं कि ऐसे जीवन के पागलपन को मैं छोडता हूँ जिसके लिए मैं दूसरो के जीवन को नष्ट करने के लिए तैयार होता हूँ और अपना बचा भी नहीं पाता । जो व्यक्ति जीवेपणा छोड देता है, वही अहिंसक हो सकता है । तब उसमे जीने का कोई आग्रह नहीं रहता तब वह किसी के विनाश के लिए भी राजी नहीं होता ।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि महावीर मरने की आकाक्षा रखते थे । फ्रॉयड कहता था कि जिन लोगो की जीवेपणा रुग्ण हो जाती है वे फिर मृत्यु की आकाक्षा

---

१ अहिंसा को ही शास्त्रकथित शाश्वत धर्म समझना चाहिए ।

मे भर जाते है। लेकिन फ्रॉयड की समझ उतनी गहरी नही है जितनी महावीर की है। महावीर कहते है कि आत्महत्या करनेवाला भी जीवेषणा से ही पीड़ित रहता है।

(३) इसे थोडा समझना पडेगा। कभी आपने किसी ऐसे आदमी को आत्महत्या करते देखा है जिसकी जीवेषणा नष्ट हो गई हो? नही। मैं किसी स्त्री को चाहता हूँ और जब वह नही मिलती तो मैं आत्महत्या के लिए तैयार हो जाता हूँ। अगर वह मुझे मिल जाय तो मैं आत्महत्या न करूँ। मैं चाहता हूँ कि बडे सम्मान, धन और इज्जत के साथ जीऊँ। मेरी इज्जत चली जाती है, प्रतिष्ठा मिट जाती है, तो मैं आत्महत्या करने को तत्पर हो जाता हूँ। मेरी प्रतिष्ठा वापस लौट आए तो मैं मौत के आखिरी किनारे से वापस लौट सकता हूँ। महावीर कहते है कि यह मृत्यु की आकाक्षा नही है, जीवन का प्रबल आग्रह है कि मैं इस ढग से जीऊँ। अगर यह ढग मुझे नही मिलता तो मैं मर जाऊँगा। मैं इस स्त्री, इस धन, इस भवन, इस पद के साथ ही जीऊँगा, अन्यथा नहीं। जीने की आकाक्षा ने एक विशिष्ट आग्रह पकड लिया है।

महावीर इस जगत् मे अकेले चिन्तक है जिन्होने कहा कि मैं तुम्हे मरने की भी आज्ञा दूँगा, अगर तुममे जीवेषणा बिलकुल न हो।

(४) महावीर ने सथारा की आज्ञा दी। उन्होने कहा कि किसी व्यक्ति मे अगर जीवन की आकांक्षा शून्य हो गई हो, तो वह मृत्यु मे प्रवेश कर सकता है। लेकिन पहले वह भोजन और पानी छोड दे—भोजन और पानी छोडकर भी आदमी ९० दिन तक नहीं मरता। जितनी भी आत्महत्याएँ की जाती है, वे क्षण के आवेश मे की जाती है। क्षण खो जाय तो आत्महत्या नही हो सकती।

महावीर ध्यानपूर्वक मर जाने की आज्ञा देते है और कहते है कि भोजन-पानी छोड देना ९० दिन। अगर उस आदमी मे थोडी भी जीवेषणा होगी तो वह भाग खडा होगा। अगर जीवेषणा बिलकुल न होगी तो वह ९० दिन रुक सकेगा। फ्रॉयड को माननेवाले मनोवैज्ञानिक कहेगे कि महावीर मे कही-न-कही आत्महत्यावाले तत्त्व अवश्य थे। लेकिन मैं आपसे कहता हूँ कि बात ऐसी नही है। असल मे जिस व्यक्ति मे जीवेषणा नही है, उसमे मरने की भी एषणा न होगी। मृत्यु की एषणा जीवेषणा का दूसरा पहलू है (विरोधी नही, उसी का अग है)। इसलिए महावीर ने मृत्यु की कोई चेष्टा नही की। महावीर के अनुसार सथारा का अर्थ आत्महत्या नही, बल्कि जीवेषणा का इतना खो जाना है कि पता ही न चले और व्यक्ति शून्य मे लीन हो जाय। आत्महत्या की इच्छा नही, क्योकि जहाँ तक इच्छा है, वहाँ तक जीवन की भी इच्छा होगी। मृत्यु की इच्छा मे ही जीवन की इच्छा भी छिपी होती है। महावीर कोई आत्मघाती नही हैं, ससार के सबसे बडे आत्मज्ञानी है।

(५) लेकिन यह बात जरूर है कि अनेक आत्मघाती उनके विचार मे उत्सुक हुए

लोग उद्धृत महावीर के पीछे एक ऐसी परम्परा खड़ी की जिसका महावीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर की आकांक्षा के त्याग के ये लोग महावीर के करीब नहीं आए, मरने की आकांक्षा के कारण ये उनके निकट आए। जो मरने की इच्छा से आए थे महावीर की परम्परा में बहुत अग्रणी हो गए। स्वभावतः जो मरने को तैयार हैं उनको नेता होने में कोई असुविधा नहीं होती। पर इससे महावीर के विचार को आज की दुनिया में पहुँचाने में बड़ी कठिनाई हो गई, क्योंकि ऐसा मालूम पड़ने लगा कि महावीर का चिन्तन आत्मपीड़कों के लिए है, उनके लिए है जो अपने को सतानेवाले हैं। लेकिन महावीर के खिले हुए प्रसन्न शरीर को देखकर ऐसा नहीं लगता कि इस आदमी ने अपनी जड़ों के साथ ज्यादती की होगी। महावीर रंच मात्र भी आत्मपीड़क न थे। लेकिन उनके पीछे आत्मपीड़कों की लम्बी परम्परा इकट्ठी हो गई, यह [illegible] है।

(५) महावीर की दृष्टि में जो स्वयं को सताता है वह तो दूसरे को सताता है, क्योंकि वह अपने से भिन्न पर कर रहा है। जो शरीर को सताना जानता है [illegible] दूसरा है। यह शरीर जो मेरे आसपास है, उतना ही दूसरा है मेरे लिए जितना आपका शरीर जो जरा दूर है। मेरा यह शरीर उतना ही दूसरा है जितना आपका शरीर। पर फिर इतना है कि अपने शरीर को सताने में कोई कानूनी बाधा नहीं पड़ेगी, कोई नैतिक बाधा नहीं बनेगी। इसलिए जो होशियार हैं वे सताने का मजा अपने ही शरीर को सताकर लेते हैं। लेकिन सताने का मजा वही है। [illegible] दिखाई पड़ता है कि हम त्यागी हो गए।

महावीर कहते थे कि जब तक मैं जीवन के लिए पागल हूँ तब तक [illegible] दूसरों के जीवन को नष्ट करने के लिए भी आतुर हो सकता हूँ। और जीवन के लिए पागल होना व्यर्थ है क्योंकि जीवन का बचना असम्भव है। जन्म के साथ ही मृत्यु प्रवेश कर जाती है। इसलिए महावीर कहते हैं कि जीवन के लिए ज्यादा आकांक्षा ही हिंसा बन जाती है। [illegible] मृत्यु का स्वागत [illegible] है।

महावीर मृत्यु को स्वीकार करते हैं। मृत्यु को स्वीकार करना अहिंसा है। मृत्यु [illegible]

नही रह जाता जो मेरे जीवन को चोट पहुँचाता है। मेरे जीवन को चोट पहुँचा कर कोई क्या कर सकता है? मृत्यु तो होने ही वाली है, वह सिर्फ निमित्त वन सकता है। अगर कोई आपकी हत्या भी कर जाय तो वह सिर्फ निमित्त है, कारण नही। कारण तो मृत्यु है, जो जीवन के भीतर ही छिपी है। जो होने ही वाला था, उसमे वह सहयोगी हो गया। इसलिए उस पर नाराज होने की भी कोई जरूरत नही।

महावीर कहते हैं कि मृत्यु को अगीकार करो, इसलिए नहीं कि मृत्यु कोई महत्त्वपूर्ण चीज है, वल्कि इसलिए कि वह विलकुल ही मामूली चीज है। जब जीवन ही साधारण और महत्त्वहीन है तब फिर मृत्यु महत्त्वपूर्ण कैसे हो सकती है? आप जितना मूल्य जीवन को देते है, उतना ही मूल्य मृत्यु मे स्थापित हो जाता है और ध्यान रहे कि जितना मूल्य मृत्यु मे स्थापित हो जाता है, उतने ही आप मुश्किल मे पड जाते है। महावीर कहते है कि जब जीवन का कोई मूल्य नही तब मृत्यु का भी मूल्य समाप्त हो जाता है। जिसके चित्त मे न जीवन का मूल्य है और न मृत्यु का, क्या वह आपको मारने जायगा? क्या वह आपको सताने मे रस लेगा?

(७) जिसके लिए जीवन ही निर्मूल्य है, उसके लिए महल का कोई मूल्य होगा? जीवन का मूल्य शून्य हुआ कि सारे विस्तार का मूल्य शून्य हो जाता है, सारी माया ढह जाती है। जितना लगता था कि जीवन को वचाऊँ, उतना मृत्यु से वचने का सवाल उठता था। जीवेपणा इसलिए वाधा है कि इसके चक्कर मे आप वास्तविक जीवन की खोज से वचित रह जाते है।

(८) महावीर कहते है कि जीवेपणा जीवन की वास्तविक तलाश से हमे वचित कर देती है। वह सिर्फ मरने से वचने का इन्तजाम वन जाती है, अमृत को जानने का नही। महावीर मृत्युवादी नही है। वे जीवेपणा की इस दौड को रोकते ही इसलिए है कि हम उस परम जीवन को जान सके जिसे वचाने की कोई जरूरत नही है—जो वचा ही हुआ है।

(९) हिंसा दूसरे को भयभीत करती है। आप अपने को वचाते है, दूसरे मे भय पैदा करके। महावीर कहते है कि सिर्फ अहिंसक ही अभय को उपलव्ध हो सकता है। जिसने अभय नही जाना, वह अमृत को कैसे जानेगा? भय को जाननेवाला मृत्यु को ही जानता रहता है।

महावीर की अहिंसा का आधार है जीवेपणा से मुक्ति। जीवेषणा से मुक्ति मृत्यु की एषणा से भी मुक्ति हो जाती है।

लाओत्से ने जिसे 'टोटल ऐक्सेप्टिविलिटी' कहा है, उसे ही महावीर ने अहिंसा कहा है। जिसे सब स्वीकार है, वह हिंसक कैसे हो सकेगा?

(१०) जितने जोर से हम अपने को वचाना चाहते है, हमारा वस्तुओ का वचाव उतना ही प्रगाढ हो जाता है। जीवेषणा 'मेरे' का फैलाव वनती है। यह

मेरा है, ये मेरे पिता हैं, यह मेरी मां है यह मेरी पत्नी है, यह मकान मेरा है यह धन मेरा है—हम 'मेरे' का एक जाल खड़ा करते हैं अपने चारों तरफ। उसे इसलिए खड़ा करते हैं कि उसके भीतर ही हमारा 'मैं' बच सकता है। अगर मेरा कोई भी नहीं तो मैं निपट अकेला महसूस करके बहुत भयभीत हो जाऊँगा। कोई मेरा है तो सहारा है, सुरक्षा है। इसलिए जितनी ज्यादा चीजें आप इकट्ठी कर लेते हैं आपकी अकड़ उतनी ही ज्यादा बढ़ जाती है।

(११) इस 'मेरे' के फैलाव को महावीर हिंसा कहते हैं। उनकी दृष्टि में परिग्रह हिंसा है। उनका वस्तुओं से कोई विरोध नहीं है, पर इससे जरूर प्रयोजन है कि आपका उनमें कितना मोह है किस हद तक आपने उन वस्तुओं को अपनी आत्मा बना लिया है।

(१२) मालकियत के लिए हम इतने उत्सुक हैं कि अगर जिंदा आदमी के हम मालिक न हो सकें तो उसे मारकर भी मालिक होना चाहते हैं।

(१३) हमारे जीवन की अधिकतर हिंसा इसीलिए है। जब कोई अपनी पत्नी का मालिक होता है तब वह स्त्री तो प्रायः नब्बे प्रतिशत मर ही जाती है। बिना मारे मालिक होना मुश्किल है। अहिंसक की कोई मालकियत नहीं हो सकती। अगर कोई अपनी लंगोटी पर भी मालकियत बनाता है तो वह हिंसक है। महल मेरा है और लँगोटी मेरी है दोनों में मूल में मालकियत का भाव है और मालकियत हिंसा है। इस लँगोटी पर भी गरदनें कट सकती हैं।

(१४) एक जैन साधु ने मेरे एक मित्र से 'अपने' महावीर को उस महावीर से भिन्न कहा है जिसके सम्बन्ध में मैं बोलता रहा हूँ। 'अपने' महावीर! महावीर पर भी मालकियत! यानी हिंसा को हम वहाँ तक भी नहीं छोड़ेंगे, कहेंगे कि यह धर्म मेरा है यह शास्त्र मेरा है, जहाँ-जहाँ 'मेरा' है वहाँ-वहाँ हिंसा है। इसे ऐसा समझें कि अहिंसा सूत्र है आत्मा को जानने का, क्योंकि जब 'मेरे' का सारा भाव गिर जाता है तब फिर 'मैं' ही बचता है और कुछ नहीं बचता। बचता है निपट 'मैं'। और तभी व्यक्ति यह जान पाता है कि मैं क्या हूँ कौन हूँ कहाँ से आया हूँ कहाँ जाऊँगा। तब रहस्य के सारे द्वार खुल जाते हैं।

महावीर ने अकारण ही अहिंसा को परम धर्म नहीं कहा है। परम धर्म कहा है इसलिए कि इस कुंजी से जीवन के रहस्य के सारे द्वार खुल जाते हैं।

(१६) वे कहते है कि विचार की सम्पदा को भी अपना मानना हिंसा है, क्योकि जव भी आप किसी विचार को अपना कहते है, तभी आप सत्य से च्युत हो जाते है। जब भी मै कहता हूँ कि यह विचार मेरा है इसलिए ठीक है, तभी मैं सत्य से विलग हो जाता हूँ।

(१७) जब हम कहते है कि यही है सत्य, तव हम यह नही कहते कि जो हम कह रहे हैं वह सत्य है, असल मे हम कहते हैं कि जो कह रहा हूँ, वह सत्य है। जब हम सत्य है, तब हमारे विचार सत्य होगे ही। जगत् मे जितने विवाद हैं वे सत्य के विवाद नही हे, 'मैं' के विवाद है। महावीर से अगर कोई बिलकुल विपरीत बात भी कहता तो वे कहते—यह भी ठीक हो सकता है। ज्ञात इतिहास के पृष्ठो मे यह आदमी अकेला हे जो अपने विरोधी को भी ठीक कहता है।

(१८) महावीर को इस बात का पता है कि ऐसी कोई भी चीज नही हो सकती जिसमे सत्य का कोई अश न हो। नही तो वह होती ही कैसे ?,स्वप्न भी सही है, क्योकि स्वप्न होता तो हे। स्वप्न मे क्या होता है वह सत्य भले न हो, लेकिन स्वप्न होता है, इतना तो सत्य है ही। असत्य का तो कोई अस्तित्व नही हो सकता। इसलिए महावीर ने किसी का विरोध नही किया। इसका अर्थ नही कि महावीर को सत्य का पता न था। महावीर को सत्य का पता था। लेकिन उनका चित्त इतना अनाग्रहपूर्ण था कि वे अपने सत्य मे विपरीत सत्य को भी समाविष्ट कर लेते थे। वे कहते थे कि सत्य इतनी बडी घटना है कि वह अपने से विपरीत को भी समाविष्ट कर सकता है। सत्य वहुत बड़ा है, सिर्फ असत्य छोटे-छोटे होते हैं। उनकी सीमा होती है। यही वजह है कि महावीर के विचार वहुत दूर तक, ज्यादा लोगो तक नही पहुँच सके। सभी लोग निश्चित वक्तव्य चाहते है, कोई सोचना नही चाहता। सब लोग उधार चाहते है। महावीर इतनी निश्चितता किसी को नही देते।

(१९) वे कहते है कि दूसरा भी सही है। आग्रह मत करो, अनाग्रही हो जाओ। इसलिए महावीर ने किसी सिद्धान्त का आग्रह नही किया। उन्होने हर वक्तव्य के सामने स्यात् लगा दिया—'परहैप्स'। महावीर को पता है कि मोक्ष है, लेकिन उनको यह भी पता है कि अहिंसक वक्तव्य स्यात् के साथ ही हो सकता हे। महावीर को यह भी पता है कि स्यात् कहने से शायद आप समझने को ज्यादा आसानी से तैयार हो जायँगे। अगर महावीर कहते कि मोक्ष है, तो वे जितनी अकड़ से कहते, आपके भीतर तत्काल उतनी ही अकड प्रतिध्वनित होती और कहती—कौन कहता है कि मोक्ष है ? मोक्ष नही है, बिलकुल नही है। अगर कोई महावीर के प्रतिद्वद्वी गोशालक के पास जाता तो गोशालक कहता—महावीर गलत हैं, मैं सही हूँ। वही आदमी महावीर के पास आता तो महावीर कहते—गोशालक

नहीं हो सकता है। अगर आप ही होते तो सोचिए आप गोशालक के पीछे जाते कि महावीर के पीछे ? मेरा खयाल है कि आप गोशालक के पीछे जाते। जिन्होंने देखा कि अनाग्रहपूर्ण होना बड़े साहस की बात है वे अत्यन्त बुद्धिमान लोग ही महावीर के पास आ सके। मैं बुद्धिमान उसे कहता हूँ जो सत्य के सम्बन्ध में अनाग्रहपूर्ण है। महावीर की अहिंसा का जो अन्तिम प्रयोग है वह अनाग्रहपूर्ण विचार है—अर्थात् विचार भी मेरे नहीं हैं। जिस विचार के साथ आप 'मेरे' लगाएँगे, उसमें आग्रह जुड़ जायगा।



षष्ठ अध्याय

समस्वरता और सम्यगाजीव

जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।[1]

—दश० चू० १, गा० ४

एक मित्र ने पूछा है कि महावीर रास्ते से गुजरते हो और किसी प्राणी की हत्या हो रही हो तो महावीर क्या करेगे ? किसी स्त्री के साथ बलात्कार की घटना घट रही हो तो महावीर क्या करेगे ? क्या वे ऐसा व्यवहार करेगे जैसे कि वे अनुपस्थित हो ?

इस सम्बन्ध मे थोडी-सी बातें समझ लेनी चाहिए ।

एक तो यह कि हत्या मे हम जो देख पाते है, वह महावीर को दिखाई न देगा। जो महावीर को दिखाई पडेगा उसे हम देखने मे असमर्थ होगे । इस भेद को समझ लेना जरूरी है। हम सोचेंगे कि कोई मारा जा रहा है । लेकिन महावीर जानते है कि जीवन का जो भी तत्त्व है वह मारा नही जा सकता, वह अमृत है। दूसरी बात—किसी की हत्या होते देख हम सोचते है कि मारनेवाला ही जिम्मेवार है, जबकि महावीर कहेगे कि जो मारा जा रहा है वह भी बहुत गहरे अर्थो मे जिम्मेवार है, हो सकता है कि वह केवल अपने ही किए गए किसी कर्म का प्रतिफल पा रहा हो।

(१) हमे मारनेवाला दोषी और मारा जानेवाला हमेशा निर्दोष मालूम पड़ता है। हमारी दया और करुणा उसी की तरफ बहेगी जो मारा जा रहा है। महावीर के लिए ऐसा जरूरी न होगा। उनकी दृष्टि बहुत गहरी है और वे जानते है कि कोई भी कर्म अपने मे पूरा नही है। हो सकता है कि जो मार रहा है वह केवल एक प्रतिकर्म पूरा कर रहा हो, क्योकि इस जगत् मे कोई अकारण नही मारा जाता। किसी का मारा जाना उसके ही कर्मो के फल की शृखला का हिस्सा होता है। इसका यह अर्थ नही कि जो मार रहा है वह जिम्मेवार या दोषी नही है। लेकिन हमारे और महावीर के देखने मे फर्क पडेगा । जब भी हम देखते है कि कोई मारा जा रहा है, तो सोचते है कि निश्चित ही पाप हो रहा है, बुरा हो रहा है, कारण कि हमारी दृष्टि बहुत सीमित है । महावीर की दृष्टि इतनी सीमित

---

१. जब मनुष्य संयमी होता है, तब पूज्य बनता है; परन्तु जब सयम से च्युत होता है तब अपूज्य बन जाता है ।

नही। वे दखते हैं जीवन की अनन्त शृखला का और जानते हैं कि यहा प्रत्यक कम पीछे से जुडा है और आग से भी। हम जिन्दगी को अधकार और प्रकाश म ताड दत हैं। महावीर ऐसा नही कर सकत, क्योंकि उन्ह पता है कि पथ्वी पर अच्छ और बुर का चुनाव नही है बस बुरा और ज्यादा बुरा का ही चुनाव है। वे जानते हैं कि इस जीवन म चौबीस घटे अनेक तरह की हत्याएँ हो रही हैं। जब आप चलत हैं मास लेते हैं भोजन करते हैं तब भी आप हत्या कर रहे होत हैं। जब आपकी पलक झपकती है, तब हत्या हो गई होती है। लेकिन जब कभी कोई किसी की छाती म छुरा भोकता है तभी हम हत्या दिखाइ पडती है।

(२) महावीर देखते हैं कि जीवन की जा व्यवस्था है वह हिंसा पर ही खडी है। यहा चौबीस घटे प्रतिपल हत्या ही हो रही है। मेरे एक मित्र का खयाल है कि महावीर जहाँ जहा जाते थे वहाँ वहा अनेक अनेक मीलो तक बीमार लोग तत्काल चगे हो जाते थे। मर मित्र को बीमारी के पूर रहस्या का पता नहा है! जब आप बीमार हात हैं तो अनक कीटाणु आपके भीतर जीवन पात हैं। अगर महावीर के आने से आप मल चगे हो जायँगे तो हजारा कीटाणु तत्काल मर जायँगे। इस लिए महावीर इस झझट मे पडने स रहे। यह ध्यान रखना और यह भी कि आप कुछ विशिष्ट ह ऐसा महावीर नही मानत। यहाँ प्रत्यक प्राण का मूल्य बराबर है, हर प्राण का मूल्य है। आप उतन मूल्यवान नहा हैं जितना आप साचते हैं। आपक शरीर म जब किसी रोग के कीटाणु पलते हैं तब उन्हें पता भी नही होता कि आप भी है! आप सिफ उनका भाजन हाते हैं।

महावीर के लिए जीवपणा ही हिंसा है हत्या है। वह जीवपणा किसकी है, इसका सवाल नहीं उठता। जो जाना चाहता है, वह हत्या करगा। ऐसा भी नही कि जो जीवेपणा छोड दता है उससे हत्या ब द हो जाती हो। जब तक वह जिएगा तब तक उससे हत्या होती रहेगी।

ज्ञान प्राप्ति के बाद महावीर चालीस वष जीवित रह। उन चालीस वर्षों म जब वे चले हाग तो कोइ जरूर मरा होगा, उठे हाग तो कोई जरूर मरा होगा, यद्यपि वे इतन सयम से जीवन यापन करत थे कि रात एक ही करवट साते थे दूसरी करवट नही लत थे। लेकिन साँस ता लेनी ही पडती है और कोई न-कोइ मरता ही ह। हम यह सकत हैं कि व कूदकर मर क्यो नहा गए? अपन को समाप्त ही क्या न कर दिया? लेकिन जब अपन को समाप्त करेंगे तब उनके शरीर मे पलनेवाले जावा का क्या हागा? इसलिए हिंसा का सवाल उतना आसान नहीं जितना कि आपका आँखें देखती हैं। अगर महावीर किसी पहाड से कूदकर अपने को मार देते ता उनक शरीर म पलनवाले लाख करोड जीवन भी नष्ट हा जात।

हत्या प्रतिपल चल रही है। प्रत्यक प्राणी जीना चाहता है, इसलिए जब उस

पर हमला होता है तब उसे लगता है कि हत्या हो रही है। बाकी समय हत्या नहीं होती। अगर जगल मे जाकर आप शेर का शिकार करते है तो यह आपके लिए खेल है और जब शेर आप का शिकार करता है तब आप उसे हत्या कहते हैं। आपके लिए वह जगली जानवर है और आप बहुत सभ्य जानवर है! और मजा यह कि शेर आपको तब तक नही मारेगा जब तक उसे भूख न लगी हो।

(३) गैर-अनिवार्य हिंसा कोई जानवर नही करता, सिवा आदमी को छोड कर। लेकिन हमारी हिंसा हमे हिंसा मालूम नही पडती। जो जितना हमारे निकट पडता है, उसकी हत्या हमे उतनी ही ज्यादा महसूस होती है। मुसलमान मर रहा हो तो जैनी को तकलीफ नहीं होती। जैनी मर रहा हो तो हिन्दू को तकलीफ नहीं होती! अपने परिवार का कोई मर रहा हो तो तकलीफ होती है, दूसरे परिवार का कोई मर रहा हो तो सहानुभूति दिखाई जाती है।

(४) 'मैं' केन्द्र है सारे जगत् का। अपने को बचाने के लिए मैं सारे जगत् को दाँव पर लगा सकता हूँ। यही हिंसा है, यही हत्या है। महावीर जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य मे देखते है, उसमे वह हत्या दिखाई नही पडती जो आपको हत्या दिखाई पड गई है। इसलिए महावीर के लिए हत्या का प्रश्न बहुत जटिल है। आप किसको बलात्कार कहते है? पृथ्वी पर सौ मे ९९ मौकों पर बलात्कार ही हो रहा है, लेकिन बलात्कार का क्या मतलब? पति करता है तो बलात्कार नही होता, लेकिन अगर पत्नी की इच्छा न हो तो पति उसके साथ जो भी करता है वह बलात्कार है। दूसरे की इच्छा के बिना कुछ करना ही बलात्कार है। हम सब दूसरे की इच्छा के बिना बहुत कुछ कर रहे हैं। सच तो यह है कि दूसरे की इच्छा को तोडने की ही चेष्टा मे सारा मजा है। जबर्दस्ती से अहकार की जो तृप्ति होती है वह सहज मे कहाँ होती है!

अगर महावीर से पूछते तो वे कहते कि जहाँ-जहाँ अहकार चेष्टा करता है, वहाँ-वहाँ बलात्कार हो जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री के साथ रास्ते मे बलात्कार करता है तब सदा बलात्कार करनेवाला ही हमे जिम्मेवार मालूम पडता है। लेकिन हम भूल जाते है कि स्त्री बलात्कार करवाने के लिए कितनी चेष्टाएँ करती है। अगर पुरुष को इसमे रस आता है कि वह स्त्री को जीत ले तो स्त्री को भी इसमे रस आता है कि वह किसी को इस हालत मे ला दे!

(५) हमे खयाल नही आता कि इस जगत् मे किसी को जिम्मेवार ठहराना इतना आसान नही। दूसरा भी जिम्मेवार हो सकता है और दूसरे की जिम्मेवारी गहरी और सूक्ष्म भी हो सकती है। महावीर जब देखेंगे तब पूरा देखेंगे और उस पूरे देखने मे और हमारे देखने मे फर्क पडेगा। महावीर की जो दृष्टि है वह टोटल है, पूर्ण है।

(६) जब बलात्कार की घटना हो रही हो उस समय महावीर केवल द्रष्टा रहेंगे या कुछ करेंगे भी ? मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि महावीर कुछ भी न करेंगे। जो होता होगा उसे वे होने देंगे। आप उस अवस्था में पच्चीस बातें सोचेंगे तब करेंगे। लेकिन महावीर से कुछ होगा सोचेंगे वे नहीं। जो हो जायगा, वह हो जायगा। महावीर लौटकर भी नहीं सोचेंगे कि मैंने क्या किया क्योंकि उन्होंने कुछ किया नहीं। इसलिए महावीर कहते हैं कि पूर्ण कृत्य कर्म का बंधन नहीं बनता—टोटल ऐक्ट कोई बंधन नहीं लाता। कुछ उनसे होगा कि नहीं, इसे हम प्रिडिक्ट नहीं कर सकते। हम कह नहीं सकते कि वे क्या करेंगे। महावीर भी नहीं कह सकते पहले से कि मैं क्या करूँगा। हमारे विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है। जितनी गहरी नासमझी होगी, हमारे कार्य उतने ही अधिक सुनिश्चित होंगे। जैसे-जैसे जीवन चेतना विकसित होती है वैसे वैसे मनुष्य के कार्य-कलाप मुक्त और अनिश्चित होते जाते हैं। साधारण आदमी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह कल सुबह क्या करेगा। महावीर या बुद्ध के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। वे क्या करेंगे, यह बहुत अज्ञात और रहस्यपूर्ण है। उनको पूर्ण दृष्टि में न जानें क्या दिखाई पड़ जायगा। पर वे सोचकर कुछ करने नहीं जायेंगे। वहाँ दिखाई पड़ेगा और वहीं कृत्य घटित हो जायगा। और उसका दायित्व महावीर पर बिल्कुल न होगा। अगर वे किसी की हत्या में रुकावट डालेंगे भी तो यह नहीं कहेंगे कि मैंने किसी की हत्या होने न दी। वे कहेंगे कि मैंने देखा था हत्या हो रही थी और मैंने यह भी देखा था कि इस शरीर ने बाधा डाली थी। मैं साक्षी था इस घटना का।

महावीर गहरे में साक्षी ही बने रहेंगे बलात्कार के भी और बलात्कार के रोके जाने के भी। तभी वे बाहर होंगे कर्म के। विचार से वासना और इच्छा से किया गया कर्म फल लाता है। महावीर जो भी करते हैं वह प्रयोजन रहित लक्ष्य रहित, फल रहित, विचार रहित और शून्य से निकला हुआ कर्म होता है। शून्य से जब कर्म निकलता है तब वह भविष्यवाणी के बाहर हो जाता है। मैं नहीं कह सकता कि महावीर क्या करेंगे। अगर आपने महावीर से पूछा होता तो महावीर भी नहीं कह सकते थे कि मैं क्या करूँगा।

(७) प्रश्न है कि हम पूछना क्या चाहते हैं? हम पूछना इसलिए चाहते हैं कि अगर हम पक्का पता चल जाय कि महावीर क्या करेंगे, तो वही हम भी कर सकते हैं। लेकिन ध्यान रहे महावीर हुए बिना आप वही नहीं कर सकते। हाँ, वही करते हुए मालूम पड़ सकते हैं। यही तो उपद्रव हुआ है। महावीर के पीछे उनके अनुयायियों की लम्बी कतार खड़ी है और वे महावीर की नकल कर रहे हैं। परन्तु इस नकल से आत्मा का कोई अनुभव नहीं उपजता। उनके-जैसे व्यक्तियों

की अनुकृति नही हो सकती। लेकिन सभी परम्पराएँ यही काम कर रही है और इसी से दुनिया मे सारे धर्मों के झगडे खडे होते है। हम कर्मो मे ज्ञान को नापते है, यही भूल हो जाती है। कर्म ज्ञान से पैदा होते है और ज्ञान कर्म से बहुत बडी घटना है।

महावीर ने जो भी किया वह खास-खास स्थितियो मे किया। कृष्ण और क्राइस्ट की स्थितियाँ उन स्थितियो से अलग थी। आपकी स्थितियाँ भी अलग है। फिर भी, आप शास्त्रो मे खोजते हैं कि इन-इन स्थितियो मे महावीर ने क्या किया, ताकि आप भी वैसा ही कर सकें। पर यह न भूलें कि न तो आज वह स्थिति है और न आप महावीर है। महावीर ने कभी लौटकर यह नही देखा कि किसने क्या किया था, वैसा ही मै भी करूँगा। इसलिए ठीक से समझे तो महावीर जो कर रहे है वह कृत्य नही है, ऐक्ट नही है। वह घटना है, कोई नियमबद्ध बात नही। वह नियममुक्त चेतना से घटी हुई स्वतन्त्र घटना है। इसलिए उसमे कर्म का भी बन्धन नही है। महावीर से जरूर कुछ होगा, लेकिन क्या होगा, यह नही कहा जा सकता। कर्म उसका नाम नही है, वह घटना है। इसलिए मैं कोई उत्तर नही दे सकता कि महावीर क्या करेंगे।

(८) जीवन प्रतिपल बदल रहा है। वह भागती हुई फिल्म की भाँति है, चल-चित्र की भाँति। वह डाइनैमिक है, उसमे सब बदल रहा है—सारा जगत् बदला जा रहा है। हर बार नई स्थिति है और हर बार नई स्थिति मे महावीर नए ढग से प्रकट होगे। अगर महावीर आज हो तो जैनियो को जितनी कठिनाई होगी, उतनी किसी और को न होगी। जैन सिद्ध करेगे कि यह आदमी—महावीर—गलत है। वे महावीर की २५०० साल पहलेवाली जिन्दगी उठाकर जाँच करेगे कि यह आदमी वैसे ही कर रहा है कि नही कर रहा है, जबकि एक बात पक्की है कि महावीर वैसा नही कर सकते, क्योकि वैसी स्थिति नही है। सब बदल गया है। इसलिए महावीर को जैन लोग स्वीकार न कर सकेगे। यही बुद्ध और कृष्ण के साथ होगा। होने का कारण है। हम कर्मों को पकडकर बैठ जाते है। परन्तु कर्म तो राख की तरह है, धूल की तरह है। वृक्षो के सूख गए पत्तो से वृक्ष नही नापे जा सकते। वृक्ष मे प्रतिपल नए अकुर आ रहे है। वे ही वृक्ष के जीवन है। सब कर्म आपके सूखे पत्ते है। वे बाहर गिर जाते है। वृक्ष का सम्बन्ध तो प्राण की सतत धारा से है जहाँ नए पत्ते प्रतिपल अकुरित हो रहे है। और नए पत्ते कैसे अकुरित होगे, यह नही कहा जा सकता, क्योकि वृक्ष सोच-सोचकर पत्ते नही निकालता। वृक्ष से पत्ते निकलते है। सूरज कैसा होगा, हवाएँ कैसी होगी, वर्षा कैसी होगी, चाँद-तारे कैसे होगे, यह इन सब पर निर्भर करेगा। उन सबसे—समग्र से—पत्ते निकलेगे।

महावीर जैसे लोग समग्र में जीते हैं। कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे क्या करेंगे। हो सकता है, जिस पर बलात्कार हो रहा है उसे डाँटे-डपटें। फिर भी कुछ नहीं कहा जा सकता।

(९) जिन्दगी बहुत जटिल है। यहाँ जो पिट रहा है यह जरूरी नहीं कि वह पिटने के योग्य हो और जो पीट रहा है यह भी जरूरी नहीं कि वह गलत ही कर रहा हो। महावीर उस व्यक्ति किसी की घटना को उसकी पूरी जटिलता में देखते हैं। इसलिए वे क्या करेंगे, यह कहना आसान नहीं है।

(१०) संयम के सम्बन्ध में कुछ सूत्र याद रखें। महावीर संयम को धर्म का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र कहते हैं। अहिंसा धर्म की आत्मा है, संयम श्वास है और तप देह। महावीर ने शुरू किया अहिंसा से—अहिंसा संयमो तवो। तप को आखिर में रखा, संयम को बीच में और अहिंसा को सबसे पहले। हम तप को पहले देखते हैं, संयम को पीछे। अहिंसा तो शायद ही दिखाई पड़ती है। महावीर भीतर से बाहर की तरफ चलते हैं, हम बाहर से भीतर की तरफ। इसलिए हम तपस्वी की जितनी पूजा करते हैं उतनी अहिंसक की नहीं, क्योंकि तप हमें दिखाई पड़ता है वह देह जैसा बाहर है। अहिंसा गहरे में है, अदृश्य है। संयम का हम अनुमान लगाते हैं। जब हमें कोई तपस्वी दिखाई पड़ता है तब हम समझते हैं कि यह संयमी है नहीं तो तप कैसे करेगा। परन्तु तपस्वी भी असंयमी हो सकता है और ऊपर से दिखाई पड़नेवाला त्यागी भी असंयमी हो सकता है। यद्यपि संयमी के जीवन में तप होता है फिर भी तपस्वी के जीवन में संयम का होना आवश्यक नहीं है। महावीर भीतर से चलते हैं क्योंकि वहीं प्राण है और वहीं चलना उचित है। क्षुद्र से विराट की तरफ जाने में सदा भूलें होती हैं। विराट से क्षुद्र की तरफ जाने में कभी भूल नहीं होती।

आम तौर से समझा जाता है कि संयम का अर्थ है निरोध, दमन, नियंत्रण, अंकुश आदि। जब कोई अपने को दबाता है अपनी वृत्तियों को बाँधता है नियंत्रण में रखता है तब हम कहते हैं कि वह संयमी है। संयम की यह परिभाषा बड़ी निषेधात्मक है और निगेटिव है। लेकिन महावीर जैसे व्यक्ति जीवन की निषेध की परिभाषा नहीं करते, क्योंकि जीवन निषेध से नहीं चलता। जीवन की गहरी विधायकता में चलता है। महावीर ने जिस संयम की बात कही है उसमें [illegible] वह आनन्दित होता है। लेकिन जिसको हम संयमी कहते हैं उसके जीवन का रस सूखा हुआ दिखाई पड़ेगा, क्षीण होता हुआ रुग्ण लगता है। उसकी बुद्धि का रस भी [illegible] हो जाता है।

(११) [illegible] है। [illegible] जीवन के [illegible] और [illegible] विधायक उपलब्धि [illegible] निषेध [illegible]। महावीर के लिए संयम [illegible] है।

हमारे लिए सयमी है स्वय से लडता हुआ आदमी। महावीर के लिए सयमी है अपने साथ राजी हुआ व्यक्ति। हमारे लिए सयमी है अपनी वृत्तियो को सँभालता हुआ आदमी; महावीर के लिए सयमी है वह जो अपनी वृत्तियो का मालिक हो गया है। सँभालता तो वही है जो मालिक नही है। लडना पडता इसलिए है कि आप वृत्तियो से कमजोर है। महावीर के लिए सयमी का अर्थ है आत्मवान्, इतना आत्मवान् की वृत्तियाँ उसके सामने खडी भी नही हो पाती। ऐसा नही कि उसे ताकत लगाकर क्रोध को दवाना पडता है। जिसे हम ताकत लगाकर दवाते हैं, वह दवता तो नही, उलटे परेशान करता है और आज नही तो कल, फूट पडता ही है।

(१२–१३) शक्ति जब स्वय के भीतर होती है तो वृत्तियो से लडना नही पडता। वृत्तियाँ आत्मवान् व्यक्ति के सामने सिर झुकाकर खड़ी हो जाती है। हम जिसे सयम कहते है वह दमन है और हमारा सयमी आदमी उस सारथी के समान होता है जो रथ मे घोडो की लगाम पकड़े वैठा है। महावीर की दृष्टि मे संयमी वह शक्तिवान् व्यक्ति है जो अपनी शक्ति मे प्रतिष्ठित है। उसका शक्ति मे प्रतिष्ठित होना या अपनी ऊर्जा मे होना ही वृत्तियो का निर्वल और नपुसक हो जाना है। महावीर अपनी कामवासना पर वश पाकर ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नही होते, वे अपनी हिंसा से लडकर अहिंसक नही बनते और न अपने क्रोध से लड़कर ही क्षमा करते हैं। ब्रह्मचर्य की भी ऊर्जा है, इससे काम-वासना सिर नही उठाती। चूँकि वे अहिंसक है, इसलिए हिंसा का वश नही चलता। क्षमा की इतनी शक्ति है कि क्रोध को उठने का अवसर नही मिलता। महावीर के लिए स्वय की शक्ति से परिचित हो जाना ही सयम है।

'सयम' नाम वहुत अर्थपूर्ण है। इसके लिए अग्रेजी मे 'कट्रोल' शब्द का प्रयोग करते है, जो कि गलत है। अग्रेजी मे सिर्फ एक ही शब्द है जो सयम का पर्याय बन सकता है, यद्यपि भापाशास्त्री उसे अनुपयुक्त कहेगे। वह शब्द है 'ट्राक्विलिटी'। सयमी वह है जो विचलित नही होता, जो अविचलित रहता है, निष्कम्प है, ठहरा हुआ है। गीता मे कृष्ण ने जिसे स्थितप्रज्ञ कहा है, महावीर के लिए वही सयमी है। असयम का अर्थ है कम्पन, वेभरिंग, ट्रेम्वलिंग। काँपते हुए मन का नियम है कि वह एक अति से दूसरी अति पर चला जाता है। फिर ऊवेगा, परेशान होगा। सव वासनाएँ उवा देती है। उनसे मिलता कुछ नही है। मिलने के जितने सपने थे, वे और टूट जाते है। वासना से घिरा मन अति पर जाता है, फिर वासना से ऊव जाता है और तव दूसरी अति पर चला जाता है, जहाँ वह वासना के विपरीत खड़ा हो जाता है। कल तक ज्यादा खाता था, आज से एकदम अनशन करने लगता है।

(१४) इसलिए ध्यान रखिए, अनशन की धारणा सिर्फ ज्यादा भोजन उपलब्ध

किए हुए समाजो म होती है। अगर जैनियों को उपवास और अनशन अपील करता है तो इसका कारण यह है कि उनको ज्यादा खाने को मिला हुआ है। गरीब का जो धार्मिक दिन होता है उस दिन वह अच्छे भोजन करता है और अमीर अपने धार्मिक दिन का उपवास करता है। जहाँ जहाँ भोजन कष्ट देता है, वहा वहाँ उपवास का कष्ट कम्ता है।

(१५) सच तो यह है कि ज्यादा खानेवाला जब उपवास करता है तब उसे कुछ उपलब्ध नहीं होता, सिवा इसके कि उसको भोजन करने का रस फिर से उपलब्ध होने लगता है जीभ म स्वाद लौट आता है। महावीर कहते है कि उपवास म रस म मुक्ति होनी चाहिए, लेकिन उपवास के बाद साधारण लोगो के लिए भोजन का रस और प्रगाढ हो जाता है। यहाँ तक कि उपवास म भी सिवा रस के आदमी और कुछ भी नहीं सोचता। वह रस पर चिन्तन करता है योजनाएँ बनाता है। उसकी मरी हुई भूख फिर सजीव हो उठती है। दस दिन के बाद आदमी टूट पडता है भोजन पर। अति पर जाता है मन। और असयम है एक अति से दूसरी अति पर जाना, दो अतियो के बीच डोलते रहना। सयम का अर्थ है मध्य म हो जाना।

अगर हम समझते हो कि ज्यादा भोजन असयम है तो मैं आपसे कहता हूँ कि कम भोजन भी असयम है, दूसरी अति पर होना है। सम्यक् आहार सयम है। ज्यादा खा लेना या कम खा लेना आसान है सम्यक् आहार अति कठिन है क्योकि मन सम्यक् पर रुकता ही नहीं।

महावीर की शब्दावली म अगर कोई शब्द सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है तो वह सम्यक् ही है। सम्यक् का अर्थ है—मध्य म, अति पर नहीं, वहा जहाँ सब चीजे सम हो जाती है। जहाँ अति का तनाव नहीं रह जाता, वहाँ सब चीजे समस्वरता को उपलब्ध हो जाती है। इसी समस्वरता का नाम सयम है। निषेध सयम नहीं है, क्योकि निषेध म हम दूसरी अति पर होते है।

(१६) मन बीच म नहीं रुकता क्योकि मन का अर्थ है तनाव, टेंशन। बीच म रहेंगे तो तनाव नहीं होगा। जब तक अति पर न हो, तब तक तनाव नहीं होता। इसलिए मन एक अति से दूसरी अति पर डोलता रहता है। मन जीता ही है अति म और समाप्त हो जाता है सयम म। इसलिए जब आप कहते है कि अमुक आदमी के पास बहुत सयमी मन है तब आप बिलकुल गलत कहते हैं। सयमी के पास मन होता ही नहीं। अगर हम ऐसा कहें कि मन ही असयम है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। जेन बौद्ध म जो फकीर हैं वे कहते हैं कि सयम तभी उपलब्ध होता है जब 'नो माइंड' की उपलब्धि होती है—जब मन नहीं रह जाता। कबीर ने भी 'अ मन' की अवस्था को सयम की अवस्था कहा है।

लेकिन हम तनाव म ही जीते हैं। अगर चित्त म तनाव न हो तो हमे लगता है,

हम मर जायेंगे । जो लोग ध्यान मे गहरे उतरते हैं, वे कहते है कि ऐसा लगता है, कही मर न जायँ। डर इसलिए लगता है कि जैसे-जैसे ध्यान गहरा होता है, वैसे-वैसे मन शून्य होता जाता है। जव मन शून्य होता है तव ऐमा महसूस होता है कि हम मर रहे हैं।

(१७) तो सयम मे निपेध का भाव नही है । जव दोनो अतियाँ साथ खडी हो जाती है तव दोनो एक-दूसरे को काट देती है और आदमी मुक्त हो जाता है। चूँकि लोभ और त्याग दोनो सम्भव हो जाता है, इसलिए आदमी न तो त्यागी होता है और न लोभी । अकेला लोभ उतना ही वेचैन करता है जितना त्याग, क्योंकि त्याग उलटा खडा हुआ लोभ है।

(१८) काम-वासना मे मन उतना ही वेचैन होता है जितना ब्रह्मचर्य मे; क्योकि ब्रह्मचर्य है क्या ? वह शीर्पासन करता हुआ काम है । वास्तविक ब्रह्मचर्य तो उस दिन उपलव्ध होता है जिस दिन ब्रह्मचर्य का पता भी नही रह जाता। वास्तविक त्याग तो उस दिन उपलव्ध होता है जिस दिन त्याग का वोध भी नही रह जाता। वोध कैसे रहेगा ? जिसके मन मे लोभ ही न रहा, उसे त्याग का पता कैसे रहेगा ? जव तक आपको पता है कि मै त्यागी हूँ तव तक जानना कि आपके भीतर लोभ मजवूती से खडा है। जव तक आप खडाऊँ वजाकर या चोटी-वोटी वाँधकर घोषणा करते फिरते है कि मै ब्रह्मचारी हूँ, तव तक आप इसकी ही घोपणा करते है कि आप खतरनाक आदमी हैं। खडाऊँ वगैरह की आवाज सुनकर लोगो को सचेत हो जाना चाहिए। ब्रह्मचर्य का दावा काम-वासना का ही रूप है। हम सयम को तव उपलव्ध होते है जव न काम रहता है और न ब्रह्मचर्य, न लोभ और न त्याग, न यह अति पकडती है और न वह अति—जव आदमी अनति मे, मौन और शान्ति मे थिर हो जाता है, जव दोनो विन्दु समान हो जाते है और जव एक-दूसरे की शक्ति एक-दूसरे को काटकर शून्य कर देती है।

(१९) इसलिए सयम सेतु है। इसके ही माध्यम से कोई व्यक्ति परम गति को उपलव्ध होता है। इसलिए सयम को मैने श्वास कहा।

आप श्वास लेने मे भी असयमी होते है। चाहे तो आप ज्यादा श्वास लेते हैं या कम श्वास लेते है। पुरुप ज्यादा श्वास लेने से पीडित है, स्त्रियाँ कम श्वास लेती है। जो आक्रामक है वे अधिक श्वास लेते है, जो सुरक्षा के भाव मे पड़े है वे कम श्वास लेते है। कम लोग है जिन्होने सच मे ही सयमित श्वास लिया हो। हमारी साँस भी तनाव के साथ चलती है। कामवासना मे वह तेज हो जाती है, इसलिए पसीना आ जाता है, शरीर थक जाता है। ब्रह्मचर्य साधने मे कम श्वास लेना पडता है। असल मे जो ब्रह्मचारी है वह एक अर्थ मे सव मामलो मे कजूस है। वह वीर्य-शक्ति के मामले मे ही नही, श्वास के मामले मे भी कजूस होता है, सव चीजो को भीतर रोक

रना चाहता है। ये अतियाँ हैं। श्वास की सरलता उस क्षण में उपलब्ध होती है जब आपको पता ही नहीं लगता कि आप श्वास ले रहे हैं। जो व्यक्ति जितना संयमी होता है उसकी सास भी उतनी ही संयमित हो जाती है। ध्यान मे जो लोग गहरे जाते हैं वे मुझसे आकर पूछते हैं कि वहाँ सास बन्द तो नहीं हो जायगी? बन्द नहीं होती सास। लेकिन इतनी शान्त और समतुल हो जाती है कि इसका आना जाना पता ही नहीं चलता। जिस व्यक्ति की सास जितनी संयमित हो जाती है उसके भीतर संयम की सुविधा उतनी ही बढ जाती है। इसलिए महावीर ने सास के ऊपर बडे गहरे प्रयोग किए हैं।

(२०) महावीर नहीं कहते कि कम खाओ, कम सोओ। वे कहते हैं कि उतना ही खाओ जितना सम है खाओ लेकिन न तो भूख का पता चले और न भोजन का। महावीर कहते हैं कि पता चलना बीमारी की पहचान है। असल में शरीर के उसी अंग का पता चलता है जो बीमार होता है। स्वस्थ अंग का पता नहीं चलता। महावीर कहते हैं सम्यक आहार करो कि पता ही न चले। भूख का भी नहीं, भोजन का भी नहीं, सोने का भी नहीं, जागने का भी नहीं, श्रम का भी नहीं, विश्राम का भी नहीं। मगर हम दो में से एक ही कर पाते हैं। कुछ भी ज्यादा कर लेने का कारण क्या है? कारण है कि ज्यादा कर लेने में हमें पता चलता है कि हम हैं। यह अहंकार है कि हमें पता चलता रहे कि हम हैं। औरों को भी मेरी उपस्थिति का बोध होता रहे। इसलिए असंयम के सिवा हमारे लिए और कोई मार्ग नहीं रह जाता।

(२१) लेकिन महावीर-जैसे व्यक्ति अनुपस्थित होने का ही संयम और अहिंसा कहते हैं। असंयम अर्थात् हिंसा। हिंसा पर्याय है मालकियत की भावना का, अहंकार का, अपनी उपस्थिति का औरों पर जाहिर करने का। अगर हम महावीर की जिन्दगी में खोजें तो कितनी बात का पता है हमें? सुना है कि उनके कान में कीलें ठोकी गई थीं। लेकिन यह महावीर की जिन्दगी की घटना नहीं है यह तो उनकी जिन्दगी की घटना है जिन्होंने कीलें ठोकी थीं। सुना है कि किसी ने चिल्लाकर महावीर का तीर्थंकर कह दिया था। यह भी महावीर की जिन्दगी की घटना नहीं है। अगर हम महावीर के जीवन में घटनाओं की खोज करें तो कोरा कागज ही हाथ लगेगा। अच्छे आदमी की कोई जिन्दगी नहीं होती। इसलिए कहानी लिखनी हो या उपन्यास, बुरे आदमी को ही चुनना पड़ता है।

(२२) रावण के बिना हम रामायण की कल्पना भी नहीं कर सकते। नायक होने के लिए बुरा होना बिल्कुल जरूरी है। किन्तु संयमी आदमी के जीवन से सारी घटनाएँ विदा हो जाती हैं। असंयमी आदमी कहना चाहता है कि मैं हूँ। कभी वह ज्यादा खाकर जाहिर करता है कि मैं हूँ और कभी उपवास, कभी वस्त्रालय जाकर

और कभी मन्दिर जाकर। मनोवैज्ञानिक कहते है कि जगत् मे जितना बुरे आदमी को नाम मिलता है, अगर उतना अच्छे आदमी को भी नाम मिलने लगे तो कोई आदमी बुरा न होगा। बुरा आदमी भी अस्मिता की, अहकार की खोज मे ही बुरा होता है।

(२३) सयमी का अर्थ है—जो द्वन्द्व मे कुछ भी नही करता, जो कहता है न दोस्ती करेंगे, न दुश्मनी करेंगे! महावीर किसी से मित्रता नही करते, क्योंकि वे जानते है कि मित्रता एक अति है। वे किसी से शत्रुता भी नही करते, क्योंकि शत्रुता भी अति है। लेकिन हम? हम उलटा सोचते हैं। हम सोचते है कि अगर दुनिया से शत्रुता मिटानी हो तो सबसे मित्रता करनी चाहिए। हम गलती मे है। मित्रता एक अति है, उसमे शत्रुता पैदा होती है।

(२४) जब महावीर कहते है कि सबमे मेरी मैत्री है तो इसका मतलब है कि मेरी किसी से मित्रता नही, शत्रुता नही। कोई सम्बन्ध नही, एक निराकार भाव बचा है, एक सम्बन्धित स्थिति बची है। कोई पक्ष बचा नही है, एक तटस्थ दशा बची है। जब कहते हैं कि सबसे मेरी मैत्री है तब हम इस भूल मे न पडे कि वह हमारी-जैसी मित्रता है। हमारी मित्रता शत्रुता के बिना हो नही सकती और न हमारा-प्रेम घृणा के बिना हो सकता है। महावीर-जैसे लोगो को समझने मे सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे भी उन्ही शब्दो का प्रयोग करते है जिनका प्रयोग हम साधारण जन करते है। लेकिन वे भिन्न अर्थो मे उन शब्दो का प्रयोग करते हैं। उनका भाव हमारे भाव मे मेल नही खाता।



सप्तम अध्याय

संयम की विधायक दृष्टि

इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि विदुक्करं ।[1]

—उत्त० अ० १९, गा० ४४

(१) संयम मृत्यु के भय से सिकुड़ गए चित्त की रुग्ण दशा नहीं है, वह अमृत की वर्षा में प्रफुल्लित हो गए तथा नृत्य करते हुए चित्त की दशा है। संयम किसी भय से किया गया संकोच नहीं है और न किसी प्रलोभन से आरोपित की गई आदत। वह किसी अभय में चित्त का फैलाव और विस्तार है, किसी आनन्द की उपलब्धि में अन्तर्वीणा पर पैदा हुआ संगीत। संयम निगेटिव नहीं, पाजिटिव है। लेकिन परम्परा उसे निषेध मानकर चलती है, क्योंकि निषेध आसान है। मरना आसान है, जीना बहुत कठिन है।

सिकुड़ जाने से ज्यादा आसान कुछ भी नहीं।

खिलने के लिए अंतर ऊर्जा का जागरण चाहिए। सिकुड़ने के लिए किसी जागरण की अथवा किसी नई शक्ति की जरूरत नहीं पड़ती।

महावीर तो फूल जैसे खिले हुए व्यक्तित्व हैं। हाँ, उनके पीछे जो परम्परा बनती है, उसमें सिकुड़ गए लोगों की धारा की शृंखला बनती है। पीछे के युगों में इन सिकुड़े हुए लोगों को देखकर महावीर के सम्बन्ध में निर्णय होने लगते हैं। लगता है, महावीर कुछ छोड़ रहे हैं, यही संयम है। नहीं लगता कि महावीर कुछ पा रहे हैं, यही संयम है। और ध्यान रखें, पाए बिना छोड़ना असम्भव है। जो पाए बिना छोड़ता है, वह रुग्ण हो जाता है, सिकुड़ जाता है। पाए बिना छोड़ना असम्भव है।

(२) महावीर का पाना इतना विराट है कि उसकी तुलना में जो कल तक उनके हाथ में था, वह मूल्यहीन और व्यर्थ हो जाता है।

(३) निषेधात्मक संयम से फूल पैदा नहीं होते, केवल काँटे उगते हैं। और जो काँटे बाहर आकाश में प्रकट होने से रह जाते हैं, वे भीतर आत्मा में छिप जाते हैं। इसलिए जिसे हम संयमी कहते हैं, वह पीड़ित दिखाई पड़ता है, किसी पहाड़ को ढोता हुआ मालूम पड़ता है। उसके चारों तरफ आँसुओं की धाराएं छूटती

१ जो इस लोक में तृष्णारहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।

हो जाती है। जो सयमी परिपूर्ण चित्त से हँस न सके, वह अभी सयमी नही है। निपेध और दमन उसके व्यक्तित्व को खडित कर डालते है। उसके भीतर अनेक हिस्से हो जाते है। वह अपने आपको ही बाँटकर लडना शुरू कर देता है। उनमे कभी जीत नही होती। स्वय से लडनेवाले कभी नही जीतते। परन्तु महावीर का रास्ता जीत का रास्ता है।

(४) सयम से लडना अपने ही दोनो हाथो को लडाने-जैसा है। न बायाँ जीत सकता है और न दायाँ, क्योकि दोनो के पीछे मेरी ही ताकत लगती है। खडित व्यक्तित्व विक्षिप्तता की ओर जाता है।

अगर आप चोरी करे तो कभी अखड न होगे। आपके भीतर का एक हिस्सा चोरी के खिलाफ ही खडा रहेगा। इसी तरह झूठ के साथ पूरी तरह राजी हो जाना असम्भव है। लेकिन अगर आप सत्य बोलें, चोरी न करें, तो आप अखड हो सकते है। महावीर ने उन्ही-उन्ही बातो को पुण्य कहा है जिनसे हम अखड हो सकते हैं। वह पाप है जो हमे खडित करता है, आदमी को टुकडो मे बाँटता है। आदमी का जुड जाना ही पुण्य है।

महावीर लडने को नही कहते, जीतने को जरूर कहते हैं। जीतने का रास्ता यह नही कि मैं अपनी इन्द्रियो से लडने लगूँ; जीतने का रास्ता यह है कि मैं अपने अतीन्द्रिय स्वरूप की खोज मे सलग्न हो जाऊँ, अपने भीतर छिपे हुए खजाने की खोज मे जुट जाऊँ। जैसे-जैसे वे खजाने प्रकट होगे, वैसे-वैसे कल की महत्त्वपूर्ण चीजें गैर-महत्त्वपूर्ण हो जायँगी।

(५) महावीर जिसे सयमी कहते है, वह व्यक्ति इसके पागलपन से मुक्त हो जाता है। महावीर एक और भीतरी रस खोजते है, एक ऐसा रस जो भोजन से नही मिलता। एक और रस भी है जो भीतर सम्बन्धित होने से मिलता है। हमारी इन्द्रियो का काम सयोजन करना है, जोड़ना है—वे सेतु का, सयोजक कडी का, काम करती है। स्वाद की इन्द्रिय हमे भोजन से और आँख की इन्द्रिय दृश्य जगत् से जोड देती है। महावीर कहते है कि जो इन्द्रिय हमे बाहर के जगत् से जोड सकती है, वह हमे भीतर के जगत् से भी जोड सकती है। भीतर भी ध्वनियो का एक अद्भुत जगत् है। कान उससे भी हमे जोड सकता है। भीतर भी रस का सागर लहराता होता है। जीभ भीतर के इस रस से हमे जोड सकती है।

(६) आपने सुना होगा कि साधक और जोगी अपनी जीभ उलटा कर लेते है। साधक और योगी का यह काम सिर्फ प्रतीक है। इसका अर्थ यह है कि जीभ का जो रस बाहर पदार्थो से जुडता था, वह अब भीतर आत्मा से जुड जाता है। साधक अपनी आँख उलटी चढा लेता है। इसका कुल अर्थ इतना ही है कि वह जो बाहर देखता था, अब भीतर देखने लगता है। और एक बार भीतर का स्वाद आ जाय

तो बाहर के सब स्वाद बस्वाद हो जाते हैं। इन्द्रियों को भीतर की तरफ मोड़ना संयम की प्रक्रिया है।

कैसे मोड़ेंगे? कभी छोटा सा प्रयोग करें तो बात समझ में आ जायगी।

घर में बैठे हों तो सुनना शुरू करें बाहर की आवाजों को। जागरूक होकर सुनें कि आप क्या-क्या सुन रहे हैं? सारी आवाजों के प्रति पूरी तरह जाग जायें। जब सारी आवाजों के प्रति पूरी तरह जागे हों तो एक बात यह भी खयाल करें कि कोई ऐसी भी आवाज है जो बाहर से नहीं आ रही है। आप एक सन्नाटे को अलग ही सुनना शुरू कर देंगे। बाजार की भीड़ में भी एक आवाज सुनाई पड़ेगी जो आपके भीतर पूरे समय गूंजती रहती है।

(७) इसकी प्रतीति जैसे ही होगी वैसे ही बाहर की आवाजें कम रसपूर्ण मालूम पड़ने लगेंगी और भीतर का संगीत आपके रस को पकड़ना शुरू कर देगा। जैसे जैसे हम भीतर जाते हैं, बाहर और भीतर का फासला गिरता चला जाता है। एक घड़ी आती है जब न कुछ बाहर रह जाता है और न कुछ भीतर। जिस दिन यह घड़ी आती है जब जो बाहर है वही भीतर और जो भीतर है वही बाहर उस दिन आप संयम को उपलब्ध हो गए, उस इक्वालिब्रियम को जिसमें सब सम हो जाता है, जिसमें सब ठहर जाता है, मौन हो जाता है, जिसमें कोई भाग दौड़ नहीं होती, कोई कम्पन नहीं होता।

(८) किसी भी इन्द्रिय से शुरू करें और भीतर की ओर बढ़ते चले जायें। फौरन ही यह इन्द्रिय आपको भीतर से जोड़ने का कारण बन जायगी। आंख से देखना शुरू करें फिर आंख बन्द कर लें। बाहर के दृश्य देखें, देखते रहें और धीरे-धीरे अन्तर के दृश्य के प्रति जागें। बहुत शीघ्र आपको बाहर के दो दृश्यों के बीच में भीतर के दृश्य की झलकें आनी शुरू हो जायेंगी। कभी भीतर ऐसा प्रकाश भर जायगा, जो बाहर सूर्य भी देने में असमर्थ होगा, कभी भीतर ऐसे रंग फैल जायेंगे जो इन्द्रधनुष में भी नहीं हैं।

(९) प्रत्येक इन्द्रिय भीतर के ज्ञान का द्वार बन सकती है। स्पर्श बहुत किया है आपने। तो बैठ जायें, आंखों को बन्द कर लें और स्पर्श पर ध्यान करें। जब स्पर्श खड़े हो जाने दें सारे चारों ओर और फिर खोजना शुरू करें कि क्या कोई ऐसा भी स्पर्श है जो बाहर से न आया हो? और थोड़े ही श्रम और संकल्प से आपको ऐसे स्पर्श की अनुभूति होने लगेगी जो बाहर से नहीं आई है। जिस दिन आपको उस स्पर्श का बोध होगा, उस दिन समझ लीजिए कि आपने भीतर का स्पर्श पा लिया। उस दिन बाहर के स्पर्श व्यर्थ हो जायेंगे। आपकी जो इन्द्रिय सबसे ज्यादा तीव्र है उसे आप दुश्मन बना लेते हैं। अगर आपके लिए संयम साधना विशेष ध्यान नहीं है तो आपकी जो इन्द्रिय सर्वाधिक सक्रिय है वही आपकी मित्र

है। आप उसी के द्वारा भीतर पहुँच सकेगे। जिस व्यक्ति ने अभी बाहर के रगो को भी नही जिया और जाना, उसे भीतर के रगो तक पहुँचने मे बड़ी कठिनाई होगी।

(१०) आपकी जो इन्द्रिय सर्वाधिक सवेदनशील है, उनसे अगर आप लडेगे तो वह कुठित हो जायगी। समझ ले कि आपने अपने हाथो ही अपना सेतु तोड लिया है। अगर आप विधायक सयम की धारणा से चले तो आप उसी इन्द्रिय को मार्ग बना लेगे, उसी पर आप पीछे लौट आएँगे। और ध्यान रहे, जिस रास्ते से हम बाहर जाते है, उसी रास्ते से भीतर आना सम्भव होता है। रास्ता वही होता है, सिर्फ दिशा बदल जाती है। यह आपको अजीब लगेगा, लेकिन मै जोर देकर कहना चाहता हूँ कि लोग इन्द्रियो के कारण बाहर नही भटकते, उन इन्द्रियो के कारण बाहर भटक जाते है जिनके रास्ते वे तोड देते हैं।

महावीर ने आत्मा की तीन स्थितियाँ कही है। एक को वे कहते हैं बहिर् आत्मा अर्थात् वह आत्मा जो अभी इन्द्रियो को बाहर की ओर उपयोग कर रही है। दूसरी को महावीर अन्तरात्मा की संज्ञा देते है। यह वह आत्मा है जो अब इन्द्रियो का भीतर की तरफ उपयोग कर रही है। और तीसरी को महावीर कहते है परमात्मा— अर्थात् वह आत्मा जिसका बहिर् और अन्तर मिट गया है, जो न बाहर जा रही है और न भीतर आ रही है। जो बाहर जा रही है वह बहिर् आत्मा है, जो भीतर आ रही है वह अन्तरात्मा है, जो कही नही जा रही है और अपने स्वभाव मे प्रतिष्ठित है, वह परमात्मा है।

इन्द्रियो का यह बहिर्रूप हमे पदार्थ से जोडता है। इन्द्रियाँ जब बाहर जोडती है तब वे पदार्थ से जोडती है और भीतर चेतना से जोडती हैं। जिस जगह वे हमे पदार्थ से जोडती है, उस जगह उनका रूप अति स्थूल होता है। लेकिन वे ही इन्द्रियाँ हमे स्वय से भी जोडती हैं। इन्द्रियो का बहुत स्थूल रूप ही बाहर प्रकट होता है।

(११) परमात्मा तक पहुँचना हो तो अन्तरात्मा से गुजरना पडेगा। बहिर् आत्मा हमारी आज की स्थिति है, मौजूदा स्थिति। परमात्मा हमारी सम्भावना है, हमारा भविष्य, हमारी नियति। अन्तरात्मा हमारा यात्रा-पथ है। उससे हमे गुजरना पडेगा भीतर जाने के रास्ते वे ही है जो बाहर जाने के रास्ते है। दूसरी बात यह है कि बाहर इन्द्रियाँ स्थूल से जोडती है और भीतर सूक्ष्म से। इसलिए इन्द्रियो के दो रूप है। एक को हम ऐन्द्रिक शक्ति कहते है और दूसरी को अतीन्द्रिय शक्ति।

(१२) रूसी वैज्ञानिक वासिलिएव के प्रयोगो के परिणामस्वरूप कई अधे लडके हाथ से पढने लगे है। रूस मे ही एक अधी लडकी को पैर से पढवाने की कोशिश की गई। दो महीने मे वह लडकी पैर से भी पढने लगी। फिर वह दीवाल के पीछे रखे हुए बोर्ड को भी पढने मे सफल हुई। अन्त मे उसे कई मील के फासले पर रखी हुई किताब को खोलकर पढवाया गया और वह उसे भी पढने लगी। वासिलिएव ने

कहा कि हम जितनी शक्तियों के सम्बन्ध में जानते हैं, निश्चित ही उनसे भिन्न कोई अन्य शक्ति भी हम मिली होती है।

(१३) योग निरन्तर उस शक्ति की चर्चा करता है। महावीर की संयम प्रक्रिया का रहस्य उस अन्य शक्ति को जगाना है। जैसे-जैसे वह अन्य शक्ति जगती है वैसे वैसे इन्द्रियाँ फीकी हो जाती हैं। जो श्रेष्ठतम है, आदमी उसे ही चुनता है। यदि आपको इन्द्रियों का अतीन्द्रिय रूप प्रकट होना शुरू हो जाय तो निश्चित ही आप इन्द्रियों का रस छोड़ देंगे और एक नए रस में प्रवेश कर जायेंगे। जो अभी इन्द्रियों में ही जीते हैं और जिनकी समझ की सीमा इन्द्रियों के पार नहीं है, वे आपको महात्यागी कहेंगे। लेकिन आप केवल भोग की और गहनतम दिशा में आगे बढ़ते हैं और उस रस का पान करते हैं जो इन्द्रियों में जीनेवाले आदमी को कभी पता ही नहीं चलता।

अतीन्द्रिय सम्भावनाओं को बढ़ाने के लिए महावीर ने बहुत ही गहन प्रयोग किए हैं। अगर वे भोजन के बिना वर्षों रह जाते हैं तो इसका कारण है। कारण यह है कि उन्होंने एक भोजन भीतर पाना शुरू कर दिया है। अगर वे पत्थर पर लेट जाते हैं तो इसका कारण यह है कि उन्होंने भीतर के एक नए स्पर्श जगत में रहना शुरू कर दिया है। अब उनके लिए बाहर की चीजों का महत्त्व नहीं है। इसलिए महावीर सिकुड़े हुए मालूम नहीं पड़ते, फैले हुए मालूम पड़ते हैं। वे आनन्दित हैं, तथाकथित तपस्वियों-जैसे दुःखी नहीं हैं।

(१४) बुद्ध ने भी वही साधना की जो महावीर ने की है। लेकिन जहाँ महावीर आनन्द को उपलब्ध हुए वहीं बुद्ध को बहुत पीड़ा हुई। महावीर महाशक्ति को उपलब्ध हुए, बुद्ध केवल निर्बल हो गए। निरंजना नदी को पार करते वक्त एक दिन वे इतने कमजोर थे कि उनमें किनारे को पकड़कर चढ़ने की शक्ति भी न थी। एक वृक्ष की जड़ को पकड़कर वे सोचने लगे कि जिस उपवास से मैं नदी पार करने की शक्ति खो चुका उससे इस भवसागर को कैसे पार कर सकूँगा? इसलिए बुद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि तपश्चर्या व्यर्थ है। वे बुद्धिमान और ईमानदार थे। यदि वे नासमझ होते तो इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते। अनेक नासमझ लोग उन दिशाओं में भी लगे चले जाते हैं जो उनके लिए नहीं हैं और जो उनके व्यक्तित्व से तालमेल नहीं खाती। ध्यान रहे कि जो आपकी दिशा नहीं है, उसमें आप पूरा प्रयास कभी नहीं कर सकते। इसलिए यह भ्रम बना ही रहता है कि मैं पूरा प्रयास नहीं कर पा रहा हूँ।

असल में वे लोग जिनसे बुद्ध प्रभावित हुए थे, निषेधमार्गी थे। जिस गुरु ने जो छोड़ने को कहा, वे छोड़ते गए। सब छोड़कर उन्होंने पाया कि गया तो छूट गया मिला कुछ भी नहीं, मैं केवल दीन-हीन और दुर्बल हो गया।

इससे बडा और क्या प्रमाण होगा ? ऐसा लगता है कि अनुभव से हम कुछ सीखते ही नही। और जो अनुभव से नही सीखता, वह सयम मे नही जा सकता। सयम मे जाने का अर्थ ही है कि अनुभव से असयम गलत दीखा, दुख लगा। अनुभव ने बताया कि असयम पीडा है, नर्क है।

(२०-२१) फिर भी लगता है कि असमय न हो तो जीवन मे कुछ नही ! न स्वाद मे रस और न सगीत मे रुचि ! हमने जीवन को असयम का पर्याय बना लिया है और हमारी धारणा है कि अगर महत्त्वाकाक्षा न रही तो जीवन भी निस्सार हो गया। हमे लगता ही यह है कि पाप ही जीवन की विधि है, असयम ही जीवन का ढग है। इसलिए हम सुन लेते है कि सयम की बात अच्छी है। लेकिन वह हमे छू नही पाती। इसका कारण है कि जब भी हमे संयम का खयाल उठता है तो लगता है, सयम निषेध है। सयम को निषेधात्मक मान लेने की वजह से हमारी तकलीफ है। मै नही कहता कि यह छोडो, वह छोड़ो। मै कहता हूँ, यह भी पाया जा सकता है, वह भी पाया जा सकता है। हाँ, इस पाने मे कुछ छूट जायगा, निश्चित ही। लेकिन तब भीतर खाली जगह नही छूटेगी, वहाँ एक नई तृप्ति होगी, एक नया भराव होगा।

हमारी सभी इन्द्रियाँ एक पैटर्न और व्यवस्था मे जीती है। जब आपको अतीन्द्रिय दृश्य दिखाई पडने शुरू हो जायँगे तब आपको केवल अपनी आँखो से ही छुटकारा नही मिलेगा। जिस दिन आँख से छुटकारा मिलता है, उस दिन कान के जगत् मे भी भीतर की ध्वनि सुनाई पडने लगती है, कान से छुटकारा मिल जाता है।

(२२-२३) आपकी एक वृत्ति सयम की तरफ जाने लगे तो आपकी समस्त वृत्तियाँ उस ओर चल पडेगी। और ध्यान रहे, श्रेष्ठतर सदा शक्तिशाली होता है। अगर एक व्यक्ति घर मे ठीक हो जाय तो वह उस पूरे घर को ठीक कर सकता है। प्रकाश की एक किरण अनन्त गुना अधकार से भी शक्तिशाली हो सकती है, सयम का एक छोटा-सा सूत्र असयम की अनन्त जिन्दगियो को मिट्टी मे मिला देता है। हाँ विधायक दृष्टि होनी चाहिए। उस इन्द्रिय से काम शुरू करना चाहिए जो सबसे ज्यादा शक्तिशाली हो। अपने व्यक्तित्व की समझ होनी चाहिए और अधानुकरणसे बचने का सकल्प। उसी मार्ग से लौटने का यत्न होना चाहिए जिस मार्ग से हम बाहर गए है। नही मालूम आपको किस जगह द्वार मिलेगा। आप पहुँचने की फिक्र करे, न कि यह जिद्द कि मै प्रवेश करूँगा तो इसी दरवाजे से। हो सकता है, वह दरवाजा आपके लिए दीवाल सिद्ध हो, हो सकता है कि जीनेन्द्र के मार्ग से आप कही न पहुँचे। आप किसको माननेवाले है, यह उस दिन सिद्ध होगा जिस दिन आप पहुँचेगे।

अष्टम अध्याय

तपश्चर्या

एव तव तु दुविह, जे सम्म आयरे मुणी ।
सो खिप्प सव्वससारा, विप्पमुच्चइ पडिओ ।।[1]

—उत्त० अ० ३०, गा० ३७

अहिंसा है आत्मा, संयम है प्राण, तप है शरीर। स्वभावत अहिंसा और संयम के सम्बन्ध मे भूलें हुई हैं, गलत व्याख्याएँ हुई हैं। लेकिन ये भूलें इनसे अपरिचय के कारण हुई हैं। तप के सम्बन्ध मे जो गलत व्याख्याएँ हुई हैं वे हमारी परिचय की भूलें है। तप से हम परिचित हैं—तप से हम आसानी से परिचित हो जाते हैं। असल मे तप तक जाने के लिए हम अपने को बदलना ही नहीं पडता। हम जैसे है वैसे ही हम तप मे प्रवेश कर जाते हैं। हम जैसे हैं वैसे ही अगर तप मे चले जाएँ तो तप हमे बदल नही पाता, हम तप को ही बदल डालते हैं।

(१) तप की गलत व्याख्याएं निरन्तर होती रही है। इसे समझ लेनी चाहिए ताकि हम ठीक व्याख्या की ओर कदम उठा सकें। हम भोग से परिचित हैं यानी सुख की आकांक्षा से। सुख की सभी आकांक्षा दुख मे ले जाती है। इससे स्वभावत एक भूल पैदा होती है और वह यह है कि यदि हम सुख की माँग करके दुख मे पहुँच जाते है तो क्या दुख की माँग करके सुख मे नही पहुँच सकते? यदि सुख की आकांक्षा दुख ला सकती है तो क्या न हम दुख की आकांक्षा करें और सुख पा लें। इसलिए तपस्वी की जो पहली भूल है, वह उसके भोगी चित्त से निकलती है। भोगी चित्त का अनुभव यही है कि सुख दुख मे ले जाता है। यदि हम विपरीत करें तो सुख मे पहुँच सकते है। सभी अपने को सुख देने की कोशिश करते हैं, हम अपने को दुख देने की कोशिश करें। यदि सुख की कोशिश दुख लाता है तो दुख की कोशिश सुख ला देगी। तपस्वी ऐसे ही सीधे गणित मे विश्वास करता है। लेकिन जिंदगी इतनी सीधी नहीं है और जिन्दगी का गणित इतना साफ नहीं है।

(२) दुख की आकांक्षा सुख नहीं ले आती क्योंकि ऐसी आकांक्षा के मूल मे सुख की ही आकांक्षा है। सुख की कोई आकांक्षा सुख नहीं ला सकती। ऊपर से

---

[1] जो पंडित, मुनि बाह्य और आभ्यंतर, दोनों प्रकार के तपों का सम्यक आचरण करता है, वह समस्त संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

दिखाई पडता है कि आदमी अपने को दुख दे रहा है, लेकिन वह दुख इसलिए दे रहा है कि सुख मिले। पहले वह सुख दे रहा था ताकि सुख मिले, अब दुख दे रहा है ताकि सुख मिले। आकाक्षा का केन्द्र अब भी सुख ही है, इसलिए दुख मिलेगा।

सच बात तो यह है—इसे न भूलें—कि दुख चाहा ही नही जा सकता। हाँ, अगर कभी कोई दुख चाहता है तो सुख के लिए ही। लेकिन वह चाह सुख की ही है। दुख चाहा नही जा सकता। यह असम्भव है। जिसने दुख के साथ चाह को जोडकर तप बनाया, वह तपस्वी नही हो सकता और न उसका तप तप होता है।

(४) आपने सुना होगा कि यूरप मे ईसाई फकीरो का एक सम्प्रदाय था जिसके सदस्य अपने को कोडा मार-मारकर लहूलुहान कर लेते थे। लोग उनकी तपश्चर्या देख चकित रह जाते थे। इस सम्प्रदाय की मान्यता थी कि जब भी काम-वासना उठे, तब अपने को कोडा मारो। धीरे-धीरे कोडा मारनेवालो को पता चला कि कोडा मारने मे काम-वासना का ही आनन्द आता है। जब उनके शरीर मे लहू बहता, तब उनके चेहरे पर ऐसा मग्न-भाव होता जो केवल सम्भोग-रत जोडो मे ही देखा जा सकता है। इसलिए लोग तो उनकी तपश्चर्या से प्रभावित होकर उनके चरण छूते और वे तपस्वी स्वय काम-वासना का आनन्द लेते।

लेकिन तप का यह अर्थ नही है। तप दुखवाद से उत्पन्न नही होता। तपस्वी कोडे मारकर भी सुख ही चाहता है, दुख नही। इसलिए यह न भूलें कि जब भी कुछ चाहा जाता है तो सुख ही। भूखे मरने और कांटे पर लेटने मे भी मजा आ सकता है, धूप मे खडे होने मे भी मजा आ सकता है, बशर्ते एक बार आपके भीतर की किसी वासना से कोई दुख सयुक्त हो जाय। आदमी अपने को दुख इसलिए देता है कि वह किसी वासना से मुक्त होना चाहता है। जब हम शरीर से मुक्त होना चाहते है, इसकी सजावट की कामना से मुक्त होना चाहते है, तब या तो नगे खडे हो जाते है या शरीर मे राख लपेटते है अथवा उसे कुरूप कर लेते हैं। लेकिन हमे पता नही कि राख लपेटना या नग्न हो जाना शरीर से ही सम्बन्धित है। यह भी सजावट है। यह देखकर आप चकित होंगे कि राख लपेटने वाले साधु भी एक छोटा आईना रखते है। राख ही लपेटना है तो आईने का क्या प्रयोजन ? लेकिन आदमी अद्‌भुत है! उसके लिए राख लपेटना भी सजावट और शृगार है। शरीर को सुन्दर बनानेवाले के लिए ही आईने की जरूरत नही होती, शरीर को कुरूप बनानेवाले को भी आईने की जरूरत पड जाती है।

(५) शरीर को सतानेवाले की दृष्टि हमेशा शरीर पर लगी होती है। चूँकि शरीर से सुख नही मिलता, इसलिए इसे सताने की चेष्टाएँ होती हैं। शरीर को सताना कुछ वैसा ही है जैसा उस कलम को गाली देना, या जमीन पर पटककर तोड देना, जो ठीक न चले। कलम को तोड देने से कलम का कुछ भी नही टूटता, आपका

ही टूटता है। शरीर को सतानेवाले तपस्वी की चेतना शरीर केन्द्रित ही होती है, उसे शरीर कभी नहीं भूलता। ध्यान रखें, भोगी और तथाकथित तपस्वी के बीच शरीर के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(६) जो तप शरीर के माध्यम से जी रहा है वह भोग का ही विकृत रूप है। जो तप शरीर-केन्द्रित है वह भोग का ही दूसरा नाम है, भोग की शरीर के साथ बदला लेने की आकांक्षा है। इस ठीक से समझकर ही हम तप की दिशा में आँखें उठा सकते हैं।

आज के तथाकथित तपस्वी आत्म हिंसक हैं। अपने को जो जितना सता सकता है, वह उतना बड़ा तपस्वी कहा जाता है। लेकिन सताने का, आत्मपीड़न का कोई सम्बन्ध तप से नहीं है। ध्यान रखें जो अपने को सता सकता है वह दूसरे को सताने से बच नहीं सकता। जो अपने को तप में सता सकता है, वह किसी को भी सता सकता है। निश्चित ही भोगी का सताने का ढंग सीधा होता है, त्यागी का परोक्ष। अगर आपने अच्छे कपड़े पहन रखे हैं और आपका त्यागी भभूत लगाए बैठा है तो वह आपके कपड़ों को ऐसे देखेगा जैसे वह कोई दुश्मन को देखता हो। उसकी आँखों में निन्दा होगी, आप कीड़े मकोड़े मालूम पड़ेंगे।

(७) तथाकथित तपस्वी आपको नर्क भेजने की योजना में लगे हैं। उनका चित्त आपके नर्क के सारे इन्तजाम कर रहा है। वे यह सोच नहीं सकते कि आपको भी पुण्य मिले। और बड़े मजे की बात है कि उनके स्वर्ग का सुख आपके ही दुःखों का निर्माण करता है। किसकी कल्पना से निकलती है यह सारी विचार धारा? सच में जो तपस्वी है वह किसी के लिए दुःख की कोई बात सोच भी नहीं सकता। लेकिन तथाकथित तपस्वियों ने नर्क की जो विवेचना की है और अपने शास्त्रों में उसका जो चित्रण किया है वह उनकी रुग्ण कल्पना शक्ति का ही परिचय देता है।

ध्यातव्य है कि तपस्वी आपके भोगों की बड़ी निन्दा करते हैं और उस निन्दा में बहुत रस लेते हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में स्त्री के अंगों का वैसा सुन्दर सरस चित्रण नहीं किया है जैसा तपस्वियों ने स्त्री के अंगों की निन्दा करने के लिए अपने शास्त्रों में किया है। यह भी कम मजे की बात नहीं है कि भोगियों के आसपास कभी अप्सराएँ आकर नहीं नाचतीं, वे सिर्फ तपस्वियों के आसपास आकर नाचती हैं। तपस्वी सोचते हैं कि वे उनका तप भ्रष्ट करने के लिए आती हैं। लेकिन मनोविज्ञान को पता है कि इस जगत में अप्सराओं का कोई इन्तजाम नहीं है तपस्वियों को भ्रष्ट करने के लिए। आखिर तपस्वियों को भ्रष्ट करके क्या पाएगा? बेचारी अप्सराएँ शाश्वत रूप में क्या एक ही धंधा करेंगी—तपस्वियों को भ्रष्ट करने का? उनके लिए और कोई काम ही नहीं?

(८) सच तो यह है कि वे (अप्सराएँ) किसी स्वर्ग से नहीं आतीं, बल्कि

तपस्वी के सघर्षरत मन से उतरती है, तपस्वी के मन मे जो छिपा है उसे ही बाहर प्रकट करती हैं।

तप विकृत हो तो दमन होता है। और दमन मनुष्य को रुग्ण करता है, स्वस्थ नही। इसलिए मै कहता हूँ कि महावीर के तप मे दमन का लेश भी न था। महावीर ने अगर दमन जैसे शब्दो का कही प्रयोग भी किया है तो किसी और ही अर्थ मे। उनके लिए दमन का अर्थ था शान्त हो जाना। शान्त कर लेना भी नहीं, बल्कि शान्त हो जाना। जिस चीज से आपको दुख हुआ है, उसके विपरीत चले जाने से दमन पैदा होता है। यदि काम-वासना ने मुझे दुख दिया है तो काम-वासना के विपरीत जाना और उससे लडना दमन कहलाएगा।

(९) महावीर कहते हैं कि अगर घृणा से मुक्त होना है तो राग से भी मुक्त हो जाना पडेगा। अगर शत्रु से बचना है तो मित्र से भी बच जाना पडेगा। जीवन के सभी रूप अपने विपरीत से बँधे हुए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो व्यक्ति जिस चीज से लडेगा वह उससे ही बँधा रहेगा। अगर आप धन से लड़ रहे हैं और धन के विपरीत जा रहे है, तो धन आपके चित्त को सदा घेरे रहेगा। तप इन्हीं भूलो मे पडकर रुग्ण हो गया है और जिन्हे हम तपस्वी कहते है उनमे से ९९ प्रतिशत मानसिक चिकित्सा के लिए उम्मीदवार हैं।

(१०-११) पशु विकृत नही होता क्योकि वह प्रकृति मे ठहरा रहता है। आदमी दो कोशिशे कर सकता है। चाहे तो वह प्रकृति मे लडने की कोशिश करे और आज नही तो कल विकृति मे उतर आए, या फिर प्रकृति का अतिक्रमण करने की कोशिश करे और सस्कृति मे प्रवेश कर जाए। अतिक्रमण तप है, न कि विरोध और सघर्ष। बुद्ध ने एक बहुत अच्छे शब्द का प्रयोग किया है। वह शब्द है पारमिता। वे कहते हैं—लड़ो मत, इस किनारे से उस किनारे चले जाओ, पार चले जाओ।

(१२) मैं कहता हूँ कि अगर घाटी के अँधेरे से लडना है तो घाटी के अँधेरे मे ही रहना पडेगा। अगर मैं घाटी के अँधेरे से नही लडता तो उस पर ध्यान देने की जरूरत नही है। जहाँ मै खडा हूँ वहाँ चारो ओर वृत्तियाँ है भोग की। वे भी है और आप भी है। गलत त्यागी का ध्यान वृत्तियो पर होता है, सही त्यागी का ध्यान स्वय पर। गलत त्यागी कहता है कि मै इस वृत्ति को कैसे मिटाऊँ; सही त्यागी कहता है कि मै इस वृत्ति के ऊपर कैसे उठूँ ? वृत्ति से जो लड़ता है, उसका ध्यान वृत्ति पर होता है। स्वय को जो ऊँचा उठाता है, उसका ध्यान स्वय पर होता है। वृत्ति से लड़नेवाले का ध्यान बहिर्मुखी होगा, स्वय को ऊर्ध्वगमन की ओर प्रवृत्ति करने वाले का ध्यान अन्तर्मुखी।

(१३) तप का मूल सूत्र यही है कि ध्यान के लिए नए केन्द्र निर्मित करो। नए केन्द्र हमारे भीतर हैं। उन केन्द्रो पर ध्यान को ले जाओ। ध्यान को जैसे ही कोई नया केन्द्र मिलता है, वह वैसे ही नए केन्द्र मे

शक्ति को उँडेलने लगता है और पुराने चक्रों को मुक्ति मिल जाती है, शिखर की ओर ऊर्ध्वगमन शुरू हो जाता है। काम-वासना का हमारा केन्द्र सबसे नीचे है। यहीं से हम प्रकृति से जुड़े हैं। सहस्रार हमारा सबसे ऊँचा केन्द्र है। वहीं से हम परमात्मा से—दिव्यता, भव्यता और भगवत्ता से—जुड़े हैं। आपने कभी खयाल किया है कि आपके मस्तिष्क में विचार चलता है काम-वासना का और आपका काम-केन्द्र किस प्रकार तत्काल सक्रिय हो जाता है? विचार चलता है मस्तिष्क में और तत्काल सक्रिय हो उठता है उससे दूर आपका काम केन्द्र। ठीक इसी प्रकार जैसे ही तपस्वी सहस्रार की ओर ध्यान देता है वैसे ही सहस्रार का सक्रिय होना शुरू हो जाता है और जब शक्ति ऊपर की ओर जाती है तब उसका नीचे की तरफ जाना असम्भव हो जाता है। जब शक्ति को शिखर पर चढ़ने का मार्ग मिलने लगता है तब वह घाटियाँ छोड़ने लगती है। जब प्रकाश के जगत में शक्ति का प्रवेश होने लगता है तब वह अँधेरे के जगत् से चुपचाप हटने लगती है। उसके मन में न तो अँधेरे की निन्दा होती है और न विरोध। ध्यान का रूपान्तरण है तप।

मनुष्य के भीतर जीवन की जो अग्नि है उस अग्नि का ऊर्ध्वगमन तपस्वी का लक्ष्य होता है, उसे नीचे की ओर ले जाना भोगी का लक्ष्य। भोगी वह है जो जीवन की अग्नि को नीचे की ओर प्रवाहित करता है। तपस्वी उस अग्नि को परमात्मा और सिद्धावस्था की ओर ले जाता है।

(१४) सच पूछिए तो अग्नि का स्वभाव ही ऊपर की ओर जाना है। पानी नीचे की ओर बहता है लेकिन अग्नि? वह स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है। एक बार आपको जरा-सा भी अग्नि के ऊर्ध्वगामी होने का अनुभव हो जाय तो फिर आपको उसे ऊपर ले जाने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ेगा। एक बार सहस्रार की तरफ तपस्वी का ध्यान मुड़ जाय तो फिर उसे कुछ नहीं करना पड़ता। फिर तो वह अग्नि अपने आप बढ़ती रहती है।

(१५) गलत तपस्वी सिर्फ आदतें बदलता है रस नहीं। ठीक तपस्वी रूपान्तर खोजता है, दमन नहीं करता। लेकिन गलत तपस्वी लड़ता है, ठीक तपस्वी स्वीकार कर लेता है। जो भी स्वीकृत हो जाती है, उस पर ध्यान जाना बन्द हो जाता है, उसकी ऊर्जा किसी काम में लग जाती है। गलत तपस्वी उन चीजों पर ध्यान देता है जिन पर वह नाराज होता है। तप मन की प्रक्रिया ध्यान का रूपान्तरण है। गलत तपस्वी उन चीजों पर ध्यान देता है जिन पर न आग्रह रखना, और न उनका [illegible]। ध्यान अगर [illegible] बनता है फिर मन [illegible] उसका [illegible] चाहिए। [illegible] और आत्मा ध्यान भगवान तपस्वी ओर [illegible]। [illegible] की अग्नि में स्वयं ध्यान भीतर [illegible] और [illegible] का [illegible] करती है

जहाँ ध्यान दौड जाय और जहाँ नए केन्द्र सशक्त होने लगें। इसलिए तपस्वी कमजोर नही होता, शक्तिशाली होता है।

(१६) ठीक विधायक तप कहता है—शक्ति पैदा करो, ध्यान को रूपान्तरित कर उसे नए केन्द्रो पर ले जाओ ताकि शक्ति वही जाए।

(१७) तप ध्यान के केन्द्र को वदलने की प्रक्रिया है। महावीर ने तप के वारह हिस्से किए है और इनमे प्रत्येक हिस्सा स्वभावत वैज्ञानिक प्रक्रिया है।



नवम अध्याय

तप की वैज्ञानिक प्रक्रिया

खवेत्ता पुव्वकम्माइ सजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमति महेसिणो ॥[१]

—उत्त० अ० २८, गा० ३६

धम विनान ही नहा, परम विज्ञान है। जहा विनान केवल पदाथ का स्पश कर पाता है, वहाँ धम उस चैतय का भी जिसका स्पश करना असम्भव माल्म पडता है। विनान केवल पदाथ को बदल पाता है, नए रूप दे पाता है, धम उस चेतना का भी रूपान्तरित करता ह जिस देखा भी नही जा सकता छुआ भी नहा जा सकता। इसलिए धम परम विनान है। विनान का लक्ष्य होता है उस प्रक्रिया, पद्धति या व्यवस्था को जानना जिसस कुछ किया जा सकता है। बुद्ध कहते थे कि सत्य का अथ है वह जिससे कुछ किया जा सके। जो सत्य नपुसक है जिसस कुछ नही हो सकता, जा सिफ सिद्धान्त ह, वह सत्य व्यथ है। सत्य वही है जो कुछ कर सके—जो कोइ बदलाहट, कोई क्रान्ति, कोई परिवतन ला सके। धम एसा ही सत्य है। धम चिंतन नहीं है और न विचार, धम आमूल रूपान्तरण है, म्यूटेशन है। तप धम के रूपान्तरण की प्रक्रिया का प्राथमिक सूत्र है।

(१) जगत म जो भी हम दिखाई पडता है, वह वैसा नहा है जैसा दिखाई पडता है। जो भी दिखाई पडता है वह स्थिर, ठहरा हुआ या जमा हुआ पदाथ है। लेकिन विनान कहता है कि इस जगत म कोइ भी चीज ठहरी हुइ या जमी हुइ नहा है, जो भी है वह गत्यात्मक है डाइनैमिक है। जिस कुर्सी पर आप बठे हैं यह पूरे समय नदी के प्रवाह की तरह वही जाना है। अगर गति अधिक हो जाय तो चीजें ठहरी हुई माल्म पडती ह। अधिक गति के कारण, ठहराव के कारण नहीं। आपकी कुर्सी का एक एक परमाणु अपने केन्द्र पर उतनी ही गति से दौड रहा है जितनी गति से सूय की किरणें दौडती ह—एक सेकड म एक लाख छियासी हजार मील। परमाणुओ की तीव्र गति की वजह से आप कुर्सी स नहीं गिरते।

(२) याद रहे कि यह गति भी बहुआयामी है मल्टी डाइमेन्शनल है। आपकी

---

१ महर्षिगण सयम और तप द्वारा अपने सभी पुव कर्मों को क्षीण करके सभी दुखो से रहित मोक्षपद को पाने के लिए प्रयत्न करते ह।

कुर्सी के परमाणुओ का अपने भीतर घूमना कुर्सी की पहली गति है। प्रत्येक परमाणु अपने न्यूक्लियस पर—केन्द्र पर—चक्कर काट रहा है। फिर कुर्सी जिस पृथ्वी पर रखी है, वह पृथ्वी अपनी कील पर घूम रही है। इसलिए कुर्सी भी पूरे समय पृथ्वी के साथ घूम रही है। यह उसकी दूसरी गति है। पृथ्वी सूर्य के चारो ओर परिभ्रमण कर रही है। यह कुर्सी की तीसरी गति है। उसकी चौथी गति का कारण यह है कि सूर्य अपनी कील पर घूम रहा है और उसके साथ उसका सारा सौर परिवार—कुर्सी भी—घूम रहा है। पाँचवी गति—वैज्ञानिक कहते है कि सूर्य किसी महासूर्य का चक्कर लगा रहा है। बडा चक्कर है वह। कोई बीस करोड वर्षो मे एक चक्कर पूरा होता है। यह पाँचवी गति कुर्सी भी कर रही है, क्योकि वह भी सौर परिवार से बाहर नही है। वैज्ञानिको का खयाल है कि जिन महासूर्य का परिभ्रमण हमारा सूर्य कर रहा है, वह महासूर्य भी अपनी कील पर घूम रहा है और उसके साथ हमारी कुर्सी भी गतिमान् है। वैज्ञानिको ने एक और गति की चर्चा की है, सातवी गति की। उनका कहना है कि वह महासूर्य जो अपनी कील पर घूम रहा है, दूसरे सौर परिवारो से प्रतिक्षण दूर हटता जा रहा है। पदार्थ की ये ही सात गतियाँ हैं। आदमी मे प्राण अथवा जीवन मे, एक आठवी गति भी है। जहाँ कुर्सी चल नही सकती वहाँ जीवन चल सकता है। धर्म की दृष्टि मे नौवो गति भी है। वह कहता है कि आदमी तो चलता ही है, उसके भीतर की ऊर्जा भी नीचे या ऊपर की ओर जा सकती है। तप का संबंध इस नौवीं गति से ही है। आठ गतियो तक विज्ञान काम कर लेता है, किन्तु धर्म की सारी प्रक्रिया का केन्द्र नौवी गति है।

(३-५) हमारे भीतर की जो ऊर्जा है वह नीचे या ऊपर जा सकती है। जब हम काम-वासना से भरे होते हैं तब हमारी ऊर्जा नीचे जाती है, जब हम आत्मा की खोज से भरे होते है तब वह ऊपर की ओर जाती है। इसी प्रकार जब हम जीवन से भरे होते है तब हमारी ऊर्जा भीतर की तरफ जाती है। धर्म की दृष्टि मे भीतर और ऊपर एक ही दिशा के नाम हैं।

(६-७) एक बडे मजे की बात है कि ठहरी हुई कील पर ही चाक को चलना पडता है। अगर कील भी चल जाए तो गाडी गिर जाए। इसका अर्थ यह हुआ कि विपरीत से ही सतुलन आता है। इसलिए तपस्वी की चेष्टा होती है कि वह अपने चारो ओर इतनी अग्नि पैदा कर ले कि उस अग्नि के अनुपात मे उसके भीतर शीतलता का बिन्दु पैदा हो जाए, वह अपने चारो ओर इतनी गत्यात्मक शक्ति को जनमा ले कि भीतर शून्य का बिन्दु उपलब्ध हो जाए, वह अपने चारो ओर ऊर्जा के इतने तीव्र परिभ्रमण से भर जाए कि उसकी धुरी ठहर जाए, खडी हो जाए। तपस्वी वह है जो ताप से भरा हुआ है परन्तु जिसका केन्द्र शीतल है। तपस्वी वह है जिसके चारो ओर शक्ति जग जाती है परन्तु जिसके केन्द्र पर शीतलता आ जाती है। वैज्ञा-

निकों का पहले ख्याल था कि सूर्य जलती हुई अग्नि ही है, उबलती हुई अग्नि लेकिन अब वैज्ञानिक कहते हैं कि सूर्य अपने केंद्र पर बिलकुल शीतल है। जहां इतना प्रचंड अग्नि हो वहां उसको संतुलित करने के लिए केंद्र पर गहन शीतलता होनी ही चाहिए, नहीं तो संतुलन टूट जायगा। ठीक ऐसी घटना तपस्वी के जीवन में घटती है। उसके चारों ओर ऊर्जा उत्तप्त हो जाती है लेकिन उस उत्तप्त ऊर्जा को संतुलित करने के लिए केंद्र बिलकुल शीतल हो जाता है। इसलिए तप से भरे हुए व्यक्ति से ज्यादा शीतलता का बिंदु इस जगत में दूसरा नहीं है।

(८-१२) तपस्वी का ताप बाह्य नहीं होता। वैसा ताप शरीर के आस-पास आग की अंगीठी जला लेने से पैदा नहीं होगा। यह ताप आंतरिक है। इसलिए महावीर ने यह निषेध किया है कि तपस्वी अपने चारों ओर आग न जलाए, धूनी न रमाए। धूनी से मिला हुआ ताप बाह्य होता है, उससे आंतरिक शीतलता पैदा न होगी। ध्यान रहे कि शीतलता आंतरिक तभी होगी जब ताप भी आंतरिक होगा। यदि ताप बाह्य होगा तो शीतलता भी बाह्य होगी। यदि अन्तर की यात्रा करनी है तो बाहर के सब्स्टीट्यूट नहीं खोजने चाहिए—वे धोखे के हैं, खतरनाक हैं।

(१३-१५) आम तौर से हम जिन्हें तपस्वी कहते हैं, वे ऐसे लोग हैं जो अपने भौतिक शरीर को ही सताने में लगे हैं। भौतिक शरीर से कुछ लेना-देना नहीं है। इस शरीर के भीतर छिपा हुआ जो दूसरा शरीर है—ऊर्जा-शरीर या एनर्जी बॉडी—उसके ऊपर ही काम करना है। योग में जिन चक्रों की बात की गई है, वे चक्र इस शरीर में कहीं भी नहीं हैं। वे ऊर्जा शरीर के चक्र हैं। यही कारण है कि शल्य-चिकित्सक जब इस शरीर को काटते हैं तब उन्हें ये चक्र कहीं नहीं मिलते। जिन्हें हम चक्र कहते हैं वे ऊर्जा शरीर के बिंदु हैं यद्यपि इन बिंदुओं के अनुरूप, इनसे कारिस्पॉण्ड करने वाले स्थान इस शरीर में अवश्य हैं लेकिन ये स्थान चक्र नहीं हैं। हमारे शरीर के भीतर छिपा हुआ और इसके बाहर इसे चारों ओर घेरे हुए जो आभा मंडल है, वही हमारा वास्तविक शरीर है, हमारा तप शरीर।

(१६-२१) इस भूमि पर हिंदुओं ने प्राण ऊर्जा के सम्बन्ध में सर्वाधिक गहरे अनुभव किए थे इसलिए उन्होंने सर्वाधिक तीव्रता से शरीर को नष्ट करने के लिए आग का इंतजाम किया, गाड़ने का नहीं। यदि शरीर गाड़ा गया तो उसे गलने, टूटने और मिट्टी में मिलने में छह महीने लग जाएंगे। उन छह महीनों तक आत्मा का भटकाव हो सकता है। तो बार जला देने का प्रयोग उन्होंने सिर्फ इसलिए किया कि इसी क्षण आत्मा को पता चल जाए कि शरीर नष्ट हो गया है, व्यक्ति मर गया है। जब तक यह अनुभव में न आए कि मैं मर गया हूँ तब तक नए जीवन की खोज शुरू नहीं होती। मैं मर गया हूँ—यह अनुभव कर लेने पर आत्मा नए जीवन की खोज में निकल पड़ती है।

(२२-२३) अव मैं तप का पहला सूत्र आपसे कहता हूँ—इस शरीर से अपना तादात्म्य छोडे, यह मानना छोडे कि मैं यह शरीर हूँ। अपने को शरीर मानने से ही सारा भोग फैलता है। जिस आदमी ने अपने को भौतिक शरीर समझा, वह दूसरे भौतिक शरीर को भोगने के लिए आतुर हो जाता है। इससे ही सारी काम-वासना पैदा होती है। जिस व्यक्ति ने अपने को यह भौतिक शरीर समझा वह भोजन मे वहुत रसातुर हो जाता है, वह अपनी ही इन्द्रियो के हाथ विक जाता है। इसलिए तप का पहला सूत्र है कि मै शरीर नही हूँ। शरीर के साथ अपने को तादात्म्य करने की आदत को तोडे। यदि सचमुच इस तादात्म्य को तोडना है तो स्मरण रखे कि इसके किए सकल्प अनिवार्य है। इस सकल्प के विना गति नही है। और सकल्प से ही तादात्म्य टूट जाता है क्योकि वह सकल्प से ही निर्मित है। जन्म-जन्म के सकल्प का परिणाम है यह मानना कि मै यह शरीर हूँ। इस सकल्प को तोड़े विना तप की यात्रा नही हो सकती। इस सकल्प के साथ भोग की ही यात्रा होगी। यह संकल्प हमने किया ही इसलिए है कि हम भोग की ही यात्रा कर सके।

(२४) अगर मुझे यह पता हो कि मै यह शरीर नही हूँ तो हाथ के लिए यह भाव नही जगेगा कि मैं इससे किसी सुन्दर शरीर का स्पर्श करूँ। यह हाथ मैं हूँ ही नही। तपस्वी का हाथ डडे की भाँति हो जाता है। डडे से किसी शरीर का स्पर्श किया जाय तो इससे आनन्द नही मिलता। जैसे ही सकल्प टूटा और प्रतीति हुई कि मैं हाथ नही हूँ, तपस्वी का हाथ वैसे ही डडा हो जाता है। उस हाथ से किसी के सुन्दर चेहरे को छूना डडे से छूना-जैसा हो जाता है।

भोग का सुत्र है कि मैं यह शरीर हूँ, तप का सूत्र है कि मै यह शरीर नही हूँ। भोग का सूत्र 'पॉजिटिव' है, तप का सूत्र नकारात्मक। जब आप कहते है कि मै शरीर हूँ तो कुछ पकड मे आता है, जब आप यह कहते है कि मै शरीर नही हूँ तो कुछ पकड मे नही आता। यदि तप का यही एक सूत्र हो कि मै यह शरीर नही हूँ तो तप हार जायगा, भोग जीत जायगा। इसलिए तप का दूसरा सूत्र है कि मैं ऊर्जा-शरीर हूँ, एनर्जी वॉडी हूँ, प्राण-शरीर हूँ। तो दो काम करे। इस शरीर से तादात्म्य छोड़े और प्राण-ऊर्जा के शरीर से तादात्म्य स्थापित करे। वल इस वात पर पड़े कि मैं ऊर्जा-शरीर हूँ। अगर आपका जोर इस वात पर रहा कि यह शरीर मैं नही हूँ तो गलती हो जायगी।

महावीर ने तप के दो रूप कहे है—आन्तरिक तप अथवा अतर तप और वाह्य तप। अन्तर और वाह्य तप के उन्होने छह-छह हिस्से किए हैं। पहले हम वाह्य तप से वात शुरू करेंगे, फिर अन्तर तप पर आएँगे। अगर तप की प्रक्रिया खयाल मे आ जाए और सकल्प मे चली जाए तो जीवन उस यात्रा पर निकल जाता है जिस पर निकले विना अमृत का कोई अनुभव नही हो सकता। हम जहाँ हैं वहाँ तो वार-

दशम अध्याय

महावीर की दृष्टि मे अनशन

अत्थगयमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइय सव्व, मणसा वि न पत्थए॥[1]

दश० अ० ८ गा० २८

महावीर ने तप को दो रूपो मे विभाजित किया है। इसलिए नही कि तप दो रूपो मे विभाजित हो सकता है, बल्कि इसलिए कि हम उसे बिना विभाजित किए समझ ही नही सकते। इसका भी एक कारण है। वह यह है कि हम विभाजित मनुष्य है। हम अपने को ही छोडकर, अपने से ही च्युत होकर, अपने से ही दूर खडे है। ऐसा नहीं कि हम दूसरो से अजनबी हे, सच तो यह हे कि हम अपने से ही अजनबी है। इसलिए विभाजित मनुष्य की समझ के बाहर होगा अविभाज्य तप। महावीर तप को दो हिस्सो मे बाँटते है हमारे कारण, अन्यथा उनकी-जैसी चेतना को बाहर और भीतर का कोई अन्तर नही रह जाता। महावीर तो वहाँ है जहाँ बाहर भी भीतर का ही एक छोर हो जाता है और भीतर बाहर का एक दूसरा छोर। वे वहाँ है जहाँ भीतर और बाहर एक ही अस्तित्व के दो अग हो जाते हैं। इसलिए यह विभाजन हमारे लिए है।

(१) महावीर ने तप के दो रूप कहे है—बाह्य तप और अतर तप। उचित होता कि महावीर अतर तप को ही पहले रखते, क्योकि वह जो आन्तरिक है वही प्राथमिक भी है। लेकिन उन्होने अन्तर तप को पहले नही रखा, पहले रखा है बाह्य तप को। इसका कारण यह है कि महावीर के सुननेवालो के लिए आन्तरिक द्वितीय स्थान रखता है, बाह्य ही प्रथम है। महावीर की करुणा कहती है कि वे वही से बोले जहाँ सुननेवाला खड़ा है। यद्यपि उनके लिए आन्तरिक प्रथम है, उनके सुननेवालो के लिए आन्तरिक का स्थान द्वितीय है। इसलिए वे बाह्य तप को पहले रखते है, कारण कि हम बाहर है। और चूंकि महावीर ने बाह्य तप को पहले रखा है, इसलिए उनके अनुयायियो ने बाह्य तप को ही प्राथमिक समझ लिया है। यही भूल हुई है और यही से बाह्य तप मे लगे रहने की लम्बी धारा चल पड़ी है। अब तो स्थिति

---

१. सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की (मन से भी) इच्छा नहीं करनी चाहिए।

ऐसी आ गई है कि बाह्य तप ही पूरा नहीं हो पाता इसलिए आन्तरिक तप तक जाने का सवाल ही नहीं उठता। बाह्य तप ही जीवन को डुबो लेता है। लेकिन इसे भी ध्यान में ले लें कि जब तक आन्तरिक तप पूरा नहीं हो जाता तब तक बाह्य तप भी पूरा न होगा।

अन्तर और बाह्य एक ही चीज हैं। इसलिए यह सोचना कि बाह्य तप पहले पूरा हो जाए तब मैं अन्तर तप में प्रवेश करूँगा, गलत है। इससे बाह्य तप कभी पूरा नहीं होगा, क्योंकि बाह्य तप स्वयं आधा हिस्सा है। वह कभी पूरा नहीं हो सकता। जन-साधना जहाँ भटक गई है वह यही जगह है। यहीं से इस विश्वास का सूत्रपात होता है कि पहले बाह्य तप पूरा हो जाए तो फिर आंतरिक तप में उतरेंगे। मैं कहता हूँ—बाह्य तप कभी पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य जो है वह अधूरा ही है। वह तो पूरा तभी होगा जब आंतरिक तप भी पूरा हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर ये दोनों तप साथ-साथ चलें तभी पूरे हो पाते हैं अन्यथा पूरे नहीं हो पाते। लेकिन विभाजन ने हमें ऐसा समझा दिया कि पहले हम बाहर को पूरा कर लें, पहले बाहर को साध लें फिर भीतर की यात्रा करेंगे। ध्यान रहे कि तप एक ही है बाहरी और भीतरी तप सिर्फ कामचलाऊ विभाजन हैं।

(२) अगर कोई अपने शरीर को स्वस्थ करना चाहे और सोचे कि पहले पैर स्वस्थ हो जाए फिर सिर स्वस्थ कर लेंगे, तो वह गलती में है। शरीर एक है और उसका कोई भी अंग तब तक स्वस्थ नहीं हो सकता जब तक पूरा शरीर स्वस्थ न हो। अन्तर और बाह्य पूरे व्यक्तित्व के हिस्से हैं। इन सभी हिस्सों का इलाज एक साथ करना होगा। हाँ, जब हम विवेचन करते हैं तब उन्हें बारी-बारी से लेना होता है। सभी हिस्सों की बात एक साथ नहीं की जा सकती। भाषा 'वन-डाइमेन्शनल' है इसकी अपनी सीमाएँ हैं। इसलिए विवेचन करते समय मैं पहले आपके सिर की बात करूँगा फिर आपके हृदय की बात करूँगा और अन्त में आपके पैर की बात। तीनों की बात मैं एक साथ नहीं कर सकता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि तीनों एक साथ नहीं हैं। आपका सिर, आपका हृदय आपके पैर—सब एक साथ हैं अलग अलग नहीं हैं। यद्यपि इनकी चर्चा अलग अलग करनी पड़ती है फिर भी अस्तित्व में वे इकट्ठे हैं।

इसलिए तप के छह बाह्य और छह आन्तरिक हिस्सों की जो मैं चर्चा करूँगा उसमें क्रम होगा लेकिन जिन्हें इनकी साधना करनी है उनके लिए क्रम नहीं रह जाता। उन्हें एक साथ इनकी साधना करनी होगी। तभी तो साधना में पूर्णता उपलब्ध होगी अन्यथा नहीं। और ध्यान रहे कि [illegible] पैदा होती है कारण कि भाषा के पास एक साथ बातें कहने का कोई उपाय नहीं है। अगर मैं किसी को बाहर जाकर खोता हूँ और बताऊँ कि मेरे सामने का परि [illegible], किन्तु [illegible] उठ के, मा

सर्वप्रथम मैं पहले व्यक्ति का नाम लूंगा, फिर दूसरे का, फिर तीसरे का, फिर चौथे का। इस प्रकार मेरे कथन मे क्रम होगा, लेकिन जो लोग मेरे सामने बैठे थे, उनके बैठने मे क्रम न था। वे एक साथ मौजूद थे। उनका अस्तित्व इकट्ठा था, एक साथ था। भाषा उनमे क्रम बना देगी। कोई आगे हो जाएगा और कोई पीछे। लेकिन अस्तित्व मे कोई आगे-पीछे नही होता।

(३) बाह्य तप मे महावीर ने अनशन को पहला स्थान दिया है।

अनशन के सम्बन्ध मे जो भी समझा जाता है वह गलत है। उसमे छिपे हुए सूत्र पर ही आज मैं विचार करूँगा। इस सूत्र को समझ लेने पर आपको एक नई दिशा का बोध होगा।

मनुष्य के शरीर मे दोहरे यत्र है ताकि सकट के किसी क्षण मे एक यत्र काम न करे तो दूसरा उपयोगी हो। आप भोजन करते है, शरीर उस भोजन को पचाता है, खून और हड्डियाँ बनाता है। शरीर के साधारण यत्रो से यह काम हो जाता है। लेकिन कभी कोई जगल मे भटक जाता है, नदी मे बह जाता है और कई दिनो तक किनारा नही पाता। ऐसी अवस्था मे जब उसे भोजन नही मिलता तब शरीर के सकटकालीन यत्र सक्रिय हो जाते है। शरीर को भोजन की आवश्यकता बनी ही रहती है, उसे ईंधन की जरूरत होती ही है। जब शरीर को भोजन नही मिलता तो वह उस ईंधन को ही उपयोग मे लाने लगता है जो उसके भीतर पहले से इकट्ठा है। वह अपने भीतर की चर्बी को ही भोजन बनाना शुरू कर देता है। इसलिए उपवास मे एक पौड वजन रोज गिरता चला जाता है। फिर भी लगभग ९० दिन तक साधारण स्वस्थ आदमी उपवास से नही मरता। शरीर के पास इतना संगृहीत तत्त्व मौजूद होता है कि कम-से-कम तीन महीने तक वह अपने को बिना भोजन के जिन्दा रख सकता है। शरीर की ये दो व्यवस्थाएँ है। इनमे एक तो सामान्य है और दूसरी केवल सकट की घडी के लिए बनी है।

(४-५) अनशन की प्रक्रिया का राज यह है कि जब शरीर एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था पर सक्रमण करता है तब बीच मे कुछ क्षण के लिए आप वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ शरीर नही होता। यही अनशन का सीक्रेट है। जब भी आप एक चीज से दूसरी पर बदलाहट करते है, एक सीढी से दूसरी सीढ़ी पर जाते है, तब एक ऐसा क्षण होता है जब आप किसी भी सीढी पर नही होते। जब आप एक स्थिति से दूसरी स्थिति पर छलाँग लगाते है तब बीच मे एक गैप—एक अन्तराल—हो जाता है। उस अन्तराल मे आप किसी भी स्थिति मे नही होते, फिर भी होते अवश्य हैं।

शरीर की एक व्यवस्था है सामान्य भोजन की। अगर यह व्यवस्था बन्द कर दी जाए तो अचानक आपको दूसरी व्यवस्था मे रूपान्तरित होना पड़ेगा। इस बीच कुछ ऐसे क्षण होगे जब आप आत्म-स्थिति मे होगे। उन्ही क्षणो को पकड़ना अनशन

का उपयोग है। इसलिए जो आदमी अनशन का अभ्यास करेगा, वह उसका फायदा नहीं उठा पाएगा। अनशन 'सडेन' प्रयोग है आकस्मिक और अचानक प्रयोग। वह जितना अचानक होगा, अन्तराल का उतना ही बोध होगा। अगर आप अभ्यासी हैं तो एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने में आप इतने कुशल हो जाएँगे कि बीच के अन्तराल का आपको पता ही नहीं चलेगा। इसलिए अभ्यासियों को अनशन से कोई लाभ नहीं होता। हम रोज स्थिति बदलते हैं लेकिन अभ्यास के कारण अन्तराल का पता नहीं चलता।

(६) अनशन का प्रयोग संक्रमणकालीन यन्त्र में प्रवेश का प्रयोग है। इस तरह के अनेक प्रयोग हैं जिनसे मध्य के गैप का, अन्तराल का बोध होना है। सूफियों ने अनशन का उपयोग नहीं किया है, उन्होंने जागने का उपयोग किया है। प्रयोग अलग हैं किन्तु परिणाम एक ही है। उन्होंने कहा है, सोना मत, जागे रहना। इतना जागे रहना कि जब नींद आए तब नींद में मत जाना—जागे ही रहना। अगर जागने की चेष्टा उस समय भी जारी ही रही जब जागने का यन्त्र बिलकुल थक गया, तब आप एक क्षण के लिए उस दिशा में पहुँच जाएँगे जब जागना भी न रहा और नींद भी न रही—तब आप बीच के अन्तराल में उतर आएँगे। इसलिए सूफियों ने रात्रि-जागरण को बड़ा महत्त्व दिया है। महावीर ने उसी प्रयोग को अनशन के द्वारा किया है।

तन्त्र के एक अद्भुत ग्रन्थ 'विज्ञान भैरव' में शंकर ने पार्वती से ऐसे सैकड़ों प्रयोग कहे हैं। हर प्रयोग दो पंक्तियों का है। हर प्रयोग का परिणाम वही है कि बीच का गैप आ जाए। शंकर कहते हैं—साँस भीतर जाती है और बाहर आती है। पार्वती तू दोनों के बीच में ठहर जाना तो तू स्वयं को जान लेगी। वहाँ ठहर जाना जहाँ न प्रेम होता है और न घृणा ही। दोनों के बीच में ठहर जाने पर तू स्वयं को उपलब्ध हो जायगी। अनशन उसी का एक व्यवस्थित प्रयोग है।

(७) महावीर ने अनशन क्या चुना? इसलिए कि साँसों के बीच ठहरना कठिन है लेकिन भोजन और अनशन के बीच ठहरना अपेक्षाकृत अधिक आसान है। साँस नान-वॉलन्टरी है वह आपकी इच्छा से नहीं चलती। लेकिन भोजन करना 'वॉलन्टरी' कृत्य है। सूफियों ने नींद चुनी है वह भी कठिन है, क्योंकि नींद भी 'नान-वॉलन्टरी' है आप अपनी कोशिश से उसे नहीं बुला सकते। जब वह नहीं आती तो सारे उपाय करो वह नहीं आ सकती। महावीर ने बहुत सरल सा प्रयोग चुना है जिसे बहुत लोग कर सकें। इसमें एक तो सुविधा यह है कि ९० दिनों तक हम भोजन न भी करें तो कोई खतरा नहीं है। अगर ९० दिनों तक बिना सोए रहना पड़े तो हम पागल हो जाएँगे। आज मास्को के अनुयायी चीन में जो सबसे बड़ी पीड़ा दे रहे हैं वह यह है कि वे अपने विरोधियों को सोने न देंगे। भूखे रखकर ज्यादा

परेशान नही कर सकते, क्योकि सात-आठ दिनो के वाद भूख वन्द हो जाती है, शरीर दूसरे यत्र पर चला जाता है—वह भीतर से भोजन पाने लगता है।

मनुष्य के हाथ मे दो यत्रो के वीच मे ठहर जाने का जो सर्वाधिक सुविधापूर्ण और सरलतम प्रयोग है, वह है अनशन। लेकिन अगर आप अभ्यास कर ले तो फिर कोई अर्थ नही रह जाएगा। यह प्रयोग आकस्मिक है। अचानक आपने भोजन नही लिया और जव आपने भोजन नही लिया तव न तो ध्यान रखे भोजन का, न उपवास का, वस, ध्यान रखें उस मध्यम विन्दु का कि वह कव आता है—आँखें वद कर ले और भीतर ध्यान रखे कि शरीर का यत्र कव स्थिति वदलता है। तीन दिन मे, चार दिन मे, पाँच दिन मे, सात दिन मे। कभी तो स्थिति वदल ही जाएगी। और जव स्थिति वदलती है तव आप विलकुल दूसरे लोक मे प्रवेश करते हैं। आपको पहली दफा यह पता चलता है कि आप शरीर नही हैं। न तो वह शरीर जो अव तक काम कर रहा था और न यह जो अव काम कर रहा है। दोनो के वीच मे एक क्षण का यह वोध भी कि मैं शरीर नही हूँ, मनुष्य के जीवन मे अमृत का द्वार खोल देता है।

(८-९) लेकिन महावीर के पीछे जो परम्परा चल पड़ी है, वह अनशन का अभ्यास कर रही है। जो जितना अभ्यासी है उसे उतना ही अधा समझिए। अभ्यास अधा कर देता है।

भोजन और अनशन के वीच जो सक्रमण है, ट्राजिशन है, वह वहुत सूक्ष्म और वारीक है, वहुत नाजुक है। जरा से अभ्यास से आप उसको चूक जाएँगे। इसलिए अनशन का भूलकर अभ्यास न करे। कभी अचानक उसका प्रयोग वहुत कीमती सिद्ध होगा।

(१०) महावीर जानते है—और जिन्होने भी इस दिशा मे प्रयोग किया है वे जानते है—कि इस शरीर से आपका जो सम्वन्ध है, वह भोजन के द्वारा है। इस शरीर और आपके वीच जो सेतु है, वह भोजन है। अगर आपको यह जानना है कि मैं यह शरीर नही हूँ तो उस क्षण मे जानना आसान होगा जव आपके शरीर मे भोजन विलकुल नही है। जव जोडनेवाली कडी विलकुल नही है तभी यह जानना आसान होगा कि मैं शरीर नही हूँ। भोजन ही सयोजक कड़ी है, वही जोडता है, इसलिए भोजन के अभाव मे ९० दिन वाद सम्वन्ध टूट जाएगा, आत्मा अलग हो जाएगी, शरीर अलग हो जाएगा। तो महावीर कहते है कि जव तक शरीर मे भोजन पडा है, तव तक जोड है। उस स्थिति मे अपने को ले जाओ, जव शरीर मे विलकुल भोजन नही हो। तभी तुम आसानी से जान सकोगे कि तुम शरीर से अलग हो, पृथक् हो। तभी तादात्म्य टूट सकेगा।

(११-१२) याद रहे कि शरीर मे जितना ज्यादा भोजन होता है, उतना ही ज्यादा शरीर के साथ तादात्म्य भी होता है। इसलिए भोजन के वाद नीद तत्काल

आनी शुरू हो जाती है। शरीर के साथ तादात्म्य बढ जाता है तो मूर्छा बढ जाती है, शरीर के साथ तादात्म्य टूट जाता है तो होश बढता है। महावीर का सारा का सारा प्रयोग जागरण अमूर्छा और 'अवेयरनेस' का है। महावीर कहते हैं कि चूंकि भोजन मूर्छा को बढाता है, तन्द्रा पैदा करता है इसलिए यदि भोजन न लिया गया हो तो इससे उल्टा परिणाम होता है, होश बढेगा, जागरण बढेगा।

(१३) महावीर ने यह अनुभव किया कि जब शरीर में भोजन बिल्कुल नहीं होता तो प्रज्ञा अपनी पूरी शुद्ध अवस्था में होती है क्योंकि तब सारे शरीर की ऊर्जा मस्तिष्क को मिल जाती है। पेट के लिए पचाने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। महावीर कहते थे भोजन बिल्कुल बन्द हो, शरीर की सारी क्रियाएँ बन्द हों, शरीर किसी मूर्ति की तरह ठहरा रह जाए, हाथ भी न हिले उँगलियाँ भी व्यर्थ न हिलें, सब क्रिया 'मिनिमम' पर आ जाए तो शरीर की पूरी ऊर्जा जो अलग अलग बँटी है, मस्तिष्क को उपलब्ध हो जाती है और मस्तिष्क पहली दफे जागने में समर्थ होता है। अगर महावीर ने भोजन में भी शाकाहार को पसन्द किया, मांसाहार को नहीं तो यह सिर्फ अहिंसा के कारण नहीं। इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कारण दूसरा था और वह यह था कि मांसाहार पचने में ज्यादा शक्ति माँगता है और बुद्धि को मूर्छा करती है।

यदि अहिंसा अकेला कारण होता तो महावीर कह सकते थे कि मरे हुए जानवर लेने में कोई हर्ज नहीं है। बुद्ध ने तो आज्ञा दे दी थी कि मरे हुए जानवर का मांस खाया जा सकता है। लेकिन महावीर ने मरे हुए जानवरों का मांस खाने की भी आज्ञा नहीं दी, क्योंकि उनका प्रयोजन मात्र अहिंसा नहीं है। महावीर का गहरा प्रयोजन यह था कि मांस पचने में ज्यादा शक्ति मांगता है शरीर और पेट का ज्यादा महत्त्वपूर्ण कर जाता है। इससे मस्तिष्क की ऊर्जा क्षीण होती है और तन्द्रा गहरी होती है। यदि मस्तिष्क में ऊर्जा का प्रवाह बना रहे तभी आप जाग्रत रह सकते हैं। इसलिए इसे बाह्य तप कहा आन्तरिक तप नहीं। जो आदमी आन्तरिक तप को उपलब्ध हो जायगा वह नींद में भी जागा रहेगा।

तो महावीर ने कहा है कि यदि चेतना को जगाना है तो जब शरीर में भोजन नहीं है तभी यह आसानी से हो सकता है।

(१४) लेकिन बुद्धू लोग जब भोजन छोड़ते हैं तब उनकी चेतना नहीं बढ़ती केवल भोजन का चिंतन बढ जाता है। अकेला भोजन छोड़ देना पुण्य नहीं है। अगर आपने सोचा है कि सिर्फ भोजन छोड़ देना ही पुण्य है तो भोजन छोड़कर आप भोजन का चिंतन करते रहेंगे। ध्यान रहे कि भोजन के चिन्तन से भोजन ही बेहतर है। भोजन का चिंतन भोजन से बदतर है क्योंकि भोजन तो पेट करता है और चिंतन मस्तिष्क। मस्तिष्क का काम भोजन करना नहीं है। अच्छा होगा कि आप पेट

को ही अपना काम करने दे। अगर मस्तिष्क मे भोजन का चिन्तन न चले, तभी अनशन का कोई उपयोग है—यानी तब, जब भोजन भी नही और भोजन का चिन्तन भी नही।

क्या आपको पता है कि आपके चिन्तन के दो ही हिस्से हैं ? चाहे तो काम या भोजन ? गहरे मे तो स्वाद की वासना काम-वासना ही है, क्योकि भोजन के बिना काम-वासना सम्भव नही है। महावीर से पूछेंगे तो वे कहेगे कि जो आदमी भोजन के लिए बहुत आतुर होता है वह वस्तुत काम-वासना से भरा है। भोजन इसका लक्षण है, क्योकि भोजन काम-वासना की शक्ति को बढाता है। इसलिए महावीर कहेंगे कि जो भोजन के चिन्तन से भरा है वह काम-वासना से भरा है। भोजन की वासना के छूटते ही काम-वासना शिथिल होने लगती है।

(१५-१६) यह भी ध्यान रहे कि हमारे मन की गहरी से गहरी तरकीब परि-पूरक—'सब्स्टीट्यूट क्रिएशन'—पैदा करना है। अगर आपको भोजन नही मिलेगा तो आप मन ही मन भोजन का चिन्तन करने लगेगे और इस चिन्तन मे उतना ही रस लेने लगेगे जितना भोजन मे।

(१७) भोजन करते तो पन्द्रह मिनट में वह पूरा हो जाता। चिन्तन मे पन्द्रह मिनट से काम चलने को नही। पन्द्रह मिनट का काम पन्द्रह घटे करना पड़ेगा। चूँकि भोजन की शक्ति तो मिलेगी नही, इसलिए मन को चिन्तन मे ही उलझाए रखना पडेगा। इसलिए महावीर ने कहा है कि आप कोई काम शरीर से करते हैं या मन से, इसमे मैं भेद नही करता। आपने चोरी की या चोरी की बाबत सोचा, मेरे लिए दोनो बराबर है, दोनो पाप हैं। आपने हत्या की या हत्या के सम्बन्ध मे सोचा, दोनो समान है। अदालत फर्क करती है। अगर आप हत्या के सम्बन्ध मे केवल सोचे तो अदालत आपको सजा नही दे सकती। लेकिन महावीर कहते हैं कि धर्म भाव को भी पकडता है। आप धर्म की अदालत से बाहर नही हो सकते। भाव पर्याप्त हो गया। महावीर कहते हैं कि कृत्य तो भाव की बाह्य छाया मात्र है। मूल तो भाव ही है। अगर मैंने हत्या करनी चाही तो मैंने हत्या कर ही दी। अन्तत. आप भीतर तौले जाएँगे, आपकी परिस्थिति नही तौली जाएगी। अगर आपने भोजन का चिन्तन किया तो आपका उपवास नष्ट हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि आप तब तक उपवास न कर पाएँगे जब तक अपने चिन्तन पर आपका नियत्रण न हो। अभी तो हालत यह है कि आपका चिन्तन ही जो चलाना चाहता है, वही आपको चलाना पडता है, मन जहाँ ले जाता है, वही आपको जाना पड़ता है। आपके नौकर ही आपके मालिक हो गए हैं।

(१८) सभी इन्द्रियाँ आपकी नौकर है, लेकिन मालिक हो गई है। आपने कभी अपनी इन्द्रियो को कोई आज्ञा नही दी, उन्होने ही आपको आज्ञा दी है। तप का एक

अब आपको बताता हूँ। तप का अर्थ है—अपनी इन्द्रियों की मालकियत, उन्हें आज्ञा देना और उनसे आज्ञापालन करवाने का सामर्थ्य। पेट कहता है कि भूख लगी है लेकिन आप कहते हैं—भूख लगी है तो लगे, मैं आज भोजन देने को राजी नहीं हूँ और आप भोजन नहीं लेते और न भोजन का चिंतन करते हैं। जब आपका संकल्प इस अवस्था को पहुँच जाता है और आपमें अपनी इन्द्रियों पर शासन करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तब आप अनशन करने के योग्य हो जाते हैं। उपवास हो सकता है तभी जब चिंतन पर आपका वश हो। लेकिन चिंतन पर आपका कोई वश नहीं है। विचार की मालकियत का कोई प्रशिक्षण आपको नहीं दिया गया।

(१९) लेकिन अगर आप सुनिश्चित हैं और आपकी ना का मतलब नहीं और हाँ का मतलब हाँ होता है, और सच में होता है, तो इन्द्रियाँ इस बात को बहुत जल्दी समझ जाती हैं। वे जल्दी समझ जाती हैं कि आपकी ना का मतलब नहीं है और आपकी हाँ का मतलब हाँ है। इसलिए मैं कहता हूँ कि अगर आप संकल्प करें तो उसे कभी न तोड़ें। यदि तोड़ना ही हो तो कभी संकल्प न करें क्योंकि संकल्प करके तोड़ना आपको इतना दुर्बल कर जाता है जिसका कोई हिसाब नहीं है। आप अपनी ही आँखों में अपने ही सामने दीन हीन हो जाते हैं। इसलिए छोटे संकल्प से शुरू करें।

(२० २१) मेरे पास लोग आते हैं और कहते हैं कि कपड़े बदलने से क्या होगा, आत्मा बदलनी है। कपड़े बदलने की हिम्मत नहीं है और आत्मा बदलनी है! वे सोचते हैं कि यह दलील उनकी अपनी है पर यह दलील उनके कपड़े दे रहे हैं। जो भूखा नहीं रह सकता, वह कहता है कि अनशन से क्या होगा? भूखे मरने से क्या होगा? कुछ नहीं होगा। लेकिन मैं पूछता हूँ कि उपवास से कुछ भी न होगा तो क्या भोजन करने से हो जायगा? नग्न खड़े होने से नहीं होगा तो क्या कपड़े पहनने से हो जायगा?

(२२) महावीर निश्चित नहीं करते थे कि कब भोजन लेंगे। वे इस बात को नियति पर छोड़ देते थे। बहुत कठिन प्रयोग था यह। पृथ्वी पर ऐसा प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया। महावीर कहते थे कि भोजन मैं तब लूँगा जब मेरे संकल्प की घटना घटे (जैसे—जब मैं रास्ते पर निकलूँ तब किसी बैलगाड़ी के सामने कोई आदमी खड़ा होकर रोता रहे काले रंग का हो, उस आदमी की एक आँख फूटी हो और दूसरी आँख से आँसू टपकते हों)। और वह भी तब जब वहाँ कोई भोजन देने के लिए निमंत्रण दे, नहीं तो आगे बढ़ जाऊँगा। महावीर गाँवों में जाते और मन ही मन यह तय करके जाते कि कुछ विशेष संयोग होने पर ही भोजन लूँगा अन्यथा नहीं। यदि वह संयोग पूरा नहीं होता तो वे आनन्दित होकर वापस लौट आते। वे कहते कि जब नियति की ही इच्छा नहीं है तो हम क्या इच्छा करें! अब जागतिक शक्ति ही चाहती है कि आज मैं भोजन न लूँ तो बात खत्म हो गई! गाँव

मे अनेक लोग भोजन लेकर खड़े होते हैं और तरह-तरह के इन्तजाम करते हैं। परन्तु महावीर भोजन नही लेते। गाँव के लोग दिगम्बर मुनियो के लिए आज भी ऐसा ही करते हैं। फिर भी उनके सकल्प जाहिर हो जाते हैं और लोग वैसा ही प्रबध कर लेते है। दिगम्बर मुनि पहले ही कह देते हैं कि वे भोजन वहाँ करेंगे जहाँ किसी घर के सामने केले लटके हो। यह बात लोगो को मालूम हो जाती है और सब लोग अपने घर के सामने केले लटका लेते हैं। दिगम्बर मुनि सकल्प करते हैं कि वे तभी भोजन लेंगे जब कोई स्त्री सफेद साडी पहनकर भोजन के लिए आमन्त्रित करे। उनका सकल्प प्रकट कर दिया जाता है और स्त्रियां सफेद साडी पहनकर उन्हें आमंत्रित कर लेती है। इसलिए अब जैन मुनि कभी बिना भोजन लिये नही लौटते।

महावीर की प्रक्रिया कुछ और थी। वे किसी से कुछ कहते नही थे। मन-ही-मन सकल्प कर लेते थे कि जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी और जब नियति को मजूर होगा तभी मैं भोजन लूंगा। कभी-कभी तीन-तीन महीने उन्हे भोजन लिये बिना ही गाँव से लौट जाना पडता। जब मन के लिए कोई सीमा नही होती तो मन को तोडना बहुत आसान हो जाता है। इसके विपरीत, जब मन के लिए सीमा होती है तो उसे बचाना बहुत सरल होता है। यदि सीमा है तो लगता है कि एक ही घटे की बात है, निकाल देंगे, चौबीस घटे की बात है, गुजार देंगे। लेकिन महावीर का जो अनशन था, उसकी कोई सीमा न थी। वह कब पूरा होगा कि न होगा, या वह जीवन का अन्तिम अनशन होगा—भोजन उसके बाद कभी न होगा—इसका कुछ पक्का पता नही होता।

स्पष्ट है कि महावीर ने उपवास और अनशन पर जैसे गहरे प्रयोग किए, वैसे गहरे प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति ने इस पृथ्वी पर नही किए। मगर आश्चर्य है कि इतने कठिन प्रयोग करने पर भी महावीर को कभी-कभी भोजन मिल ही जाता था। उन्हे बारह वर्षों मे ३६४ बार भोजन मिला। कभी पन्द्रह दिन बाद, कभी दो महीने बाद, कभी तीन महीने बाद। इसलिए महावीर कहते थे कि जो मिलनेवाला है, वह मिल ही जाता है। उसका त्याग भी कैसे किया जा सकता है? त्याग तो उसी का किया जा सकता है जो नही मिलनेवाला होता है। महावीर कहते थे कि जो नियति से मिला है, उसका कोई भी सम्बन्ध मुझसे नही है, क्योकि मैंने किसी से माँगा नही, मैंने किसी से कुछ कहा नही · छोड दिया अनन्त के ऊपर कि यदि जगत् को मुझे चलाने की कोई जरूरत होगी तो वह मुझे और चला देगा, यदि जरूरत न होगी तो बात खत्म हो जाएगी। मेरी अपनी कोई जरूरत नही है।

(२३) ध्यान रहे कि **महावीर की सारी प्रक्रिया जीवेषणा छोड़ने की प्रकिया है।** महावीर कहते है कि मैं जीवित रहने के लिए कोई एषणा नही करता। अगर इस अस्तित्व को ही—इस होने को ही—मेरी कोई जरूरत हो तो वह स्वय इसका इन्त-

जाम पर। मुझे कोई जरूरत नहीं। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि इन शर्तों के बावजूद महावीर चालीस वर्ष जिए। वे स्वस्थ रहे और आनन्द से जिए। भूख ने उन्हें मार न डाला। नियति पर स्वयं को छोड़ देने में वे दीन-हीन न हो गए। जिजीविषा को हटा देने से मौत नहीं आ गई।

हमारी यह धारणा कि हम अपने को जिला रहे हैं, केवल विक्षिप्तता है, हमारा यह खयाल कि जब तक हम नहीं मरते तब तक हम मर कैसे सकते हैं, मात्र नासमझी है। बहुत कुछ हमारे हाथ के बाहर है। जो हमारे हाथ के बाहर है उसे हाथ के भीतर समझने से ही अहंकार का जन्म होता है। जो हमारे हाथ के बाहर है उसे हाथ के बाहर ही समझने से अहंकार विसर्जित होता है।

(२८) महावीर न तो अपना भोजन पैदा करते थे और न अपनी ओर से स्नान ही करते थे। वर्षा का पानी उन्हें जितना धुला देता, धुला देता। लेकिन बड़ी मजेदार बात तो यह है कि महावीर के शरीर से कभी पसीने की दुर्गन्ध नहीं आती थी। आपने कभी खयाल किया कि सबका पशु-पक्षी हैं जो कभी स्नान नहीं करते? उनके लिए वर्षा का पानी ही काफी है। उनके शरीर से दुर्गन्ध नहीं आती। आदमी ही अकेला जानवर है जो बहुत दुर्गन्ध देता है, जिसे डियाडरण्ट की जरूरत पड़ती है। रोज सुगन्ध छिड़को, साबुन से नहाओ, सब तरह के इन्तजाम करो ताकि शरीर से दुर्गन्ध न आए। महावीर के जो बहुत निकट थे वे यह देखकर बहुत चकित थे कि उनके शरीर से दुर्गन्ध नहीं आती। असल में महावीर वैसे ही जीते थे जैसे पशु-पक्षी जीते हैं। उन्होंने प्रकृति पर, नियति पर, अपने को छोड़ दिया था। अनन्त सत्ता की मर्जी पर अपने को पूर्णतया निछावर कर दिया था। असल में राजी होने से एक नई तरह की सुगन्ध जीवन में आनी शुरू हो जाती है। जब हम प्रकृति पर अपने को छोड़ देते हैं उसकी दी हुई सभी चीज, चाहे वह पसीना हो या दुर्गन्ध स्वीकार कर लेते हैं तो एक अनूठी सुगन्ध से जीवन भरने लगता है। सब दुर्गन्ध प्रकृति के अस्वीकार की दुर्गन्ध है, सब कुरूपता नियति के अस्वीकार की कुरूपता है। स्वीकार के साथ ही एक अनूठा सौन्दर्य आ जाता है, एक अनूठा सुगन्ध से जीवन भर जाता है। महावीर ने समस्त पर अपने को छोड़ दिया था। जब बादल बरसे तब स्नान हो गया। स्नान करना तो सिर्फ प्रतीक है। बात कुल इतनी है कि महावीर ने छोड़ दिया है स्वयं को नियति पर। वे नियति से, समस्त से माना रहे हैं—जो करना हो कर, मैं राजी हूँ। यह राजी होना अहिंसा है। और इस राजी होने के लिए ही उन्होंने अनशन को प्राथमिक सूत्र कहा है क्योंकि जब तक आपकी इन्द्रियाँ आपसे राजी नहीं हैं तब तक आप प्रकृति से राजी कैसे होंगे?

आपकी इन्द्रियाँ ही आपसे राजी नहीं हैं। पेट कहता है भूख दो, शरीर कहता

है कपडे दो, पीठ कहता है विश्राम चाहिए। आपकी समस्त इन्द्रियो ने आपसे बगावत कर रखा है। वे कहती हैं—यह दो, वह लाओ, नही तो तुम्हारी जिन्दगी बेकार है, अकारथ है, तुम बेकार जी रहे हो। इतने छोटे-से शरीर मे जब इतनी छोटी-छोटी इन्द्रियाँ आपसे राजी नही हो पाती तो इस विराट शरीर से—ब्रह्माड से—आप कैसे राजी हो पाएँगे ? फिर, जब तक आपका ध्यान इन्द्रियो मे ही उलझा रहेगा तब तक वह उस विराट पर जायगा भी कैसे ? वह यही छुद्र मे अटका रह जायगा। महावीर कहते हैं—पहले इन्द्रियो को अपने से राजी करो। अनशन का यही अर्थ है कि पेट को अपने से राजी करो, तुम पेट से राजी मत हो जाओ। भली-भाँति जानो कि पेट तुम्हारे लिए है, तुम पेट के लिए नही हो। (२५) अनशन का अर्थ यही है कि हम इन्द्रियो को ऊपर बुलाएँ, उनके साथ कभी नीचे नही जाएँ।



एकादश अध्याय

ऊणोदरी आदि शेष बाह्य तप

ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे, इंदियाण य जुंजणे ॥[1]

—उत्त० अ० २४, गा० २८

अनशन के बाद महावीर ने दूसरा बाह्य तप ऊणोदरी कहा है। ऊणोदरी का अर्थ है अपूर्ण भोजन, अपूर्ण आहार। महावीर ने अनशन के बाद ऊणोदरी को क्यों रखा? आम तौर से जो लोग अनशन का अभ्यास करते हैं, वे पहले ऊणोदरी का अभ्यास करते हैं, वे पहले आहार को कम करने की कोशिश करते हैं। जब कम आहार की आदत हो जाती है तब वे अनशन का प्रयोग शुरू करते हैं। यह बिल्कुल ही गलत है। महावीर ने जान-बूझकर पहले अनशन कहा और फिर ऊणोदरी की चर्चा की। ऊणोदरी का अभ्यास आसान है लेकिन एक बार ऊणोदरी का अभ्यास हो जाए तो उस अभ्यास के बाद अनशन का कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं रह जाता।

ऊणोदरी का अर्थ सिर्फ इतना ही होता है कि पेट जितना माँगे उसे उतना नहीं देना। इसलिए ऊणोदरी बहुत कठिन है। कठिन इस लिहाज से है कि आपको पहले से यही पता नहीं कि स्वाभाविक भूख कितनी है। इसलिए आपको पहले अपनी स्वाभाविक भूख खोजनी पड़ेगी। इसलिए अनशन को पहले रखा गया है। अनशन आपकी स्वाभाविक भूख[2] को खोजने में सहयोगी होगा। जब आप बिल्कुल भूखे रहेंगे और भूखे रहने का संकल्प करेंगे, तब कुछ ही दिनों में पाएँगे कि आपकी आदत की भूख भूल गई। वह असली भूख न थी। अनशन को महावीर ने पहले लिया ताकि झूठी भूख मिट जाए, असली भूख का पता चल जाए और रोआँ रोआँ भोजन के लिए पुकारने लगे। (जीव विज्ञानी कहते हैं कि आदमी के भीतर एक जैविक घड़ी[3] ही नहीं, आदत की भी एक घड़ी[4] होती है। स्वाभाविक भूख तो

---

१ संयमी पुरुष खड़ा रहने में, बैठने में, सोने में, उल्लंघन प्रलंघन करने में तथा इन्द्रियों के प्रयोग में सदा काया का नियंत्रण करे।

२ दूसरी भूख आदत की होती है, यह आदत की घड़ी से चालित होती है।

३ बायोलॉजिकल क्लाक।

४ हैबिट क्लाक।

वहुत मुश्किल से लगती है, पर नियम से वँधी हुई भूख रोज लगती है। अनशन से स्वाभाविक भूख का पता चलता है और नियम से वँधी हुई भूख मिट जाती है।) अनशन आपके भीतर वास्तविक भूख को उघाडने मे सहयोगी होगा। जव वास्तविक भूख उघड आए तव, महावीर कहते है, उणोदरी मे आइए। जव वास्तविक उघड आए तो वास्तविक से भी कम लीजिए और अवास्तविक भूख को तो कभी पूरा कीजिए ही मत। यह (अवास्तविक भूख) खतरनाक है। वास्तविक भूख को पूरा करते समय थोडी जगह खाली रखिए।

एक सीमा तक ही हमारी भूख, हमारी वासनाएँ ऐच्छिक होती है। इस सीमा के वाद वे 'नान-वालटरी' हो जाती है। जिस सीमा के पार भूख अनैच्छिक हो जाए, उसी सीमा पर रुक जाना उणोदरी है। तीन रोटी की जगह ढाईरोटी खा लेने से ही उणोदरी नही हो जायगी। उणोदरी का अर्थ है इच्छा के भीतर रुक जाना, अपनी सामर्थ्य के भीतर रुक जाना। (अपनी सामर्थ्य के वाहर जाते ही आप गुलाम हो जाते है।) महावीर कहते है कि चरम पर पहुँचने के पहले रुक जाना। जव क्रोध मे किसी पर हाथ उठ जाए और उसके करीव पहुँच जाए, तव उसे रोक लेना। जहाँ मन सर्वाधिक जोर मारे, उसी सीमा से वापस लौट आना। स्मरण रहे कि कुछ न करना आसान है, लेकिन चरम सीमा से लौट आना वहुत मुश्किल। फिल्म न देखने मे उतनी अडचन नही है जितनी अडचन इस वात मे है कि उस समय उसे छोड दिया जाए जिस समय आपकी उत्सुकता चरम सीमा का स्पर्श करती रहे। किसी को प्रेम ही नही किया तो इसमे क्या अडचन हो सकती है? लेकिन प्रेम जव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हो तव उसके पहले ही वापस लौटना अत्यन्त कठिन है।

उणोदरी अनशन का ही उपयोग है, लेकिन थोड़ा कठिन है। आम तौर से आपने सुना होगा कि यह सरल प्रयोग है और यह भी कि जिससे अनशन न वने वह उणोदरी करे। मैं आपसे कहता हूँ, अनशन से उणोदरी कठिन प्रयोग है। जिससे अनशन वन सकता है, वही उणोदरी कर सकता है।

महावीर का तीसरा वाह्य तप है वृत्ति-सक्षेप। इसका परम्परागत अर्थ यह है कि अपनी वृत्तियो और वासनाओ को सिकोड लो—जहाँ दस कपड़ो से काम चल सकता है, वहाँ ग्यारह कपड़े न रखना, अगर एक वार भोजन से काम चल सकता है तो दो वार भोजन न करना। लेकिन महावीर का अर्थ गहरा है और परम्परागत अर्थ से भिन्न है। उनकी दृष्टि मे वृत्ति-सक्षेप एक प्रक्रिया है। आपके भीतर प्रत्येक वृत्ति का पृथक-पृथक केन्द्र है। सेक्स का एक निजी केन्द्र है, भूख का एक अलग केन्द्र। इसी प्रकार प्रेम का एक केन्द्र है और वुद्धि का एक केन्द्र। लेकिन साधारणत हमारे सारे केन्द्रो के कार्य मिश्रित हो गए है, 'कन्फ्यूज्ड' है, कारण कि एक केन्द्र का काम हम दूसरे केन्द्र से लेते रहते हैं, दूसरे का तीसरे से, तीसरे का चौथे से। इस प्रकार

काम नहीं हो पाता और केंद्र की शक्ति भी नष्ट होती है। गुर्जिएफ कहता था कि प्रत्येक केंद्र को उसके काम पर सीमित कर दो। महावीर के वृत्ति संक्षेप का यही अर्थ है। प्रत्येक वृत्ति को उसके केंद्र पर संक्षिप्त कर लो उसे कहीं और—अन्य केंद्रों के आसपास—मत भटकने दो। इससे व्यक्ति में एक सुघड़ता और स्पष्टता आती है और वह कुछ भी करने में समर्थ हो जाता है। उसकी प्रत्येक वृत्ति टोटल इंटेंसिटी में जीने लगती है। इसलिए वह व्यर्थ हो जाती है। याद रहे कि जिस वृत्ति को भी आप उसकी समग्रता में जीते हैं वह व्यर्थ हो जाती है। और आत्मदर्शन के पूर्व वृत्तियों का व्यर्थ हो जाना जरूरी है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि साधारणतः हमारी सारी वृत्तियाँ बुद्धि या मन को घेर रहती हैं, क्योंकि हम मन से ही सारा काम करते हैं। भोजन भी मन से करना पड़ता है, संभोग भी मन से करना पड़ता है, कपड़े भी मन से पहनने पड़ते हैं। इसी कारण बेचारी बुद्धि निर्बल और निर्वीर्य हो जाती है, दुनिया में बुद्धिहीनता फैलती है।

वृत्ति-संक्षेप पर महावीर ने दो कारणों से बल दिया है। एक तो जो वृत्ति अपने केन्द्र पर संगृहीत या एकाग्र हो जाती है आपको उस वृत्ति के वास्तविक अनुभव मिलने शुरू हो जाते हैं। दूसरा यह कि वास्तविक अनुभव से मुक्त हो जाना बहुत आसान है क्योंकि वास्तविक अनुभव बहुत दुखद है। स्त्री की कल्पना से मुक्त होना बहुत कठिन है स्त्री से मुक्त हो जाना बहुत आसान। धन की कल्पना से मुक्त हो जाना बहुत कठिन है, धन के ढेर से मुक्त हो जाना बहुत सरल। कल्पना से मुक्त होना है क्योंकि कल्पना कहीं ठहरने नहीं देती, वह बहती बहाती चली जाती है। कहीं अंत ही नहीं आता। बुद्धि का निजी काम है ध्यान। जब बुद्धि अपने मन में ठहरती है, अपने में रुकती है तब बुद्धिमत्ता आती है। लेकिन हमने इस सब तरह से बोझिल कर रखा है। वह अपना काम कब करे? इसीलिए हम बुद्धिमत्ता का कोई काम जीवन में नहीं कर पाते। इससे केवल साधन का ही काम लेते रहे हैं—कभी धन कमाने का काम कभी शादी करने का काम कभी रेडियो सुनने का काम। लेकिन बुद्धि की बुद्धिमत्ता पनपने नहीं देते। इसलिए महावीर ने कहा है कि प्रत्येक वृत्ति को उसके अपने केन्द्र पर संक्षिप्त करो। उसे फैलने मत दो। भूख लगे तो पेट से लगने दो बुद्धि से नहीं। बुद्धि को कह दो कि तू चुप रह इसकी फिक्र छोड़ दे कि कितना खाना है पेट खबर देगा कि भूख लगी है तब हम सुन लेंगे। इसी प्रकार नींद के यंत्र को अपना काम करने दो काम-वासना के यंत्र को अपना काम करने दो। तब तुम्हें धन की दौड़ छोड़नी नहीं पड़ेगी। तुम अचानक पाओगे कि जो जो व्यर्थ था वह छूट गया। तुम्हें बड़ा मकान बनाने का पागलपन छोड़ना नहीं पड़ेगा, तुम्हें दिख जायगा कि कितना बड़ा मकान तुम्हारे लिए जरूरी है।

दूसरा अर्थ यह नहीं कि अगर आप सब छोड़कर भाग जाएँ तो आप बदल

जाएँगे। यह जरूरी नही है। अगर चीजो को त्यागने से आप बदल सके तो चीजें बहुत कीमती हो जाती हैं। अगर चीजो को छोडने से मुझे मोक्ष मिलता है तो ठीक है, मोक्ष का भी सौदा हो जाता है। चीजो की ही कीमत चुकाकर मोक्ष मिल जाता है। महावीर वस्तुओ को मूल्य नही दे सकते। इसलिए मै कहता हूँ कि उनकी दृष्टि मे वस्तुओ के त्याग का नाम वृत्ति-सक्षेप नही है। कुछ लोग परेशानी को ही तप समझ लेते है। जो परेशानी को तप समझ लेते है उनकी नासमझी का कोई हिसाब नही है। तप से ज्यादा आनन्द की कल्पना नही की जा सकती। तपस्वी के आनन्द का कोई अन्त नही होता। जिस दिन आपकी सारी शक्ति वृत्तियो से मुक्त होकर वुद्धि को मिल जाती है, उसी दिन आप मुक्त हो जाते है। जिस दिन समस्त शक्तियाँ वुद्धि की तरफ उसी तरह प्रवाहित होने लगती है जिस तरह नदियाँ सागर की तरफ प्रवाहित होती है, उसी दिन वुद्धि का महासागर आपके भीतर फलित होता है। उस महासागर का आनन्द, उस महासागर की प्रतीति और अनुभूति दुख की नही, परेशानी की नही, परम आनन्द की है। वह परम प्रफुल्लता की अनुभूति है, किसी फूल के खिल जाने-जैसी या किसी मृतक मे जीवन आ जाने-जैसी।

वाह्य तप का चौथा चरण है 'रस-परित्याग'। रस-परित्याग किन्ही रसो या स्वादो का निषेध नही है। वस्तुत साधना के जगत् मे स्थूल से स्थूल दिखाई पडनेवाली वात भी स्थूल नही होती। चूँकि सूक्ष्म के लिए कोई शब्द नही होता, इसलिए स्थूल शब्दो का प्रयोग करना पडता है। वाह्य-जगत् के शब्दो का प्रयोग करना मजबूरी है।

रस की पूरी प्रक्रिया क्या है? स्वाद आपकी जिह्वा मे होता है या आपके मन मे? स्वाद कहाँ है? रस कहाँ है? यह जान ले, तभी रस-परित्याग का अर्थ खयाल मे आ सकेगा। जो स्थूल मे देखते है, उन्हे लगता है कि स्वाद या रस वस्तु मे होता है, इसलिए वस्तु को छोड देना ही उनकी दृष्टि मे रस-परित्याग है। वस्तुत. वस्तु मे स्वाद नही होता। वस्तु केवल निमित्त वनती है। अगर भीतर रस की पूरी प्रक्रिया काम न कर रही हो तो वस्तु निमित्त वनने मे भी असमर्थ होती है। जैसे—यदि आपको फाँसी की सजा दी जा रही हो और उसी समय खाने को मिष्ठान्न, तो वह मिष्ठान्न आपको मीठा नही लगेगा, यद्यपि वह अभी भी मीठा ही है। पर जो मीठे को भोग सकता है, वह विलकुल अनुपस्थित हो गया है। स्वाद-यत्र के सवेदनशील तत्त्व अव भी भीतर खवर पहुँचाएँगे कि मिठाई मुँह पर है, जीभ पर है, लेकिन मन उस खवर को लेने की तैयारी नही दिखाएगा। हो सकता है कि मन उस खवर को ले ले, फिर भी मन के पीछे जो चेतना है उसके और मन के वीच का सेतु टूट गया है, सम्वन्ध टूट गया है। मृत्यु के क्षण मे वह सम्वन्ध नही रह जाता। आपके व्यक्तित्व को वदलने के लिए चिकित्सक शॉक-ट्रीटमेट का उपयोग करते रहे है। शॉक-

दृष्टिमट का कुल इतना ही अर्थ है कि आपकी चेतना और आपके मन का सेतु क्षण भर को टूट जाए।

वस्तु में रस नहीं होता, सिर्फ रस का निमित्त होता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि किसी वस्तु में कोई रंग भी नहीं होता, वस्तु केवल निमित्त होती है किसी रंग को आपके भीतर पैदा करने के लिए। जब आप नहीं होते, जब कोई देखनेवाला नहीं होता तब वस्तु रंगहीन हो जाती है। इसी प्रकार इस बात को खयाल में ले लें कि हमारे सब रस वस्तुओं और हमारी जीभ के बीच सम्बन्ध हैं। लेकिन बात इतनी ही नहीं है। यदि रस वस्तुओं और जीभ के बीच सम्बन्ध-मात्र है तो रस-त्याग बहुत सरल हो जाता है। आप अपनी जीभ को संवेदनहीन कर लें या वस्तु का त्याग कर दें तो रस नष्ट हो जायगा। क्या इसे ही रस-त्याग कहेंगे? साधारणत महावीर की परम्परा में चलनेवाले साधु तो यही करते हैं। वे वस्तु को छोड देते हैं और सोचते हैं कि रस से मुक्ति हो गई। लेकिन रस से मुक्ति नहीं हुई। वस्तु में अभी भी उतना ही रस है और जीभ में अभी भी उतनी ही संवेदनशीलता। महावीर ने रस को अप्रकट करने की सलाह नहीं दी है। रस-परित्याग करने को कहा है। अक्सर तो बात ऐसा होती है कि जो छिप जाता है, वह छिपकर और भी प्रबल तथा सशक्त हो जाता है।

मन को मार डालने से रस-त्याग नहीं हो सकता। हम सोचते हैं कि मन को दबा-दबाकर मार डालना सम्भव है। लेकिन मन का नियम यह है कि जिस बात को हम मन से नष्ट करना चाहते हैं मन उसी बात में ज्यादा रसपूर्ण हो जाता है। अगर आपको कोई समझाए कि मर जाओ तो जीने का मन पैदा होता है। मन विपरीत में रस लेता है। इसलिए मन को मारने से रस परित्याग नहीं हो सकता और न वस्तुओं को छोडने से ही यह सम्भव है। हम सभी तो मन से लडते हैं, लेकिन हमने कौन से रस का परित्याग किया है? मात्राओं के भेद भले हों। लेकिन हैं हम सभी मन से लडनेवाले। लेकिन कभी इस लडाई से कोई फर्क नहीं पडता।

इसलिए महावीर मन से लडने को नहीं कहते। जो भी मन से लडने में लगेगा, वह रस को जगाने में लगेगा।

रस-परित्याग अथवा रस विसर्जन का सूत्र है कि चेतना और मन का सम्बन्ध टूट जाए। यह सम्बन्ध कैसे टूटेगा? जब तक मैं यह सोचता हूँ कि मैं मन हूँ तब तक यह सम्बन्ध कायम रहेगा। इस सम्बन्ध के टूट जाने का अर्थ है यह जानना कि मैं मन नहीं हूँ। इससे रस छिन्न भिन्न हो जाता है, खो जाता है। रस-परित्याग की प्रक्रिया है—मन के प्रति साक्षी भाव। जब आप भोजन कर रहे हैं तब मैं यह नहीं कहूँगा कि आप भोजन न करें, यह रसपूर्ण है। मैं आपसे यह भी नहीं कहूँगा कि आप अपनी जीभ को जला लें क्योंकि जीभ रस लेती है। मैं आपसे कहूँगा कि आप भोजन करें, जीभ को स्वाद लेने दें, मन को पूरा विश्राम होने दें कि यह बहुत

स्वादिष्ट है। सिर्फ भीतर इस सारी प्रक्रिया के साक्षी बनकर खडे रहे। देखते रहें यह मानकर कि मै सिर्फ देखनेवाला हूँ, मै द्रष्टा हूँ, साक्षी हूँ। इससे रस का आकर्षण खो जायगा पर इन्द्रियाँ वही रहेगी, उन्हे नष्ट करना नही पडेगा। जब क्रोध आए तब कहिए कि क्रोध आया, मैं इसे देखता हूँ। जब क्रोध आए तब रस-परित्याग की साधना करनेवाला व्यक्ति कहेगा कि क्रोध आ रहा है, क्रोध जल रहा है लेकिन मैं देख रहा हूँ।

लेकिन साक्षी होना भी बाह्य तप है। अगर मै साक्षी हो रहा हूँ तो भी बाहर का हो रहा हूँ, वस्तुओ, इन्द्रियो और मन का हो रहा हूँ। ये सब पराए है। ध्यान रहे, महावीर कहते है कि साक्षी होना भी बाहर है। इसलिए जब कोई केवली होता है तब वह साक्षी भी नही होता। किसका साक्षी होना है ! साक्षी मे भी द्वैत है, कोई है जिसका मैं साक्षी हूँ। जब तक मै ज्ञाता होता हूँ तब तक कोई ज्ञेय मौजूद होता है। इसलिए केवली ज्ञाता भी नही होता, वह ज्ञान-मात्र रह जाता है।

रस-परित्याग के बाद काया-क्लेश और सलीनता नामक बाह्य तपो का स्थान है।

महावीर के साधना-सूत्रो मे काया-क्लेश को सबसे ज्यादा गलत समझा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि काया-क्लेश का साधक शरीर को नष्ट करता है, काया को क्लेश देता है, काया को सताता है। लेकिन महावीर किसी भी सतानेवाली बात मे गवाह नही हो सकते, कारण कि सब तरह का सताना हिंसा है। अपने शरीर को सताना भी हिंसा है। फिर भी महावीर की परम्परा ने ऐसा ही समझा कि काया को सताओ और इस तरह आत्मपीडको का एक बडा दल उनकी धारा मे सम्मिलित हो गया।

महावीर यह नही कहते कि तुम अपनी काया को सताओ। उसे सताने की जरूरत नही है। काया खुद ही इतना सताती है कि अब तुम उसे क्या सताओगे ? काया के अपने ही दुख पर्याप्त है, इसलिए और दुख इजाद करने की जरूरत नही। लेकिन काया के दुख पता न चले, इसलिए हम सुख ईजाद करते है, सुखका आयोजन करते है। आज नही मिला, कल मिलेगा, परसो मिलेगा। इस तरह आज के दुख को भुलाने के लिए हम कल के दुख का निर्माण करते रहते है। आज पर परदा पड जाए, इसलिए कल की तस्वीर बनाते है। इसलिए कोई आदमी वर्तमान मे जीना नही चाहता। महावीर जानते हैं कि जैसे ही साधना मे प्रवेश होगा, कल टूटने लगेगा, आज मे जीना होगा। और सारे दुख प्रगाढ होकर चुभेगे, सब ओर बुढापा और मौत दिखाई देगी। न नाव होगा, न सहारा और न किनारा। तब बडा क्लेश होगा। उस क्लेश को सहना और स्वीकार करना—जानना कि यह जीवन की नियति है, जानना कि यह प्रकृति का स्वभाव है। काया-क्लेश का अर्थ है कि जो आए, उसे स्वीकार करना। उससे बचने की कोशिश भविष्य के स्वप्न मे ले जाती है। उसके विपरीत सुख बनाने

की चिन्ता म मत पडना। ध्यान रह कि इस जगत म जिसे मुक्त होना है उस दुख से ही मुक्त होना है। सुख है ही नहीं उससे मुक्त क्या होइएगा ? वह भ्रम ह। दुख से मुक्त होना होता है और दुख से मुक्ति दुख को स्वीकृति मे छिपी है, उसके समग्र स्वीकार म निहित है। काया दुख है, इसके समग्र स्वीकार को ही काया-क्लेश कहते ह। काया क्लेश का अथ है कि स्वीकार कर लो दुख को। इतना स्वीकार कर लो कि तुम्हें क्लेश का बोध ही मिट जाए। क्लेश का बोध उसी दिन मिट जाएगा जिस दिन पूर्ण स्वीकृति होगी। इसलिए महावीर सब दुखो के बीच आनन्द से भरे घूमते रहते हैं। काया-क्लेश की स्वीकृति इतनी गहन हो गई है कि उन्हें दुख का कोई पता भी नहीं चलता। काया-क्लेश की साधना शुरू होती है दुख के स्वीकार से पूर्ण होती है दुख के विसर्जन स। दुख वस्तुत विसर्जित नही हो जाता। जब तक जीवन है तब तक तो वह रहेगा ही, लेकिन जिस दिन स्वीकार पूरा हो जाता है उस दिन आपके लिए दुख नहीं रह जाता।

दुख की स्वीकृति द्वारा दुख से मुक्ति का उपाय करना ही काया-क्लेश की साधना है। काया को कष्ट देने की कोशिश काया-क्लेश की साधना नहीं कही जा सकती, क्योंकि जो व्यक्ति काया को दुख देने म लगा है, वह किसी-न किसी सुख की आकाक्षा से प्रोत्साहित होता रहता है। जब तक हम कोई सुख के लिए प्रयत्न करते हैं तब तक हम सुख की ही आकाक्षा से करते हैं। हम अपने शरीर को भी सता सकते हैं सिर्फ इस उम्मीद मे कि हम मोक्ष मिलेगा, आत्मा मिलेगी। किन्तु महावीर की दृष्टि म किसी सुख के लिए शरीर को दुख देना काया क्लेश नही है।

बाह्य तप का अन्तिम सूत्र है सलीनता। सलीनता सेतु है बाह्य तप और अन्तर तप के बीच, यह सीमान्त है। वहीं स बाह्य तप समाप्त होते हैं और अन्तर तप का आरम्भ होता है। परम्परा के अनुसार अपने शरीर के अगो को व्यर्थ सचालित न करना सलीनता है। लेकिन बात इतनी ही नही है, बल्कि यह तो कुछ भी नहीं है। सलीनता तब घटित होती है जब भीतर सब शान्त हो जाता है जब भीतर स ऐसी कोई तरग नहीं आती जो शरीर पर कम्पन बने।

सलीनता के अभ्यास म जिनको उतरना हो उस पहले अपने शरीर की गति विधियो का निरीक्षण करना होता है। सलीनता का पहला प्रयोग है सम्यक निरीक्षण। जब आपका मन शान्त हो तब आईने के सामने खडे हो जाइए। जब कोई शान्त चित्त से अपने क्रोध का निरीक्षण करता है तो क्रोध विलीन हो जाता है, निरीक्षण से शान्ति और गहरी हो जाती है। क्रोध इसलिए विलीन हो जाता है कि क्रोध से आपका सम्बन्ध टूट जाता है। क्रोध स सम्बद्ध होने के लिए बेचैन होना जरूरी है किन्तु अध्ययन के लिए शान्त होना आवश्यक है। महावीर ने तल्लीनता का उपयोग नहीं किया है। तल्लीनता सदा दूसरे म लीन होने का नाम है और

मलीनता अपने मे लीन होने का पर्याय। महावीर कहते हैं: मलीन हो जाना, अपने मे लीन हो जाना ताकि दूसरा बचे ही नहीं। उनका एक बहुत प्यारा शब्द है आत्म-रमण—अर्थात् अपने मे ही रमना। महावीर के चित्र को देखें। ऐसा प्रतीत होगा कि वे एक ऐसे फूल है जिसकी पंखुड़ियाँ बन्द हो गई है। महावीर अपने भीतर है, जैसे फूल के भीतर कोई भँवरा बन्द हो गया हो। उनकी सारी चेतना मलीन हो गई है अपने मे।

द्वादश अध्याय

अतर्-तप

सरभसमारभे, आरभे तहेव य।
याय पवत्तमाण तु नियत्तिज्ज जय जई ॥[1]

—उत्त० अ० २४, गा० २५

तप के छ बाह्य अगो की चर्चा हो चुकी। अब आइए, हम छह अतर तपो की चर्चा करें। ये छ अतर् तप हैं (१) प्रायश्चित्त (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) कायोत्सग।

(१) प्रायश्चित्त, शब्दाशा के अनुसार, पश्चात्ताप का पयाय है। असर म प्रायश्चित्त का अथ यह नही है। पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त म उतना ही अन्तर है जितना जमीन और आसमान म। पश्चात्ताप का अथ है—जो आपने किया उसके लिए पछतावा। आपसे एक छोटी सी भूल हो गई थी, उसे आपने पश्चात्ताप करके पाट दिया। आप ह बहुत अच्छे आदमी। गाली आप दे नही सकते। किसी परिस्थिति मे गाली निकल गई होगी, इसलिए आप पछता लेत ह और फिर से अच्छे आदमी बन जात ह। पश्चात्ताप आपको बदलता नही, जो आप थे, आप वही रह जाते हैं। इसलिए पश्चात्ताप आपके अहकार को बचाने की प्रक्रिया है। आप रोज पश्चात्ताप करेंगे और आप रोज पाएँगे कि आप वही कर रहे हैं जिसके लिए आपने कल पश्चात्ताप किया था। पश्चात्ताप आपकी अतरात्मा मे कोई परिवतन नही लाता।

जब महावीर के पास कोई साधक आता तो वे उसे पिछले जन्मो के स्मरण म ले जाते, सिफ इसलिए कि उसे इस बात का पता चल जाए कि उसने कितनी बार एक ही भूल की है और उसके लिए पश्चात्ताप किया है। पश्चात्ताप कम के गलत होने के बोध से सम्बन्धित है, प्रायश्चित्त इस बोध से सम्बन्धित है कि मै गलत हू। पश्चात्ताप करनेवाला वही का वही बना रहता है, प्रायश्चित्त करनेवाले को अपनी जीवन चेतना रूपान्तरित कर देनी होती है। पश्चात्ताप तो जीवन का सहज क्रम है। हर आदमी पश्चात्ताप करता है इसलिए पश्चात्ताप को साधना बनाने की क्या जरूरत है? वस्तुत यह साधना नही केवल मन का नियम है।

---

१ सयमी पुरुष सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ म प्रवत्त होती काया को सावधानी से नियत्रण करे।

प्रायश्चित्त बहुत अद्भुत घटना है। पश्चात्ताप देख लेता है कि कर्म की कोई भूल है, प्रायश्चित्त देखता है कि मैं गलत हूँ, कर्म नही, क्योंकि कर्म क्या गलत होगा ? गलत आदमी से गलत कर्म निकलते है—कर्म कभी गलत नही होते। इसलिए पश्चात्ताप मे सजग हो। पश्चात्ताप आपको बदलेगा नही, बदलने का धोखा देगा। प्रायश्चित्त को महावीर ने अन्तर तप का पहला हिस्सा इसी कारण बताया कि वही व्यक्ति अन्तर्यात्रा पर निकल सकता है जो कर्म की गलती छोडकर स्वय की गलती देखना शुरू करे। देखिए, तीन तरह के लोग होते है। एक वे लोग है जो दूसरो की गलती देखते है, दूसरे वे है जो कर्म की गलती देखते है और तीसरे वे है जो स्वयं की गलती पर ही ध्यान देते है। जो दूसरो की गलती देखते है, वे तो पश्चात्ताप भी नही करते। जो कर्म की गलती देखते हैं, वे पश्चात्ताप करते है और जो स्वय की गलती देखते है, वे प्रायश्चित्त मे उतरते है। अन्तर्यात्रा के पथिक को यह समझ लेना होगा कि दूसरा कभी भी गलत नही होता। वह गलत होता है तो स्वय के लिए। आप गलत होते हैं स्वय के लिए। दूसरो के लिए आप गलत नही हो सकते। दूसरा गलत नही है, इस स्मरण से ही अन्तर्यात्रा शुरू होती है। दूसरा गलत है, यह दृष्टि ही गलत है। प्रायश्चित्त तब शुरू होता हे जब मैं मानता हूँ कि मैं गलत हूँ। सच तो यह हे कि जब तक मैं हूँ तब तक गलत होऊँगा ही। मेरा होना ही मेरी गलती है। जब तक मैं 'नही' न हो जाऊ, तब तक प्रायश्चित्त फलित नही होगा। और जिस दिन मैं नही हो जाता हूँ—शून्यवत् हो जाता हूँ—उसी दिन मेरी चेतना रूपान्तरित हो जाती है और नए लोक मे प्रवेश करती है।

प्रायश्चित्त जाग्रत चेतना का लक्षण है, पश्चात्ताप सोई हुई चेतना का लक्षण। प्रायश्चित्त मे वही उतर सकता है जो अपने को झकझोर कर पूछ सके कि इस जिन्दगी का मतलब क्या है ? यह सुबह से शाम तक का चक्कर, क्रोध और क्षमा का चक्कर, प्रेम और घृणा का चक्कर—यह सब क्या है ? धन, यश, अहकार, पद, मर्यादा—यह सब क्या है ? मैं कहता हूँ कि प्रायश्चित्त जागरण का सकल्प हैं, पश्चात्ताप नीद मे की गई गलतियो की क्षमा-याचना है। प्रायश्चित्त सोये व्यक्तित्व को जगाने का निर्णय है, इस बात का बोध हे कि मैने आज तक जो भी किया, वह गलत था, क्योकि मै गलत हूँ। अब मैं अपने को बदलता हूँ, कर्मो को नही। तथ्य की स्वीकृति प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त मे स्वीकार है, पूर्ण स्वीकार है।''कही कोई चुनाव नही। मैं चोर हूँ तो चोर हूँ, बेईमान हूँ तो बेईमान हूँ। इसलिए जहाँ पश्चात्ताप दूसरो के सामने प्रकट करना पडता है, वहाँ प्रायश्चित्त स्वय के समक्ष। और ध्यान रहे कि महावीर प्रायश्चित्त को इतना मूल्य दे पाए क्योकि उन्होने परमात्मा को कोई जगह नही दी, नही तो पश्चात्ताप ही रह जाता। तुम ही हो, और कोई नही। कोई आकाश मे सुननेवाला नही, जिससे तुम कहो कि मेरे पाप क्षमा कर देना।

कोई क्षमा करेगा नहीं, कोई है ही नहीं। इसलिए चिल्लाना मत। इस घोषणा से कुछ भी न होगा। दया की भिक्षा मत मांगना, क्योंकि कोई दया नहीं हो सकती। कोई दया करनेवाला नहीं है। इसलिए प्रायश्चित्त दूसरे के समक्ष नहीं, अपने ही समक्ष होता है।

महावीर पहले आदमी हैं इस पृथ्वी पर जिन्होंने कहा कि स्वर्ग और नर्क मनोदशाएं हैं, माइण्ड की स्टेटस हैं, चित्त दशाएं हैं। मोक्ष कोई स्थान नहीं है। इसलिए महावीर ने कहा है कि मोक्ष स्थान के बाहर है, वह सिर्फ एक अवस्था है। जहां हम खड़े हैं वहीं नर्क है। इस नर्क की प्रतीति जितनी स्पष्ट हो जाए, उतने ही आप प्रायश्चित्त में उतरेंगे। अगर आप प्रायश्चित्त नहीं कर सकते तो अन्तर तप में आपका प्रवेश नहीं हो सकता। यह निश्चित जानिए क्योंकि प्रायश्चित्त ही इस तप का द्वार है।

(२) विनय के पैदा होने की सम्भावना प्रायश्चित्त के बाद ही है, क्योंकि जब तक मन दूसरे के दोष देखता रहता है, तब तक विनय पैदा नहीं हो सकती। विनय तो तभी पैदा हो सकती है जब अहंकार दूसरों के दोष देखकर अपने को भरना बन्द कर दे। अहंकार का भोजन है दूसरों के दोष देखना। असल में दूसरों का दोष हम देखते ही इसलिए हैं कि दूसरा का दोष जितना ही दिखाई पड़ता है हम उतने ही निर्दोष मालूम पड़ते हैं। दूसरे की निन्दा में रस मालूम होता है। स्तुति में पीड़ा मालूम होती है। इसलिए अगर मजबूर होकर आपको किसी की स्तुति करनी पड़ती है तो आप बहुत शीघ्र कहीं जाकर उसकी निन्दा करके बैलेन्स बराबर कर लेते हैं। जब तक सन्तुलन न आ जाए तब तक आपके मन को चैन नहीं पड़ता। जब कोई किसी की हत्या भी कर देता है तब भी यह नहीं मानता कि मैं अपराधी हूँ। वह मानता है कि उस आदमी ने ऐसा काम ही किया था कि हत्या करनी पड़ी दोषी वही है मैं नहीं। मूल्यांकन दूसरे की तरफ तीर बनकर चलता है। वह कभी अपनी ही नहीं। जब अपनी नहीं होती तो विनय का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए महावीर ने प्रायश्चित्त को पहला अन्तर तप कहा और इस बात पर बल दिया कि पहले यह जान लेना जरूरी है कि न केवल मेरे कृत्य गलत हैं, बल्कि मैं भी—मैं ही—गलत हूँ। मेरा तीर सब बदल गए, रुख सब बदल गए। वे दूसरे की तरफ न जाकर अपनी तरफ मुड़ गए। ऐसी स्थिति में विनय को साधा जा सकता है।

महावीर ने विनय की जगह 'निर-अहंकारिता' नहीं कही। कहा विनय, क्योंकि निरहंकार नकारात्मक है और उसमें अहंकार की स्वीकृति है अहंकार को इनकार करने के लिए ही उसका स्वीकार है। विनय है 'पाजिटिव'। महावीर विधायक पर जोर दे रहे हैं कि आपके भीतर वह अवस्था जन्मे जिसमें दूसरा दोषी न जान पड़े।

आपके क्रोध को बाहर निकाल लेता है, बस! वह निमित्त बनता है। तो निमित्त पर इतना क्रोध क्यों? बाल्टी को भला गाली देंगे कि उसमें पानी है? पानी तो कुएँ से ही आता है, बाल्टी तो पानी को लेकर सिर्फ बाहर दिखा देती है। इसलिए विनयपूर्ण आदमी उसे धन्यवाद देगा जिसने गाली दी, क्योंकि अगर वह गाली न देता तो वह आदमी अपने भीतर के क्रोध के दर्शन न करता। गाली देनेवाला बाल्टी बन गया। उसने क्रोध को बाहर निकालकर उसके दर्शन करा दिए। इसीलिए कबीर ने कहा है—'निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।'

महावीर कहते हैं कि दूसरा अपने कर्मों की शृंखला में नया कर्म करता है, तुमसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इतना ही सम्बन्ध है कि तुम मौके पर उपस्थित थे और उसके भीतर विस्फोट के लिए निमित्त बने। इस बात को दूसरी तरह भी सोच लेना है कि तुम जब किसी के लिए विस्फोट करते हो तब वह भी निमित्त ही हैं। तुम भी अपनी शृंखला में जीते और चलते हो। यह न भूलो कि विनय बड़ी वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में दोष दूसरे में नहीं होता। दूसरा मेरे दुख का कारण नहीं है। दूसरा श्रेष्ठ अथवा अश्रेष्ठ नहीं है। दूसरे से मैं कोई तुलना नहीं करता। दूसरे पर मैं कोई शर्त नहीं बाँधता। मैं जीवन को बेशर्त सम्मान देता हूँ। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म में चल रहा है। अगर मुझसे कोई भूल होती है तो मैं उसे अपने भीतर अपने कर्मों की शृंखला में खोजूँ। अगर दूसरे से कोई भूल होती है तो यह उसका काम है, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। वही इसका फल पाएगा। यदि नहीं पाता तो यह भी उसकी ही बात है। यह मेरा काम नहीं है। महावीर इतना जरूर कहते हैं कि अगर कोई मेरी छाती में छुरा भोंकता है, तो इससे मेरा इतना सम्बन्ध हो सकता है कि अपनी पिछली यात्रा में मैंने यह तैयारी करवाई हो कि मेरी छाती में कोई छुरा भोंके। छुरे का मेरी छाती में जाना मेरे पिछले कर्मों की कुछ तैयारी होगी। बस, उससे मेरा इतना ही सम्बन्ध है। लेकिन उस आदमी के मेरी छाती में छुरा भोंकने से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। इससे उसकी अपनी अन्तर्यात्रा का सम्बन्ध है। हम सबके सब समानान्तर दौड़ रहे हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर से जी रहा है। इसलिए जब-जब हम अपने से दूसरे की धारा को जोड़ लेते हैं तब-तब कष्ट शुरू होता है और अविनय आकार ले लेती है।

विनय केवल इस बात की सूचना है कि अब मैं अपने से किसी को जोड़ता नहीं। इसलिए महावीर ने विनय को अन्तर तप कहा है। स्वयं को दूसरे से तोड़ लेना ही विनय है। मैं ही अपना नर्क हूँ, मैं ही अपना स्वर्ग और मैं ही अपनी मुक्ति हूँ। मेरे अतिरिक्त कोई निर्णायक नहीं है मेरे लिए। ऐसे भाव के जगते ही एक विनम्रता का भाव पैदा होता है। महावीर यह भी नहीं कहते कि गुरुजनों को, अपने बड़ों को, माता-पिता को आदर न दो। मैं भी नहीं कहता कि उन्हें आदर न दो।

बराबर दो। यही समाज का खेल है। साधुओं को आदर दो। खेल जारी रखो। उसमें कुछ नुकसान नहीं हो रहा है किसी का। लेकिन उसे विनय न समझ लो।

(३) वैयावृत्य का अर्थ होता है—सेवा। शायद पृथ्वी पर अकेले ईसाइयत ने धर्म में सेवा को प्रार्थना और साधना के रूप में विकसित किया। लेकिन वैयावृत्य का अर्थ वह नहीं है जो ईसाइयों की सेवा का है। महावीर के अनुयायी भी समझते रहे हैं कि वैयावृत्य का अर्थ है वृद्ध या रुग्ण साधुओं की सेवा। ऐसा अर्थ लगाने का एक कारण है। साधु असाधु की सेवा करने की बात सोच ही नहीं सकता। जो साधु नहीं हैं वे ही साधु की सेवा करने आते हैं। ईसाइयत द्वारा दिया गया अर्थ भी ठीक नहीं है। भारत में विवेकानन्द से लेकर गांधी तक जो भी सेवा-कार्य किया है, वह ईसाइयत की सेवा है।

पंडित बेचरदास दोशी ने महावीर वाणी में पारिभाषिक शब्दों के जो अर्थ दिए हैं उनमें वैयावृत्य का वही अर्थ बताया है जो ईसाइयत का है। उन्होंने कहा है कि वैयावृत्य का अर्थ है बाल, वृद्ध, रोगी आदि अपने समान धर्मियों की सेवा। ईसाई भी सेवा का यही अर्थ बताते हैं। असल में ईसाइयत अकेला धर्म है जिसने सेवा को केन्द्रीय स्थान दिया है। विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन को जो गति दी, वह ठीक ईसाई मिशनरी की नकल थी। वस्तुतः विवेकानन्द से लेकर गांधी या विनोबा तक जिन लोगों ने भारत में सेवा का विचार किया है वे सब ईसाइयत से प्रभावित हैं। ईसाइयत की सेवा की जो धारणा है वह भविष्योन्मुख है, 'फ्यूचर ओरिएण्टेड' है। ईसाइयत मानती है कि सेवा के द्वारा ही परमात्मा को पाया जा सकता है सेवा के द्वारा ही मुक्ति होती है। सेवा एक साधन है साध्य मुक्ति है। ऐसी सेवा में प्रयोजन छिपा है। वह कुछ पाने के लिए है। वह पाना बुरा भी हो सकता है अच्छा भी हो सकता है नैतिक हो सकता है अनैतिक हो सकता है। किन्तु एक बात निश्चित है कि ऐसी सेवा की धारणा वासना प्रेरित है। इसलिए ईसाई प्रचारक एक पैशन, एक तीव्र वासना से भरा हुआ होता है। उसने सारी वासना को सेवा बना दिया है और यही कारण है कि उसके सामने दुनिया के अन्य धर्मों के प्रचारक टिक नहीं सकते।

भारतीय धर्म ईसाइयत की नकल भले ही करें, परन्तु वे ईसाइयत की धारणा का नहीं पकड़ सकते। इसका कारण यह है कि भारतीय मन का खयाल है कि जिस सेवा में प्रयोजन है वह सेवा ही नहीं रही। महावीर भी यही कहते हैं। सेवा होनी चाहिये निष्प्रयोजन। उनके अनुसार सेवा अतीतोन्मुख हो 'पास्ट ओरिएण्टेड' हो भविष्य के लिए न हो। महावीर कहते हैं कि अतीत में हमने जो कर्म किए हैं, उनके विसर्जन के लिए सेवा है। इससे और कोई प्रयोजन नहीं है आगे। इससे कुछ मिलेगा नहीं बल्कि जो कुछ गलत इकट्ठा हो गया है उसकी निर्जरा होगी उसका विसर्जन होगा।

यह दृष्टि वहुत उलटी है। महावीर कहते हैं कि अगर सेवा करने मे थोडी-सी भी वामना है, इतना भी मजा आ रहा है कि मैं कोई विशेप कार्य कर रहा हूँ, तो फिर मै नए कर्मो का सग्रह करता हूँ। फिर सेवा भी पाप वन जाएगी, क्योकि वह भी कर्म-वन्वन लाएगी।

महावीर की दृष्टि मे अगर पुण्य भी भविष्योन्मुख है तो वह पाप वन जाता है। यह वडा मुश्किल होगा समझना। पुण्य भविष्योन्मुख होने से पाप वन जाता है, क्योकि वह भी वन्धन वन जाता है। महावीर कहते है कि पुण्य भी पिछले किए गए पापो का विसर्जन है। यदि मैने आपको एक चाँटा मार दिया है तो मुझे आपके पैर दवा देने पडेगे। इससे वह जो जागतिक गणित है, उसमे सन्तुलन हो जाएगा। ऐसा नही कि पैर दवाने से मुझे कुछ नया मिलेगा, वल्कि सिर्फ पुराना कट जाएगा। और जव मेरे सव पुराने कर्म कट जाएँगे तव मै शून्यवत हो जाऊँगा—मेरे खाते मे दोनो तरफ आँकडे वरावर हो जाएँगे। महावीर कहते है कि यही शून्यावस्था मुक्ति कहलाती है। मोक्ष तो तव तक नही हो सकता जव तक धन या ऋण कोई भी ज्यादा है। मुक्ति का अर्थ ही यही है कि अव मुझे न कुछ लेना है और न कुछ देना। इसको महावीर ने निर्जरा कहा है।

निर्जरा के सूत्रो मे वैयावृत्य वहुत कीमती है। महावीर नही कहते हैं कि दया करके सेवा करो, क्योकि दया ही वन्धन वनेगा। कुछ भी किया हुआ वन्धन वनता है। महावीर कहते है कि खुला रखो अपने को, कही कोई सेवा का अवसर हो और सेवा की भावना भीतर उठती हो तो रोको मत, सेवा हो जाने दो और चुपचाप विदा हो जाओ। पता भी न चले किसी को कि तुमने सेवा की। तुमको भी पता न चले कि तुमने सेवा की। यह वैयावृत्य है। वैयावृत्य का अर्थ है—उत्तम सेवा, साधारण सेवा नही। अगर किसी की सेवा करने मे रस लिया तो फिर सम्वन्ध निर्मित होगे और यह भी समझ लेना चाहिए कि रस लेकर सेवा करना एक तरह का शोषण है महावीर की दृष्टि मे। अगर कोई दुखी है, पीडित है और मै उसकी सेवा करके स्वर्ग जाने की चेष्टा कर रहा हूँ तो मै उसके दुख का शोपण कर रहा हूँ, मै उसके दुख को स्वर्गजाने का साधना वना रहा हूँ। अगर वह दुखी न होता तो मै स्वर्ग न जाता। जव धनपति धन चूसता है तव आप उससे कहते है कि वह दूसरो के दुख पर सुख इकट्ठा कर रहा है। लेकिन जव एक पुण्यात्मा दीन-दुखियो की सेवा करके अपना स्वर्ग खोज रहा है तव आपको खयाल नही आता कि वह भी किसी गहरे अर्थ मे शोपण कर रहा है।

महावीर कहते है कि सेवा से मिलेगा कुछ भी नही, केवल कुछ कटेगा, कुछ छूटेगा, कुछ हटेगा। महावीर की दृष्टि मे सेवा मेडिशनल है, दवाई की तरह है। दवा से कुछ मिलेगा नही, सिर्फ वीमारी कटेगी। ईसाइयत की सेवा टॉनिक की तरह है,

उससे कुछ मिलेगा। उसका भविष्य है। महावीर की सेवा मेडिसिन की तरह है। उससे बीमारी कटेगी, कुछ मिलेगा नहीं। वे कहते हैं कि अगर कोई सेवा करता है तो वह इसलिए करता है कि उसके किसी पाप का प्रक्षालन होना है। अगर नहीं है पाप का प्रक्षालन, तो बात समाप्त हो गई—तो कोई मेरी सेवा नहीं कर रहा है। इसलिए आप जब भी सेवा कर रहे हों तब ध्यान रखें कि वह भविष्योन्मुख न हो। तभी आप अंतर्तप कर सकते हैं। जब आप सेवा कर रहे हों तो वह निष्प्रयोजन हो, अन्यथा आपकी सेवा अन्तर्तप न होगी। वैयावृत्य अंतर्तप इसी कारण है कि इसका करना कठिन है। वह सेवा सरल है जिसमें कोई रस आ रहा हो। वह सेवा वैयावृत्य नहीं है जिससे सेवा करनेवाले के मन में किसी तरह के गौरव की भावना का उन्मीलन हो।

(४) महावीर ने वैयावृत्य के बाद ही जो तप कहा है वह है स्वाध्याय। वैयावृत्य के सम्यक् प्रयोग के बाद स्वाध्याय में—इस चौथे तप में—उतरना अत्यंत सरल है। लेकिन स्वाध्याय का अर्थ शास्त्र का अध्ययन या पठन मनन नहीं है। महावीर इसकी जगह 'अध्ययन' शब्द का प्रयोग कर सकते थे, लेकिन उन्होंने स्वाध्याय का ही प्रयोग किया। अध्ययन में 'स्व' जोड़ने की क्या आवश्यकता थी? अध्ययन काफी था। वस्तुतः स्वाध्याय का अर्थ होता है स्वयं का अध्ययन, शास्त्र का अध्ययन नहीं। लेकिन साधु शास्त्र खोले बैठे हैं। उनसे पूछिए सुबह से क्या कर रहे हैं? वे कहेंगे स्वाध्याय कर रहा हूँ। शास्त्र, निश्चित ही, किसी और का होगा। 'स्व' का शास्त्र नहीं बन सकता और अगर खुद के ही शास्त्र पढ़ रहे हैं तो बिल्कुल बेकार पढ़ रहे हैं।

स्वाध्याय का अर्थ है—स्वयं का अध्ययन। यह बड़ा कठिन है (इसीलिए इसे अंतर्तप कहा है) जब कि शास्त्र पढ़ना बड़ा सरल है। आप बहुत जटिल हैं, उलझनों से भरे हैं, ग्रंथियों के जाल हैं, एक पूरी दुनिया हैं। हजार तरह के उपद्रव हैं वहाँ। उन सबके अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। अगर आप अपने क्रोध का अध्ययन कर रहे हैं तो भी स्वाध्याय कर रहे हैं। लेकिन अगर आप क्रोध के सम्बन्ध में शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं तो यह स्वाध्याय नहीं है। जो भी किसी शास्त्र में लिखा है वह सब आपके भीतर मौजूद है। इस जगत में जितना भी जाना गया है वह प्रत्येक आदमी के भीतर वर्तमान है। आदमी स्वयं एक शास्त्र है, परम शास्त्र, अल्टीमेट स्क्रिप्चर। इस बात को समझें तो महावीर का स्वाध्याय समझ में आ जाएगा।

मनुष्य परम शास्त्र है, क्योंकि जो भी जाना गया है वह मनुष्य ने ही जाना है और जो भी जाना जायगा वह मनुष्य ही जानेगा। इसलिए महावीर ने कहा है कि एक को—स्वयं को—जान लेने में सबको जान लिया जाता है। स्वाध्याय का अर्थ

है—स्वय मे उतरो और स्वयं का अध्ययन करो। पूरा जगत्—आत्मा का जगत्—पूरा भीतर है। उसे जानने चलो। लेकिन इसके लिए रुख वदलना पड़ेगा। वस्तु के अध्ययन को छोडो, अध्ययन करनेवाले का अध्ययन करो। शास्त्र मे जो मिलता हे, वह सत्य नही हो सकता। स्वय से जो मिलता है, वही सत्य होता है। वह स्वय से मिला सत्य शास्त्र मे लिखा जाता है, लेकिन शास्त्र से जो मिलता है, वह स्वय का नही होता। शास्त्र कोई और लिखता है। वह किसी और की खवर है जो आकाश मे उड़ा है, जिसने प्रकाश के दर्शन किए हैं, जिसने सागर मे डुवकी लगाई है।

इसका मतलव यह नही कि महावीर शास्त्रो के अध्ययन को इनकार करते हैं। वे केवल इतना ही कहते है कि ऐसा अध्ययन स्वाध्याय नही है। यदि यह वात खयाल मे रखी जाय तो शास्त्राध्ययन भी उपयोगी हो सकता है। हाँ, उपयोगी हो सकता है अगर यह खयाल मे रहे कि शास्त्र का सागर सागर नही है, उसका प्रकाश प्रकाश नही है। यह भी स्मरण रहे कि शब्दो मे कहते ही सत्य खो जाता है, केवल छाया रह जाती है। यह सव स्मरण रहे तो शास्त्र को फेककर किसी दिन सागर मे छलॉग लगाने का मन हो जाएगा। इसलिए कई वार अज्ञानी कूद जाते हैं परमात्मा मे और ज्ञानी वचित रह जाते है।

जव हम अपने को भूलते है तभी स्वाध्याय वन्द होता है। इसका आरम्भ तव होता है जव हम अपने को स्मरण करते है। महावीर कहते है कि, जव तुम मौजूद होते हो तो वह जो गलत है, कभी नही घटता। स्वाध्याय मे गलत कभी घटता ही नही। अगर शराव पीते वक्त भी तुम मौजूद रहो तो हाथ से गिलास छुटकर गिर जाएगा, तव शराव पीना असम्भव हो जाएगा, कारण कि जहर सिर्फ वेहोशी मे ही पिया जा सकता है। जव मैं आपसे कहता हूँ कि क्रोध करते वक्त मौजूद रहें तो मैं यह नही कहता कि आप क्रोध करे और मौजूद रहे, वस, शर्त इतनी है कि मौजूद रहे और क्रोध करे, फिर कोई हर्ज नही। मैं आपसे यह कह रहा हूँ कि आप क्रोध करते वक्त अगर मौजूद रहे तो इन दो मे से एक ही हो सकता है—चाहे तो क्रोध होगा या फिर आप होंगे। जव क्रोध करते वक्त आप मौजूद होंगे तो क्रोध खो जाएगा, आप होंगे, क्योकि आपकी मोजूदगी मे क्रोध-जैसी रद्दी चीजे नही आ सकती। जव घर का मालिक जगा हो तो चोर प्रवेश नही करते। जव आप जगे हो तव क्रोध घुस जाए, यह हिम्मत भला क्रोध कैसे कर सकता है!

महावीर कहते है कि रोशनी कर लो और निकल जाओ, क्योकि अँधेरे मे मोक्ष भी खोजोगे तो टकराओगे। परमात्मा को भी खोजोगे तो टकराओगे। अँधेरे मे कुछ भी करोगे, टकराओगे। हमारा सारा ध्यान वाहर की तरफ है, इसलिए भीतर अँधेरा है। ध्यान वस्तुओ की तरफ है। स्वाध्याय करनेवाला इस रोशनी को भीतर की तरफ मोडता और भीतर की तरफ देखना शुरू करता है। जव उसे कोई गाली

देना है तब वह गाली पर ध्यान नहीं देता, वह अपने क्रोध पर ध्यान देता है। जब कोई सुंदर स्त्री रास्ते पर दिखाई पड़ती है तब वह उस स्त्री से ध्यान हटाकर अपने भीतर जाता है और देखता है कि काम वासना किस तरह भीतर उठ रही है। अगर आपको गाली दी जाय तो आपके भीतर क्या-क्या होगा, आप उसे देखें। आप उसकी क्या क्या व्यवस्था करते हैं? आपके भीतर क्रोध कैसे उठता है? आप गाली देने वाले से क्या प्रतिकार लेना चाहते हैं? हत्या करना चाहते हैं, गाली देना चाहते हैं, ... चाहते हैं? क्या करना चाहते हैं? इन सभी बातों पर ध्यान दे जाएँ और तब आप पाएँगे कि आपने स्वाध्याय किया है। इस स्वाध्याय से आप ज्ञानी बनकर बाहर लौटेंगे। आपको अपने सम्बन्ध में जानकारी बढ़ जाएगी। आपको यह भी पता चल जाएगा कि महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि किसी ने गाली दी, महत्त्वपूर्ण यह है कि मैंने क्या अनुभव किया। और मजा यह कि आप उस गाली का उत्तर देने तक शायद न जाएंगे, क्योंकि आप बदल गए होंगे। इस ज्ञान से, इस स्वाध्याय से आप वही आदमी नहीं रह गए जिसे गाली दी गई थी।

(५) ग्यारहवाँ तप या पाँचवाँ अंतर तप है ध्यान। जो दस तपों से गुजरते हैं, उन्हें ध्यान को समझना कठिन नहीं होता। ध्यान को तो करके ही समझा जा सकता है। वह प्रेम जैसा है या तैरने जैसा। उसे जो करता है वही जानता है। प्रेम एक स्वाद है, एक अनुभव, एक अस्तित्वगत प्रतीति। तैरना भी एक सत्तागत प्रतीति है। दूसरे व्यक्ति को तैरते हुए देखकर भी आप नहीं जान सकते कि यह अनुभव कैसा होता है। दूसरे को प्रेम में डूबा हुआ देखकर भी आप नहीं जान सकते कि प्रेम उसे किन सीमाओं के पार ले जाता है। ध्यान में खड़े महावीर को देखकर आप नहीं जान सकते कि ध्यान क्या है। ध्यान के सम्बन्ध में स्वयं महावीर कुछ भी कहें तो भी ठीक से समझा नहीं पाते कि ध्यान क्या है। ठीक ध्यान की बात तो बहुत दूर है गलत ध्यान का भी हम बोध स्वाद नहीं है जिसके आधार पर समझाया जा सके कि ठीक क्या है।

महावीर इस पृथ्वी पर अकेले आदमी हैं जिन्होंने गलत ध्यान की भी चर्चा की। और ध्यान की चर्चा तो बहुत लोगों ने की है। यह बड़ी विशिष्ट बात है कि महावीर के अनुसार तीव्र क्रोध में ... जाना भी एक तरह का गलत ध्यान में आ जाना है। ... हम तीव्र क्रोध में ... नहीं आते बल्कि कुनकुने जीते हैं कभी उबलती हालत ... आते। अगर आप इतने गहरे क्रोध में आ जाएँ कि चीजों की सारी ... छोड़ के ... लगे चीजें और ... की सारी किरणें ... पर ... आ जाएगा 'हिंसात्मक ... ध्यान' का अनुभव हो जाएगा। जितना ध्यान मजा का ... है, उतना ही मजा का ... पर ... जाए तो ठीक ध्यान हो जाए। ... ओर ... पर मग्न हो जाए। फिर

के वल खडे हुए ध्यान मे कोई गति नही हो सकती । सिर के वल कोई चलेगा कैसे ? यात्रा करनी हो तो पैर के वल होगी। चेतना जव पैर के वल खडी होती है तव अपनी ओर उन्मुख होती है, तव गति करती है। ध्यान 'डायनेमिक फोर्स' है, गत्यात्मक शक्ति है। उसे सिर के वल खडे करने का मतलव है उसकी हत्या कर देना। इसलिए जो लोग गलत ध्यान करते हैं, वे आत्मघात मे लगते है, रुक जाते है। मजनू ठहरा हुआ है लैला पर, बुरी तरह ठहरा हुआ है उस पर, मानो तालाव वन गया हो। वह अव ऐसी सरिता नही रहा जो सागर तक पहुँच पाए। इसलिए उसे लैला कभी नही मिल सकती।

गलत ध्यान के सम्वन्ध मे यह न भूले कि जिस पर आप ध्यान लगाते हैं, उसकी उपलब्धि कभी नही होती। 'पर' पर केन्द्रित चेतना कुछ भी उपलब्ध नही कर पाती, क्योकि दूसरे को पाने का कोई उपाय ही नही है। इस अस्तित्व मे सिर्फ एक ही चीज पाई जा सकती है, और वह है मोक्ष । वह मैं स्वय हूँ। उसको ही मैं पा सकता हूँ। शेप सारी चीजो को मैं पाने की कितनी ही कोशिश करूँ, वह सारी कोशिश असफल होगी। जो मेरा स्वभाव है वही केवल मेरा हो सकता है। इसलिए गलत ध्यान नर्क मे ले जाता है।

गलत ध्यान का अभाव ध्यान को शुरुआत है। गलत ध्यान का अर्थ है—अपने से वाहर किसी भी चीज पर एकाग्र हो जाना। दूसरे की ओर वहती हुई चेतना गलत ध्यान है। इसलिए महावीर ने परमात्म की तरफ वहती हुई चेतना को भी गलत ध्यान कहा है। परमात्मा को आप दूसरे की तरह ही सोच सकते हैं और अगर स्वय की तरह सोचेगे तो वडे साहस की जरूरत होगी। अगर आप यह सोचेगे कि मैं परमात्मा हूँ तो वड़ा साहस चाहिए। न तो आप ही ऐसा सोच पाएँगे और न आपके आसपास के लोग यह सोचने देगे कि आप परमात्मा है। जव कोई सोचेगा कि मैं परमात्मा हूँ तो उसे परमात्मा की तरह जीना पडेगा, क्योकि सोचना खडा नही हो सकता जब तक आप जिये नही। सोचने मे खून नही आएगा जव तक आप जियेंगे नही। अगर परमात्मा की तरह जीना हो, तव तो ध्यान की कोई ज़रूरत ही नही रह जाती। इसलिए महावीर कहते हैं कि परमात्मा को आप सदा दूसरे की तरह सोचेंगे। यही कारण है कि परमात्मा को मान कर शुरू होनेवाले धर्मो मे ध्यान विकसित नही होता, प्रार्थना विकसित होती है।

प्रार्थना और ध्यान के मार्ग विलकुल भिन्न-भिन्न हैं। प्रार्थना का अर्थ है दूसरे के प्रति निवेदन। ध्यान मे कोई निवेदन नही है। प्रार्थना का अर्थ है दूसरे की सहायता की माँग। ध्यान मे सहायता की माँग नही है, क्योकि महावीर कहते है दूसरे से जो मिलेगा वह मेरा नही हो सकता। पहले तो वह मिलेगा ही नही, लेकिन मैं मान लूँ कि वह मिल गया। तव तो स्पष्ट है कि दूसरे से मिला हुआ 'माना हुआ'

मिला हुआ है। वह आज नहीं कल छूटेगा, दुख लाएगा, पीडा होगी। इसलिए महावीर कहते हैं कि अगर पीडा के बिल्कुल पार हो जाना है तो दूसरे से ही छूट जाना पड़ेगा। दूसरे के साथ जो भी सम्बन्ध है वह टूट सकता है। परमात्मा के साथ भी सम्बन्ध टूट सकता है। महावीर कहते हैं कि जो बन सकता है वह बिगड सकता है, इसलिए बनाने की कोशिश ही मत करो।

महावीर कहते हैं कि ईश्वर हो या न हो इससे धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि दूसरे का जब भी मैं ध्यान में लाता हूँ तो गलत ध्यान हो जाता है। निश्चित ही ईश्वरवादियों को महावीर गहन नास्तिक मालूम पड़े नास्तिकों से भी ज्यादा। इसलिए तथाकथित आस्तिकों ने चार्वाक से भी ज्यादा निंदा महावीर की है।

महावीर मूर्च्छा विरोधी थे। इसलिए उन्होंने ऐसी किसी भी पद्धति की सलाह नहीं दी जिससे मूर्च्छा आने की जरा भी सम्भावना हो। यह महावीर की और भारत की दूसरी पद्धतियों का भेद है। भारत में ध्यान की दो ही पद्धतियाँ रही हैं। कहना चाहिए कि सारे जगत में ध्यान की दो ही पद्धतियाँ रही हैं। एक पद्धति को हम ब्राह्मण-पद्धति कह सकते हैं और दूसरी को श्रवण पद्धति। महावीर की पद्धति श्रवण पद्धति है। जहाँ ब्राह्मण पद्धति विश्राम की पद्धति है वहीं श्रवण पद्धति—महावीर की पद्धति—श्रम की पद्धति है। चूँकि विश्राम और नींद का गहरा अंतःसम्बन्ध है, इसलिए महावीर ने विश्रामवाली पद्धति का उपयोग नहीं किया। वे कहते हैं कि श्रमपूर्वक ध्यान में जाना है, विश्रामपूर्वक नहीं। विश्रामवाली ब्राह्मण पद्धति के प्रस्तोता कहते हैं—हाथ पाँव ढीले छोड दो, सुस्त हो जाओ, शिथिल हो जाओ ऐसे हो जाओ जैसे मुर्दा हो गए। श्रवण-पद्धति कहती है कि जितना तनाव पैदा कर सकते हो उतना ही अच्छा है। अपने को इतना खींचो इतना खींचो जैसे कि कोई वीणा के तार को खींचता चला जाए और टंकार पर छोड दे—अपने को तीव्रतम स्वर तक खींच दो। निश्चित ही एक सीमा आती है जब अत्यधिक तनाव के कारण सितार का तार टूट जाता है। लेकिन चेतना के टूटने का प्रश्न नहीं उठता वह कभी टूटती ही नहीं। इसलिए—महावीर कहते हैं—खींचते चले जाओ, चेतना को अपनी अति पर पहुँचा दो। तब अनजाने तुम्हारी चेतना विश्राम को उपलब्ध हो जाएगी। यह विश्राम बहुत अनूठा होगा। ऐसा विश्राम कभी नींद में नहीं ले जा सकता। वह सीधा विश्राम में ले जाता है।

ठीक ध्यान के लिए कुछ प्रारम्भिक बातें स्मरणीय हैं। उनके बिना इस ध्यान में नहीं उतरा जा सकता। एक तो उपरिलिखित दस तप अनिवार्य हैं उनके बिना इस प्रयोग को नहीं किया जा सकता। उन दस सूत्रों के प्रयोग से आपके व्यक्तित्व में वह ऊर्जा और शक्ति आ जाती है जिनसे आप चरम तक अपने को तनाव में ले जाते हैं। इतनी सामर्थ्य और क्षमता आ जाती है कि आप विक्षिप्त नहीं हो सकते। अन्यथा

अगर कोई महावीर के ध्यान को सीधा शुरू करे तो वह विक्षिप्त हो सकता है। इसलिए भूलकर भी इस प्रयोग को सीधे न करे। पहले के दस हिस्से अनिवार्य हैं।

पूरे मुल्क मे घूमकर मैने देखा है कि जैन साधुओ मे एक आदमी भी नही है जो महावीर के ध्यान को समझ सका हो, करने की बात तो दूर है। वे नित्य प्रवचन करते है, लेकिन मैं यह देखकर चकित हुआ कि उनके गणी, प्रमुख और आचार्य एकान्त मे मुझसे पूछते है कि ध्यान कैसे करें ? तब उन बेचारे साधुओ को क्या करवाया जा रहा होगा जबकि उनका गुरु ही पूछता है कि ध्यान कैसे करें ? उनमे इतना साहस नही कि वे चार लोगो के सामने यह प्रश्न करे।

पश्चिम के एक बहुत विचारशील वैज्ञानिक 'रान हुब्बार्ड' ने ध्यान की प्राथमिक प्रक्रिया मे प्रवेश के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया है। ये तीनो शब्द महावीर के हैं, यद्यपि हुब्बार्ड को महावीर के शब्दो का कोई पता नहीं है। उनके तीन शब्द हैं—रिमेम्बरिंग, रिटर्निंग, और रि-लिविंग। महावीर ने इनके लिए स्मृति, प्रतिक्रमण और जाति-स्मरण (पुन जीना, उसको जो जिया जा चुका है) का प्रयोग किया है। महावीर के ध्यान मे अगर उतरना हो तो जब रात सोने लगें और नींद करीब आने लगे तो उस दिन के पूरे जीवन को 'रि-लिव' कर लें। जीवन की घटनाओ का स्मरण ही न करे, बल्कि उन्हे इस तरह देखें मानो आपने उन्हें फिर से भोग लिया है। मृत्यु के क्षण मे——आकस्मिक मृत्यु के क्षण में—जब बचने का कोई उपाय नही रह जाता, तब ऐसी घटना घटती है। पहले स्मृति से शुरू करें। सुबह से लेकर शाम तक की घटनाओ का स्मरण करे। एक महीने के गहरे प्रयोग से आपको पता चलेगा कि स्मृति धीरे-धीरे प्रतिक्रमण बन गई। अब पूरी स्थिति याद आने लगी। प्रतिक्रमण पर तीन महीने और प्रयोग करे। तब आप पाएँगे कि अब प्रतिक्रमण पुनर्जीवन बन गया—अब आप 'रि-लिव' करने लगे। कोई नौ महीने के प्रयोग के बाद आप पाएँगे कि सुबह से लेकर शाम तक की घटनाओ को आप फिर से जी सकते हैं, दुबारा। मजे की बात यह है कि जिस जीवन को आप फिर से जियेंगे वह दिन के जीवन की तुलना मे ज्यादा होगा, क्योकि दिन मे और भी पच्चीस उलझाव थे। हुब्बार्ड कहता है कि यह ट्रैक पर वापस लौटना है और फिर से यात्रा करनी है उलटी दिशा मे।

अगर महावीर के ध्यान मे, सामायिक मे प्रवेश करना हो तो कोई नौ महीने का समय—तीन-तीन महीने एक-एक प्रयोग पर—बिताना जरूरी है। आप स्मरण करना शुरू करे, पूरी तरह स्मरण करे कि सुबह से शाम तक क्या हुआ, फिर प्रतिक्रमण करें। पूरी स्थिति को याद करें कि किस-किस घटना मे कौन-कौन सी पूरी स्थिति थी। आप बहुत हैरान होंगे और आपकी संवेदनशीलता बहुत बढ जाएगी।

दूसरे दिन आपके जीने का रस भी बहुत बढ़ जाएगा। दूसरे दिन धीरे धीरे आप बहुत-सी चीजों के प्रति जागरूक हो जाएंगे, जिनके प्रति आप कभी भी जागरूक न थे। अगर आप प्रतिक्रमण की पूरी यात्रा करते हैं तो आपके जीवन में सौंदर्य और रस के अनुभव का एक नया आयाम खुलना शुरू हो जाएगा। पूरी घटना आप जी सकने में समर्थ होंगे। और जब भी पूरी घटना को जी लिया जाता है तब आप उस घटना को दुबारा जीने की आकांक्षा से मुक्त होने लगते हैं। अगर कोई व्यक्ति एक बार भी किसी घटना को पूर्णतया भोगकर निकल जाता है तो उसकी इच्छा उसे दुहराने की नहीं होती। इस प्रकार प्रतिक्रमण भविष्य और अतीत, दोनों से छुटकारे की विधि है। इस प्रतिक्रमण को इतना गहरा करते जाएं कि एक घड़ी ऐसी आ जाए जब आप याद न करें, केवल घटनाओं को रि-लिव करें, उन्हें पुनरुज्जीवित करें, उन्हें फिर से जियें। आप यह पाकर हैरान होंगे कि वे घटनाएं फिर से जियी जा सकती हैं।

जिस दिन आप दिन की घटनाओं को फिर से जीने में समर्थ हो जाएंगे उस दिन रात में सपनों का आना बंद हो जाएगा, क्योंकि सपने में आप उन्हीं घटनाओं को फिर से जीने की कोशिश करते हैं, और कुछ नहीं करते। अगर आपने रात सोने से पहले होशपूर्वक पूरे दिन को पूरा जी लिया है तो आपने उससे निपटारा कर लिया है अब वह अध्याय समाप्त हो गया है। अब कुछ न तो याद करने की जरूरत रही और न पुनः जीने की जरूरत। ध्यान का अभाव ही विक्षिप्तता है। ध्यान को उपलब्ध व्यक्ति के सपने शून्य हो जाते हैं। जब रात स्वप्न समाप्त हो जाते हैं, तब आप सुबह ऐसे उठते हैं जैसे सूरज जगा है। उस जागी हुई चेतना में विचार आपके गुलाम हो जाते हैं मालिक नहीं होते। महावीर कहते हैं कि जब तक विचार मालिक है तब तक ध्यान कैसे हो पाएगा? विचार की मालकियत आपकी होनी चाहिए तभी ध्यान हो सकता है।

दूसरा प्रयोग सुबह जागने के समय करें। जैसे ही जागें वैसे ही पहले विचार की प्रतीक्षा करें। जब पहला विचार आए उसे तत्काल पकड़ें देखें कि वह कब आता है। धीरे धीरे आप हैरान होंगे कि आप उसे पकड़ने की जितनी ही कोशिश करते हैं वह उतनी ही देर से आता है। कभी घंटा लग जाएंगे और पहला विचार नहीं आएगा। विचार रहित यह एक घंटा आपकी चेतना को शीर्षासन से हटाकर सीधा खड़ा करने में सहभागी बनेगा। आप पैर के बल खड़े हो सकेंगे। घंटा भर तो बहुत दूर की बात है, अगर एक मिनट के लिए भी कोई विचार न आए तो आपको अनुभव होना शुरू हो जाएगा कि विचार नर्क है और निर्विचार होना स्वर्ग में होना है। जिस दिन कोई व्यक्ति निर्विचार हो जाता है उस दिन उसका ध्यान चेतना पर जाता है और एक बार चेतना पर ध्यान चला जाए तो फिर चेतना का विस्मरण नहीं

होता। चाहे आप कुछ भी करते रहें—दुकान मे हो, बाजार मे काम कर रहे हों, कही भी हो—चेतना की स्पष्ट प्रतीति बनी रहती है। तब शरीर को कोई दुख नही होता, क्योकि आप शरीर नही रहे। जब महावीर के कान मे कीले ठोकी जा रही थी तब वे शरीर को नही देख रहे थे, वे अपनी चेतना को देख रहे थे। जब ध्यान चेतना पर होता है तब कीले ठोकी भी जाती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी और ही शरीर मे ठोकी जा रही है।

महावीर ने पृथकत्व या साक्षी भाव का प्रयोग किया है। इसके लिए उनका शब्द है 'भेद विज्ञान' अर्थात् चीजो को अपने-अपने हिस्सो मे तोडकर देखने का विज्ञान। भोजन वहाँ है, शरीर यहाँ है, मैं दोनो के पार हूँ—इतना भेद स्पष्ट हो जाए तो साक्षी भाव हो जाता है।

तो तीन बाते स्मरण रखे रात नींद के समय—स्मरण, प्रतिक्रमण और पुनर्जीवन, सुबह पहले विचार की प्रतीक्षा, ताकि अन्तराल दिखाई पडे और अन्तराल मे सारा गेस्टाल्ट बदल जाए (धूलकण नही दिखाई पडें, प्रकाश की धारा स्मरण मे आ जाए), और पूरे समय, चौबीसो घटे, चेतना पर ध्यान, यह होश कि न तो मैं भोजन हूँ और न भोजन करनेवाला हूँ। मैं दोनो से अलग हूँ, मैं त्रिभुज के तीसरे कोण पर हूँ। इस तीसरे कोण पर चौबीसो घटे रहने की कोशिश साक्षी भाव है।

(६) महावीर के साधना-सूत्रो मे बारहवाँ और अन्तिम तप है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग का मतलब काया को सताना नही है। हाथ-पांव काट-काटकर चढाते जाना कायोत्सर्ग नही है। कायोत्सर्ग तब होता है जब ध्यान परिपूर्ण शिखर पर पहुँच जाता है और गेस्टाल्ट बदल जाता है, काया का उत्सर्ग हो जाता है। उसका कहीं कोई पता नही रह जाता। निर्वाण या मोक्ष क्या है? ससार का खो जाना है। ठीक इसी तरह आत्मानुभव काया का खो जाना है। आप कहेगे, महावीर तो चालीस वर्ष जिए; ध्यान के अनुभव के बाद भी उनकी काया सुरक्षित थी। असल मे वह आपको दिखाई पडती है, लेकिन महावीर के लिए अब कोई काया न थी, कोई शरीर न था। उनका कायोत्सर्ग हो गया था, यद्यपि यह घटना हमे दिखाई नही पडती।

परम्परा कायोत्सर्ग का कुछ और ही अर्थ करती रही है। उसके अनुसार कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया पर आने वाले दुखो को सहज भाव से सहना। कायोत्सर्ग का यह असली अर्थ नही है। परम्परा जिसे कायोत्सर्ग कहती है वह तो बाह्य तप है। कायोत्सर्ग का अर्थ है काया को चढा देने की तैयारी, काया को छोड देने या उससे दूर हो जाने की तैयारी, यह जान लेने की तैयारी कि मैं काया से भिन्न हूँ, ऐसा हो जाने की तैयारी कि काया मरती भी हो तो मैं देखता रहूँगा। जहाँ हम खडे है, वहाँ मालूम पडता है कि शरीर मेरा है और मैं शरीर हूँ। हमे कभी कोई एहसास नही होता कि शरीर से अलग भी हमारा कोई होना होता है। इसलिए जब शरीर पर कष्ट आते

है तब मुझे पीड़ा होती है, शरीर को भूख लगती है तब मुझे भी भूख लगती है, शरीर को थकान होती है तो मैं थक जाता हूँ। शरीर और मेरे बीच में तादात्म्य है, हम जुड़े हैं, संयुक्त हैं। हम यह भूल ही गए हैं कि हम शरीर नहीं, चेतना हैं, आत्मा हैं। कायोत्सर्ग का अर्थ भी अब केवल इतना ही रह गया है कि अपनी काया पर कष्ट <u>आए तो उसे सह लेना। यह काया अपनी है, यह बात नहीं छूटती।</u>

महावीर का यह मतलब नहीं है कि काया का उत्सर्ग कर देना, क्योंकि जो अपनी नहीं है उसे तुम उत्सर्ग करोगे ही कैसे? अपने को उत्सर्ग किया जा सकता है, लेकिन जो मेरा नहीं है, उसे मैं उत्सर्ग करूँगा ही कैसे? महावीर कहते <u>हैं—काया तुम्हारी नहीं है यह जानना कायोत्सर्ग है।</u> मैं काया छोड़ दूँगा, ऐसा भाव कायोत्सर्ग नहीं है क्योंकि तब तो इस उत्सर्ग में भी ममत्व की धारणा मौजूद है। आत्महत्या करने वाला भी काया को मिटा डालता है लेकिन उसका त्याग कायोत्सर्ग नहीं है। शहीदों का सूली पर चढ़ना भी कायोत्सर्ग नहीं है, क्योंकि वह मानता है कि शरीर मेरा है। एक तपस्वी अपने शरीर को नहीं सताता, अपने शरीर को ही सता लेता है। लेकिन वह भी मानता है कि शरीर मेरा है। <u>महावीर कहते हैं कि यह जानना कि शरीर मेरा नहीं है, कायोत्सर्ग है।</u> लेकिन यह बोध बहुत कठिन है। इसीलिए आस्तिकों ने एक उपाय निकाला है। वे कहते हैं कि शरीर मेरा नहीं, परमात्मा का है। महावीर के लिए तो वह भी उपाय नहीं है क्योंकि वे परमात्मा को नहीं मानते। तथाकथित आस्तिक बड़े चतुर लोग हैं। वे कहते हैं—शरीर मेरा नहीं है, परमात्मा का है और परमात्मा मेरा है। इस प्रकार घूम फिरकर सब अपना ही हो जाता है। महावीर के लिए परमात्मा भी नहीं है।

वस्तुतः महावीर की धारणा बहुत अद्भुत है। वे कहते हैं कि तुम अपने ही शरीर शरीर का है—वह परमात्मा का नहीं हो सकता। शरीर शरीर का ही है। प्रत्येक वस्तु अपनी है अपने स्वभाव की है, किसी और की नहीं हो सकती। मालकियत झूठ है <u>इस जगत में। परमात्मा की भी मालकियत हो तो झूठ है। इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लें।</u>

और प्रतिपल गौर से देखें। एक क्षण पहले जो साँस आपकी थी वह दूसरे ही क्षण किसी और की हो जाती है। क्षण भर पहले वह आपके पड़ोसी की थी। इस शरीर में—जिसे आप अपना शरीर कहते हैं—मिट्टी के अगणित कण हैं। कभी वे किसी और के शरीर में रहे होंगे। कभी किसी वृक्ष में रहे होंगे, कभी किसी पत्थर में। न मालूम उन्होंने कितनी यात्राएँ की हैं। अगर हम इन कणों से पूछें कि तुम किसके हो तो वे कहेंगे—हम अपने हैं, हम यात्रा करते हैं, तुम स्थान हो जिनसे हम गुजरते हैं। स्थान को कभी ऐसा लगता कि यात्री मेरा है। तब हम शरीर मेरा हो... मानते